संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास
(संक्षिप्त एवं छात्रोपयोगी संस्करण)

॥श्रीः॥

जड़ावकुँवर राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

25

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास

(छात्रोपयोगी संस्करण)

मूल लेखक:

आचार्य श्री युधिष्ठिर मीमांसक

सम्पादक:

रामनाथ त्रिपाठी शास्त्री

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्य-विद्या, आयुर्वेद एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक

दिल्ली–110007 (भारत)

प्रकाशकः

चौखम्भा पब्लिशर्स

गोकुल भवन, के-37/109, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी-221001 (भारत)

शाखाः

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पोस्ट बाक्स नं. 2206

बंग्लो रोड, 9-यू.बी., जवाहर नगर

(कमला नगर के पास)

दिल्ली-110007 (भारत)

फोनः 23851617, 23858790

email: chaukhambhaorientalia@gmail.Com
www. chaukhambhaorientalia.com

संस्करण : 20 20

मूल्य : ₹ 400 /-

मुद्रक : तरुण आफसेट प्रेस, नई दिल्ली-२

॥श्री॥

JADAUKUNWAR RASHTRABHASA SERIES

No. 25

SANSKRIT VYĀKARAṆA ŚĀSTRA KĀ ITIHĀSA

[History of Sanskrit Grammar]

(Student Edition)

Author:
ĀCHĀRYA YUDHIṢṬHIRA MĪMĀṀSAKA

Editor:
RĀMA NĀTHA TRIPĀṬHĪ ŚĀSTRĪ

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Ayurvedic & Indological Books
Delhi (INDIA)

नम्र निवेदन

वैयाकरण-मूर्धन्य आचार्य श्री युधिष्ठिर मीमांसक जी के 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' का यह संक्षिप्त संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। ऐसे विशालकाय एवं उपयोगी ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण तैयार करने में सतत सतर्कता और सावधानी के साथ ऐसा प्रयास किया गया है कि संक्षेप के आग्रह से मूलग्रन्थ के केन्द्रीय महत्त्व को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे और संक्षेप का उद्देश्य भी सिद्ध हो जाय। इसी दृष्टिकोण से ग्रन्थ के पहिले अध्याय में प्रतिपाद्य विषय की स्पष्टता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए संक्षेप के आग्रह को शिथिल कर संयम से काम लिया गया है; क्योंकि 'मीमांसक' जी ने इस अध्याय में संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति, विकास और ह्रास का विशद विवेचन किया है. जिसका परिज्ञान व्याकरण शास्त्र के प्रत्येक अध्येता के लिए अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा वह आधुनिक वैयाकरणों द्वारा कल्पित **'अपाणिनीयत्वाद् अप्रमाणम् अपशब्दो वा, यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'** आदि विविध नियमों में उलझ कर शास्त्रतत्त्व तक कठिनता से पहुँच पायेगा। इसी प्रकार अन्यत्र भी सरल और सुबोध शैली में 'मीमांसक' जी की मान्यताओं एवं वक्तव्यों को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इस संस्करण में प्राचीन काल गणना भी श्री मीमांसक जी के ही अनुसार रक्खी गयी है। उन्होंने भारत युद्ध से प्राचीन इन्द्रादि व्याकरण-प्रवक्ताओं के निश्चित काल-निर्णय के लिए भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार भारतयुद्ध को विक्रम से ३०४४ वर्ष प्राचीन माना है और कृतयुग के ४८००, त्रेता के ३६००, द्वापर के २४०० दिव्य वर्षों को सौर वर्ष मान कर काल गणना की है।

विद्यार्थियों की सुविधा के लिए 'चौखम्भा ओरियण्टालिया' (वाराणसी) के श्री मोहन दास जी गुप्त की प्रार्थना पर श्री मीमांसक जी ने अपने महत्त्वपूर्ण उक्त ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित करने की उन्हें कृपावश अनुमति देकर छात्र-जगत् का परम कल्याण किया है। सचमुच वे इस युग के महान् तपस्वी, परम ज्ञानी, नीरजस्तंम आप्त पुरुष हैं, अतः यह संक्षिप्त संस्करण श्री मीमांसक जी की उदारता का ही महाप्रसाद समझा जाना चाहिए।

मुझे आशा है कि प्रस्तुत संक्षिप्त संस्करण छात्रों की आवश्यकता को पूरा करने में सर्वथा सफल सिद्ध होगा। मुझे इस प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है, इसके लिये मूल ग्रन्थकार लेखक (जो साथ में छपा है) प्रमाण है। यहाँ यह निर्देश कर देना भी युक्त होगा कि यह संक्षिप्त संस्करण छात्रों के लिये प्रकाशित किया जा रहा है। जो शोध छात्र हैं अथवा शोध कार्य में प्रवृत विद्वज्जन हैं उन्हें श्री मीमांसक जी का मूल बृहद् ग्रन्थ का ही उपयोग करना चाहिये।

'चौखम्भा ओरियण्टालिया' के कर्मठ संचालक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने उक्त ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित करने के लिए श्री मीमांसक जी से अनुमति प्राप्त कर आज पाठकों के करकमलों में यह संस्करण पहुँचा दिया। उक्त फर्म के उत्साही सम्पादक श्री डॉ० लालमणि तिवारी जी को भी विशेष धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने बड़ी तत्परता तथा लगन से आद्योपान्त प्रूफ संशोधन किया जिससे की ग्रन्थ शीघ्र मुद्रित हो सका। प्रूफ त्रुटि के लिए पाठक क्षमा करेंगे।

अन्त में अज्ञान-वश अथवा मानुष-सुलभ प्रमाद-वश हुई सभी त्रुटियों के लिए परम कृपालु आचार्य श्री मीमांसक जी तथा अन्य विद्वज्जनों के समक्ष नतमस्तक हो क्षमा प्रार्थी हूँ।

प्राच्यविद्या संस्थान,
खिरौनी,
सोहावल, फैजाबाद
चैत्र रामनवमी, वि० संवत् २०३४

विद्वद्विधेयः—
रामनाथ त्रिपाठी

मूलग्रन्थकार की भूमिका

भारतीय समस्त प्राचीन वैदिक शास्त्रीय वा लौकिक वाङ्मय सत्यनिष्ठ नीरज-स्तंभ आप्त ऋषि मुनियों द्वारा प्रोक्त है। अतः इसमें असत्य का अथवा काल्पनिकता का लेशमात्र भी नहीं है। इस समय हमें जो प्राचीन वाङ्मय उपलब्ध हो रहा है। वह चार छ ग्रन्थों को छोड़कर समस्त वाङ्मय भारत युद्ध के १०० वर्ष पूर्व से ३०० वर्ष उत्तर तक का भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास और उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा प्रधानतया प्रोक्त वाङ्मय का एक छोटा-सा अंश प्राप्त है। शेष वाङ्मय तथा इससे पूर्व का विशाल वैदिक वाङ्मय कराल काल के गाल में कवलित हो चुका है। भगवान् पाणिनि के समय में यह विपुल वाङ्मय उपलब्ध था और इसको दो विभागों में विभक्त करके शब्द विशेषों का अन्वाख्यान करने के लिये एक सूत्र पढ़ा है—पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (४।३।१०५)। पुराण-प्रोक्त और अर्वाक्प्रोक्त वाङ्मय के विभाग की सीमा विना समझे इस पाणिनीय सूत्र का ऐतिहासिक महत्त्व कुछ समझ में नहीं आता। यह सीमा है भगवान् कृष्णद्वैपायन का प्रवचन काल। इस प्राचीन आर्षवाङ्मय के अनेकों ग्रन्थों का उत्तर काल में पुनः प्रवचन हुआ है। अतः उत्तर काल में पुनः प्रोक्त ग्रन्थों में कुछ ऐसी बातें उपलब्ध हो सकती हैं जो मूल प्रवक्ता महर्षियों को इष्ट न रही हों।

ऋषिकाल के समाप्त होने पर जो उत्तरवर्ती काल में लिखा गया वाङ्मय उपलब्ध होता है वह भी प्रायः आप्तकल्प आचार्यप्रवरों द्वारा प्रोक्त वा कृत है। यह सारा वाङ्मय भी प्राचीन आर्षवाङ्मय से अनुप्राणित होने से प्रायः उसके समान ही प्रामाणिक है। यह आप्त कल्प आचार्य परम्परा भी पदवाक्य प्रमाणज्ञ सर्वज्ञकल्प वेद-वेदाङ्ग पारदृश्वा आचार्य भर्तृहरि पर प्रायः समाप्त हो जाती है।

आचार्य भर्तृहरि के पश्चात् जो संस्कृत वाङ्मय लिखा गया वह प्रायः मतमतान्तर के आग्रह से निगृहीत विद्वानों द्वारा विरचित है। इस लिये इनमें स्वमत से भिन्न मतों का खण्डन-मण्डन ही प्रधान रूप से उपलब्ध होता है। इसी मतमतान्तर के आग्रह के कारण उनके ग्रन्थों में ऋत के साथ अनृत का समावेश होना स्वाभाविक ही था। यही वह काल है जिसमें वाग्भट्ट, कालिदास और वराह मिहर सदृश विद्वानों ने प्राचीन आर्षवाङ्मय की प्रामाणिकता को भी खण्डित करने का प्रयत्न किया। फिर भी इन विद्वानों ने प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में भी भारी योगदान किया है। इसलिये हमें इनका भी आभार स्वीकार करना ही चाहिये। अन्यथा जो प्राचीन परम्परा आज हमें

उपलब्ध हो रही है वह सर्वथा विलुप्त हो जाती। इनके ग्रन्थों में जो अनृत अंश समाविष्ट हो गया है, उसका परिज्ञान भी प्राचीन ऋषिमुनि और आचार्यों के ग्रन्थों के प्रामाण्य से यथावत् जाना जा सकता है। इस प्रकार विवेक द्वारा इन ग्रन्थों से भी अनृत का परित्याग करके ऋत का ग्रहण किया जा सकता है।

उक्त प्राचीन प्रमाणभूत वाङ्मय में हमारा जो प्राचीन इतिहास लिखा हुआ है, वह सर्वथा निर्दुष्ट एवं सत्य है। इसी प्राचीन इतिहास से अनुप्राणित होकर हम आर्य आज तक जीवित हैं। जब कि संसार की अन्य अनेक आर्येतर जातियाँ वा वा उनका वाङ्मय नष्ट हो गया। निश्चय ही जब तक हमारा प्राचीन वाङ्मय, प्राचीन इतिहास, एवं प्राचीन भगवान् मनु, वाल्मीकि, कृष्णद्वैपायन तथा राम कृष्ण सदृश महामानव (यशः शरीर से) जीवित रहेंगे अथवा हम उन्हें जीवित रख सकेंगे तब तक हम कभी नष्ट नहीं होंगे यह ध्रुव सत्य है। पितृतर्पण में ऋषिमुनि और आचार्यों के तर्पण का विधान इसी लिये किया गया है कि हम उन महापुरुषों को विस्मृत न कर दें, जिन्होंने इस आर्य जाति और महाभारत (आज का भारत तो अतिसंकुल है) देश को, नहीं-नहीं समस्त भूमण्डल और मानवमात्र को अपने ज्ञान-विज्ञान से आलोकित किया। नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण सूक्ति से उत्थान पतन और पुनरुत्थान तो होता ही रहता है। यह तो संसार की सामान्यगति है। परन्तु उत्थान पतन और पुनरुत्थान के वास्तव में हम ही कारण हैं। काल का नैमिकत्त्व तो आरोपित मात्र है। इसी लिये तो ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठन् त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥
चरैवेति चरैवेति।

इसलिये यदि हम भारतीय अपने प्राचीन वाङ्मय, प्राचीन इतिहास एवं पूर्वजों के गौरवमय चरित्रों का अध्ययन-अध्यापन, मनन एवं तदनुकूल आचरण करें तो भारतीय वाङ्मय एवं भारतीय संस्कृति प्राचीन गौरवमय स्थिति को पुनः प्रतिष्ठापित कर सकते हैं।

इधर लगभग १५० (डेढ़) सौ वर्ष पूर्व जब पाश्चात्य विद्वानों को प्राचीन संस्कृत वाङ्मय का परिचय प्राप्त हुआ तो कतिपय उदारमना विद्वान् इसका अध्ययन करके संस्कृत वाङ्मय की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगे। परन्तु यहूदी ईसाईमत-वाद से निगृहीत कतिपय व्यक्तियों को अपने सजातीय विद्वानों द्वारा संस्कृत वाङ्मय की प्रशंसा करना नहीं सुहाया। इसलिये मैक्समूलर, राथ, ह्विटनी, मैकडानल्ड, कीथ प्रभृति विद्वानों ने भारतीय प्राचीन संस्कृत वाङ्मय को असभ्य, अर्धसभ्य गडरियों के गीत सिद्ध करने के लिये आकाश पाताल एक कर दिया।

वेद को बाइबल एवं कुरान प्रभृति ग्रन्थों से हीन बताया[1]। इसी प्रकार यहूदी ईसाईमतानुकूल ईसा से ४ सहस्र वर्ष पूर्व मानवोत्पत्ति स्वीकार करके हमारे अतिप्राचीन अवितथ इतिहास को इसी सीमित घेरे में बन्द करने के लिये उसे तोड़ मरोड़कर भ्रष्ट कर दिया। पाश्चात्य विद्वानों ने अनुसन्धान के नाम पर जो कुछ भी लिखा वह प्रायः ईसाईमत के प्रचार की भावना से प्रेरित होकर लिखा[2]। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय और इतिहास को नष्ट करने के लिये जो ग्रन्थ लिखे गये वे ही ब्रिटिश शासन के काल में भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ाये गये। खेद का विषय तो यह है कि भारत को स्वतन्त्र हुए ३० वर्ष होने आये पर हम मानसिक और बौद्धिक दृष्टि से आज भी पराधीन हैं। आज भी हमारे विश्वविद्यालयों में भारतीय वाङ्मय एवं इतिहास को दूषित करने वाले ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं। इन विश्वविद्यालयों से अधीत भारतीय प्राचीन वाङ्मय एवं इतिहास का उपहास करने वाले और अपने को प्रगतिशील कहने वाले पाश्चात्यमतों की परीक्षा न करके उन्हें बाबा वाक्यं प्रमाणम् मानकर चल रहे हैं।

इस गहन अन्धकारमय काल में भारत में कतिपय ऐसे व्यक्ति अवश्य हुए जिन्होंने पाश्चात्य विद्वानों के कलुषित विचारों को समझा और उनके द्वारा प्रवर्तित दुश्चक्र को नष्ट करने के लिये कटिबद्ध हुए। इनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं डी. ए. वी. कालेज लाहौर के अनुसन्धान विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री पं० भगवद्दत्त प्रमुख हैं।

मैंने वेद वेदाङ्ग उपाङ्ग आदि का अध्ययन प्राचीन भारतीय परम्परानुसार गुरुमुख से किया और इतिहास एवं शोध कार्य का परिज्ञान श्री पं० भगवद्दत्त जी के सान्निध्य में रहकर प्राप्त किया। प्रस्तुत 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के लिखने की प्रेरणा मुझे सन् १९३५ में श्री पं० भगवद्दत्त जी ने दी। मैंने आपके निदर्शनानुसार लगभग १५ वर्ष परिश्रम करके संस्कृत वाङ्मय के यथोपलब्ध मुद्रित एवं हस्तलिखित शतशः ग्रन्थों का परायण करके इस ग्रन्थ का संकलन किया। इसका प्रथम भाग सन् १९५० में, दूसरा भाग सन् १९६१ में और तीसरा भाग सन् १९७३ में प्रकाशित हुआ (प्रथम भाग के ३ और द्वितीय भाग के २ उत्तरोत्तर परिवर्धित संस्करण छप चुके हैं)। संस्कृत व्याकरण से सम्बद्ध इतना बृहत्काय, क्रमबद्ध एवं शोधपूर्ण इतिहास संसार की किसी भी भाषा में आजतक प्रकाशित नहीं हुआ। उत्तरवर्ती कतिपय लेखकों ने इस ग्रन्थ से पर्याप्त सामग्री लेकर कतिपय ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं।

---

१. द्रष्टव्य हमारा 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' ग्रन्थ; पृ० २३–२४ तथा ५५–५६।

२. द्रष्टव्य वही ग्रन्थ तथा वे ही पृष्ठ।

मेरा यह ग्रन्थ यद्यपि कई विश्वविद्यालयों के आचार्य एवं एम. ए. (सं० व्याकरण) के पाठ्यक्रम तथा सहायक ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है। मैंने इस ग्रन्थ को आचार्य अथवा एम. ए. के छात्रों की दृष्टि से नहीं लिखा। इस कारण उनके लिये क्लिष्ट और अतिविस्तृत होने से विशेष लाभकारी नहीं हो सकता था। गतवर्ष (सन् १९७६) फरवरी मास के अन्त में मेरा काशी जाना हुआ। काशी में वर्षों निवास करने के कारण सभी प्रमुख संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशकों एवं विक्रेताओं से घनिष्ठ संपर्क रहा है। इस कारण मैं 'चौखम्भा ओरियण्टालिया' के गुप्त जी से भी मिला। इस भेंट के अवसर पर आपने मुझ से 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का छात्रोपयोगी संक्षिप्त संकरण प्रकाशित करने की अनुमति मांगी। मैंने प्राचीन आचार्यों की परम्परा का अनुसरण करते हुए अपने ग्रन्थ को भी सार्वजनीन वस्तु समझकर बिना किसी अनुबन्ध (शर्त) एवं हिचकचाहट के आपको अनुमति प्रदान कर दी। मूलग्रन्थ के लेखक के नाते आत्मसन्तोष की दृष्टि से इतना निवेदन अवश्य किया कि छापने से पूर्व इसकी पाण्डुलिपि मुझे दिखा दें। श्रीगुप्त जी ने पण्डितप्रवर श्री रामनाथ त्रिपाठी के द्वारा तैयार कराया संक्षिप्त संकरण देखने के लिये मेरे पास भेजा। मैंने उसे यत्र तत्र भले प्रकार देखा और मुझे इस बात से बहुत सन्तोष हुआ कि माननीय त्रिपाठी जी ने ग्रन्थ के मूलभूत सिद्धान्तों एवं विचारों को यथा सम्भव अक्षुण्ण रखते हुए यह क्लिष्ट कार्य पूर्ण किया। अन्य के द्वारा लिखे गये विस्तृत ग्रन्थ का संक्षेपीकरण महाक्लेश साध्य कर्म है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये विद्वद्वर त्रिपाठी जी का बहुत आभारी हूँ। आपने मेरे द्वारा स्थापित सिद्धान्तों एवं विचारों को सूत्रे मणिगणा इव कहावत के अनुसार यथावत् यथास्थान संक्षिप्त रूप में पिरो कर अपने अद्भुत लेखन कौशल का परिचय दिया है।

प्रस्तुत संक्षिप्त संस्करण छात्रों के लिये ही तैयार किया गया है इसलिये जो विशिष्ट शोधछात्र हैं अथवा अनुसन्धानकार्य में प्रवृत्त विद्वज्जन हैं उनको मूल ग्रन्थ का ही आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि संक्षिप्त संस्करण में निर्दिष्ट विषयों का ऊहापोह युक्त सप्रमाण विवेचन बृहत् ग्रन्थ में ही उपलब्ध होगा। इत्यलमति पल्लवितेन।

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)
(वि० सं० २०३४, वैशाखशुक्ला ११)

विदुषांवशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

विषय सूची

पञ्चदश अध्यायः—

षोडश अध्यायः—

सप्तदश अध्यायः—

अष्टादश अध्यायः—

उन्नीसवाँ अध्यायः—

बीसवाँ अध्यायः—

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास

प्रथम अध्याय

संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति, विकास और ह्रास

वेदों की अपौरुषेयता तथा नित्यता को सभी भारतीय प्राचीन वैदिक ऋषि-मुनि तथा आचार्य एक स्वर से स्वीकार करते हैं। परम कृपालु भगवान् प्रत्येक कल्प के आरम्भ में ऋषियों को, आद्यन्त रहित नित्या वाक् (अर्थात् वेद) का ज्ञान देता है, जिस वैदिक-ज्ञान से लोक का समस्त व्यवहार प्रचलित होता है। भारतीय इतिहास के अद्वितीय ज्ञाता कृष्ण द्वैपायन महर्षि व्यास का वचन है—

> "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
> आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा : प्रवृत्तयः ॥"

इस भारतीय ऐतिह्यसिद्ध सिद्धान्त को पाश्चात्य तथा उनके अनुगामी कतिपय एतद्देशीय विद्वान् नहीं मानते हैं। उनका मत है—'मनुष्य आरम्भ में साधारण पशु के समान था। शनैः शनैः उसका ज्ञान विकसित हुआ और सहस्रों वर्षों के पश्चात् इस समुन्नत अवस्था तक पहुँचा।' विकासवाद का यह काल्पनिक मन्तव्य बहु-विध परीक्षणों से अब अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी इस मन्तव्य को शनैः शनैः छोड़ रहे हैं और यह अनुभव करने लगे हैं कि मनुष्य के स्वाभाविक ज्ञान में नैमित्तिक ज्ञान के सहयोग के विना कोई उन्नति नहीं होती है। चिरकाल से समुन्नत जातियों के संसर्ग से दूर रहने के कारण, आज भी पशु-सदृश जीवन बिताने वाली जङ्गली जातियाँ, इस बात का प्रत्यक्ष साक्ष्य भी दे रही हैं।

लौककि संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति

आरम्भ में भाषा की प्रवृत्ति और लोक में उसका विकास कैसे हुआ, इसका कोई सन्तोषजनक समाधान विकासवादियों के पास नहीं है।[1] उन्होंने विवश होकर यह कहना आरम्भ कर दिया कि—'भाषा की उत्पति की समस्या का भाषाविज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है।[2] भारतीय वाङ्मय

१. देखिए—पं० भगवद्दत्त कृत 'भाषा का इतिहास' पृष्ठ २—४ (संस्क० २)।

२. देखिए–जे० वैण्ड्रिएस कृत 'लैंग्वेज' ग्रन्थ पृ० ५, सन् १९५२।

के अनुसार—लौकिक भाषा का विकास वेद से हुआ। भारत-युद्ध से हजारों वर्ष पहिले[1] स्वायम्भुव मनु ने लिखा है।

'सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥' (मनु० १।२१)

आशय यह है कि ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में सब पदार्थों की संज्ञाएँ, शब्दों के पृथक्-पृथक् विभिन्न कर्म (अर्थात् अर्थ) और शब्दों की संस्था (रचना-विशेष अर्थात् सब विभक्ति-वचनों के रूप) ये सब वेद के शब्दों से निर्धारित किये।

वेद में शतशः शब्दों की निरुक्तियों और पदान्तरों के सान्निध्य से उपलब्ध बहुविध अर्थों के निर्देश के आधार पर लोक में पदार्थों की संज्ञाएँ रखी गयीं और वेद में क्वचित् प्रयुक्त नाम और आख्यातपदों से मूलभूत शब्दों की कल्पना करके समस्त व्यवहारोपयोगी नाम और आख्यात पदों की सृष्टि की गयी। शब्दान्तरों में क्वचित् प्रयुक्त विभक्ति-वचनों के अनुसार प्रत्येक नाम और धातु के तत्तद् विभक्ति-वचनों के रूप निर्धारित किये गये। इस प्रकार ऋषियों ने ही आरम्भ में वेद के आधार पर सर्व-व्यवहारोपयोगी अतिविस्तृत भाषा का उपदेश किया। वही भाषा लोक की आदि व्यावहारिक भाषा हुई। वेद स्वयं कहता है—

'देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।'

अर्थात् देव जिस दिव्य वाणी को प्रकट करते हैं, साधारण जन (विश्व-रूपाः पशवः) उसी को बोलते हैं। (यह ज्ञातव्य है कि वेद में पशु शब्द मनुष्य-प्रजा का भी वाचक है।) अथर्ववेद का वधू के प्रति आशीः परक मन्त्र है—

वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।'
(अथर्व १४।२।२५)

लौकिक वैदिक शब्दों का अभेद

इस सिद्धान्त के अनुसार स्वयं सिद्ध है कि वेद के वे समस्त शब्द जो आज केवल वैदिक माने जाते हैं, उस अतिविस्तृत प्रारम्भिक लौकिक भाषा

---

१. मनुस्मृति को विक्रम की द्वितीय शताब्दी की रचना मानने वाले लोगों को प्रक्षिप्तांश पर ध्यान न देते हुए, इस पर पुनः सर्वाङ्गरूप से विचार करना चाहिए।

में विद्यमान थे। उस समय (प्रारम्भ में) 'ये शब्द लौकिक हैं और ये वैदिक' —ऐसा विभाग नहीं था। और ऐसा, स्वाभाविक भी है।

(क) तलवकार संहिता, आरण्यक और पूर्व मीमांसा के प्रवक्ता महर्षि जैमिनि (३०० वि० पू०) लिखते हैं—

'प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात् (मी० १।३।३०)

अर्थात् यागादि कर्म (प्रयोग) के विधायक वाक्य (चोदना) के श्रुति में उपलब्ध होने से (लौकिक वैदिक) पदों का अर्थ एक ही है। लौकिक वैदिक पदों का विभाग न होने से (एक होने से)।

इस सूत्र की व्याख्या में शबर स्वामी लिखते हैं—

'य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्थाः।'

जो लौकिक शब्द हैं, वे ही वैदिक हैं और वे ही उनके अर्थ हैं।

(ख) शब्दार्थ सम्बन्ध के परम ज्ञाता यास्क मुनि (३००० वि० पू०) भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

'व्याप्तिमत्त्वात् शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तत्र मनुष्यवद्देवताभिधानम्। पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।' (निरुक्त १।२)

अर्थात् शब्द के व्यापक और लघुभूत होने से लोक में व्यवहार के लिए शब्दों से संज्ञाएँ रखी गयीं। वेद मन्त्रों[1] (देवता) में अर्थ (अभिधान), मनुष्यों में प्रयुक्त अर्थों के सदृश हैं। पुरुष की विद्या अनित्य होने से कर्म की सम्पूर्ति कराने वाले मन्त्र वेद में हैं।

यास्क ने पुनः लिखा है—

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्। (निरुक्त १।१६)।

अर्थात् वैदिक शब्द अर्थवान् हैं, लौकिक शब्दों के समान होने से।

(ग) वाजसनेय प्रातिशाख्य में कात्यायनमुनि भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं—

'न, समत्वात्।' (वाजसनेय प्रातिशाक्य १।३)

अर्थात् वैदिक शब्दों का स्वरसंस्कार नियम अभ्युदय का हेतु है, यह ठीक नहीं। लौकिक और वैदिक शब्दों के समान होने से।

---

१. 'स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते।' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेद विषयविचार, रामलाल कपूर ट्रस्ट बृहत्संस्करण पृष्ठ ६८। मीमांसक देवता को मन्त्रमयी मानते हैं। देखिए—'अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्' मी० ९।१।९ की व्याख्या।

इस सूत्र की व्याख्या में उवट और अनन्तवेद दोनों लिखते हैं—

'य एव वैदिकास्त एव लौकिकास्त एव तेषामर्थाः ।

(त एव चामीषामर्थाः— अनन्त)

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि शब्दार्थ सम्बन्ध के परम ज्ञाता जैमिनि, यास्क और कात्यायन तीनों महान् आचार्य एक ही बात कह रहे हैं ।

इधर गत दो-तीन हजार वर्ष के अनेक विद्वान् लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद मानते हैं । वे अपने पक्ष की सिद्धि में तीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) महाभाष्य के आरम्भ में लिखा है—

'केषां शब्दानां, लौकिकानां वैदिकानां च ।'

(ख) भरतमुनि के नाटयशास्त्र में लिखा है—

'शब्दा ये लोकवेदसंसिद्धाः ।'[१]

(ग) निरुक्त १३।९ में लिखा है—

अथापि ब्राह्मणं भवति—सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् । एष्वेव लोकेषु त्रीणि [तुरीयाणि], पशुषु तुरीयम् । या पृथिव्यां साऽग्नौ सा रथन्तरे । यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये । या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ । अथ पशुषु । ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः । तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति, या च देवानां या च मनुष्याणाम् इति ।'

इस उद्धरण में स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण, देवों और मनुष्यों की उभयविध वाणी का प्रयोग करते हैं ।

निरुक्त में उद्धृत पाठ काठक ब्राह्मण का है ।[२] मैत्रायणी संहिता (१।११।५) और काठक संहिता (१४।५) में इससे मिलता जुलता पाठ उपलब्ध होता है । उन उद्धरणों के अन्तिम पाठ से व्यक्त होता है कि 'दैवी' शब्द से बृहद् रथन्तर आदि में गीयमान वैदिक ऋचायें अभिप्रेत हैं । अन्त में स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण दैवी वाक् से यज्ञ में और पशुओं (अर्थात् मनुष्यों, वेद में पशु शब्द के, मनुष्य-प्रजा का भी वाचक होने से) की वाणी से यज्ञ-से अन्यत्र व्यवहार करता है । अतः महाभाष्य और निरुक्तादि के उपर्युक्त उद्धरणों में दैवी या वैदिक शब्द से आनुपूर्वी विशिष्ट मन्त्रों का ग्रहण है ।

अथर्व संहिता (६।६१।२) में दैवी और मानुषी वाक् का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

---

१. नाटयशास्त्र २४।२६, बड़ोदा संस्करण ।

२. देखिए—काठक ब्राह्मण संकलन ।

'अहं सत्यमनृतं यद् वदामि, अहं दैवीं परिवाचं विशस्च ।'

इस मन्त्र में दैवी वाक् को सत्य कहा है, क्योंकि यह नियतानुपूर्वी होने से सदा सर्वत्र समान रूप से रहती है। और मानुषी वाक् को अनृत कहा है, क्योंकि वह वक्ता के अभिप्रायानुसार प्रयुक्त होती है। उसमें वर्णानुपूर्वीविशेष का नियम नहीं होता।[1]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लौकिक और वैदिक वाक् में पदों का भेद नहीं है, केवल वर्णानुपूर्वी की नियतता एवम् अनियतता का ही भेद है

संस्कृत भाषा की व्यापकता

संस्कृतवाङ्मय में यह सर्वसस्मत सिद्धान्त है कि प्रत्येक विद्या का प्रथम प्रवक्ता आदि विद्वान ब्रह्मा था।[2] यह ब्रह्मा निस्सन्देह एक विशेष ऐतिह्यसिद्ध व्यक्ति था। संस्कृतवाङ्मय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशात्र आदि प्रत्येक विषय के आदिम ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत थे। समस्त विभागों में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक तथा सर्व व्यवहारोपयोगी साधारण शब्दों का स्वरूप उस समय निर्धारित हो चुका था। उत्तरोत्तर यथाक्रम मनुष्यों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के ह्रास को देखते हुए, प्राचीन अतिविस्तृत सभी विषयों के ग्रन्थ शनैः शनैः संक्षिप्त किये जाने लगे। वर्त्तमान में उपलब्ध तत्तद् विषयों के ग्रन्थ तो (जो इस रूप में भी पाश्चात्य विद्वानों के लिए आश्चर्यजनक हैं, उन प्राचीन अतिविस्तृत ग्रन्थों के अत्यन्त संक्षिप्त संस्करण हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि संस्कृतभाषा वर्त्तमान काल की अपेक्षा, प्राचीन, प्राचीनतर और प्राचीनतम काल में विस्तृत, विस्तृततर और विस्तृततम थी।

---

१. संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते। तेषां यथेष्टमभिसम्बन्धो भावति-पात्रमाहर, आहरपात्रं वा।' (महाभाष्य १।१।१)

२. आयुर्वेद—'प्रजापतिरश्विभ्याम्, प्रजापतये ब्रह्मा।' चरक चिकित्सा० १।४ ॥

व्याकरण—'ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच।' ऋक्तन्त्र, प्रथम प्रपाठक के अन्त में।

ज्योतिष–'तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा रचितं पुरा।' (नारदसंहिता १।७)

उपनिषद्—'तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच।'(छान्दोग्योपनिषन् ८।१५)

इस विषय के जिज्ञासु लोग पं० भगवद्दत्त विरचित' 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग २, पृष्ट १—२६ (प्र० संस्क०, सं० २०१७) देखें।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग लिखता है—'प्राचीनकाल के आरम्भ में शब्द-भण्डार बहुत था।'[1] शब्दशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य पतञ्जलि ने संस्कृत-भाषा के प्रयोग-विषय का उल्लेख करते हुए लिखा है—

'सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरे प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् हि शब्दस्य प्रयोग विषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः, साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः एकशतमध्वर्यु शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः पुराणम्, इत्येता, वाञ्छब्दस्य प्रयोग विषयः।[2]

पतञ्जलि से प्राचीन आचार्य 'यास्क' ने लिखा है—

"शवतिगतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते।······विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु।"

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि किसी समय संस्कृत भाषा का प्रयोग क्षेत्र सप्तद्वीपा वसुमती था। यदि संसार की समस्त भाषाओं के नवीन और प्राचीन स्वरूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि **संसार की सब भाषाओं का आदिमूल संस्कृत-भाषा है।**[3] इनका प्राचीन स्वरूप अपेक्षाकृत संस्कृतभाषा के अधिक समीप था।

उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि में चार प्रमाण प्रस्तुत हैं —

१. पाणिनीय व्याकरण में 'कानीन' शब्द की व्युत्पत्ति 'कन्या' शब्द से की है और 'कन्या' को 'कनीन' आदेश कहा है। ('कन्यायाः कनीन' च' ४।१।११६) वस्तुतः कानीन की मूल प्रकृति 'कन्या' नहीं 'कनीना' है। 'कुमारार्थक कनीन' प्रातिपदिक का प्रयोग वेद में बहुधा मिलता है। पारसियों की धर्मपुस्तक 'अवेस्ता' में कन्या के लिए 'कइनीन' शब्द का व्यवहार मिलता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईरान में कभी कन्या अर्थ में 'कनीना' शब्द का प्रयोग होता था और उसी का अपभ्रंश 'कइनीन' बना।

२. फारसी-भाषा में तारा अर्थ में 'सितारा' शब्द का प्रयोग होता है, अंग्रेजी में 'स्टार' और गाथिक में 'स्टेयर्नो'। इनका सम्बन्ध लौकिक

---

१. ह्यूनसाङ्ग, भाग प्रथम, वार्ट्स का अनुवाद, पृष्ठ २२१।

२. महाभाष्य अ०१ पा०१ आ०१।

३. वैदिक सम्पत्ति (संस्क० २) पृष्ठ २६६–३०३। वेद वाणी (वाराणसी) का वेदाङ्क (वर्ष १३, अंक १–२ पृष्ठ ५०–५८ 'भाषाविज्ञान और ऋषिदयानन्द' शीर्षक लेख।

संस्कृत में प्रयुज्यमान 'तारा' शब्द से मानना भ्रान्ति है। वास्तव में इनकी मूल प्रकृति 'स्तृ' शब्द है जिसके तृतीया बहुवचनान्त 'स्तृभिः' पद का व्यवहार तारा अर्थ में वेद में बहुधा हुआ है।[1] इसी तारा वाचक 'स्तृ' शब्द का प्रथमा बहुवचन में रूप होता है—'स्तारः।' यही 'स्तारः' पद 'सितारा', 'स्टार' और 'स्टेयर्नो' का मूल है, जैसे 'पितृ' शब्द का प्रथमा बहुवचनान्त 'पितरः' पद 'पेतर' (लैटिन), 'पातेर' (ग्रीक), 'फादेर' (गाथिक), 'फादर' (अंग्रेजी) का मूल है।

३—बहिन के लिए फारसी में 'हमशीरा' शब्द प्रयुक्त होता है और अंग्रेजी में 'सिस्टर'। संस्कृत में इन दोनों के मूल दो पृथक् शब्द हैं। 'हमशीरा' का मूल 'समक्षीरा' शब्द है। संस्कृत के सकार को फारसी में हकार हो जाता है। जैसे सप्त—हफ्त, सप्ताह—हफ्ताह। क्ष के आदि ककार का लोप हो गया और षकार को शकार। इसी प्रकार 'सिस्टर' का सम्बन्ध 'स्वसृ' पद से है।

४—ऊँट को फारसी में 'शुतर' कहते हैं और अंग्रेजी में 'कैमल'। स्पष्ट है कि इन दोनों के मूल शब्द पृथक् पृथक् हैं। संस्कृत में को 'उष्ट्र' और 'क्रमेल' दोनों कहते हैं। 'उष्ट्र' के उ और ष का विपर्यास होकर 'शुतर' शब्द बनता है। इसी प्रकार कैमल का सम्बन्ध क्रमेल शब्द से है।[2] वर्तमान मिस्री भाषा में प्रयुक्त 'गमल' कुरानी अरबी में प्रयुक्त 'जमल'[3] का सम्बन्ध भी संस्कृत के 'क्रमेल' शब्द से ही है।

इस प्रकार वेद के आधार पर संस्कृत भाषा विस्तार को प्राप्त हुई। किन्तु मनुष्यों के विस्तार, देश-काल-परिस्थिति के विपर्यास तथा आर्यों के मूल प्रदेश (केन्द्र) से दूरी की वृद्धि होने से शनैः शनैः विपरिणाम को प्राप्त होने लगी। ज्यों-ज्यों जगत् में म्लेच्छता (उच्चारण की अशुद्धि)

---

१. ऋ० १।६८।५; १।८७।१; १।१६६।११ इत्यादि।

२. मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोश में संस्कृत 'क्रमेल' शब्द को यूनान से उधार लिया गया माना है। यह उनकी भूल है। भाषाविज्ञान के सिद्धान्तानुसार उत्तोरत्तर उपभ्रंश भाषाओं में ऊपर-नीचे के रेफ की निवृत्ति ही होती है, नये रेफ का संयोग नहीं होता। यदि क्रमेल शब्द कैमल-गमन-जमल-जैसे रेफ-रहित प्रकृति से निष्पन्न होता तो उसमें रेफ का संयोग न होता। अतः 'क्रमेल' की मूल धातु 'क्रमु पाद विक्षेपे' ही है।

३. भाषा विज्ञान, डॉ० मङ्गलदेव, पृ० २५६

बढ़ती गयी, त्यों-त्यों संस्कृत भाषा का प्रयोगक्षेत्र सङ्कुचित होता गया, साथ ही साथ देश-देशान्तरों में व्यवस्थित संस्कृत शब्दों का लोप होता गया। इससे संस्कृत भाषा अत्यन्त संकुचित हो गयी।

आधुनिक भाषामत और संस्कृत भाषा

प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्री महामुनि पतञ्जलि, यास्क और स्वायम्भुव मनु के भाषाविषयक मतों के विवेचन से यह सिद्ध किया जा चुका है कि—'लोक में भाषा की प्रवृत्ति वेद से हुई है और संस्कृत ही सब भाषाओं की आदि-जननी एवम् आदिम भाषा है।' इधर विकासवाद के आधार पर संसार की कुछ भाषाओं की तुलना करके नूतन भाषाशास्त्र की कल्पना करने वाले पाश्चात्य भाषाविदों का मत है—''प्रागैतिहासिक काल में संस्कृत से पूर्व कोई इतर भाषा (इण्डोयोरोपियन भाषा) बोली जाती थी। उसी में परिवर्तन होकर संस्कृत भाषा की उत्पत्ति हुई। उत्तरोत्तर संस्कृत भाषा में भी परिवर्तन होते गये। भविष्यत् में संस्कृत भाषा को परिवर्तनों से बचाने के लिए पाणिनि ने अपने महान् व्याकरण की रचना की। उससे संस्कृत भाषा ऐसी बँध गयी कि पाणिनि से लेकर आज तक उसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ।'

खेद का विषय है कि पाश्चात्य-शिक्षादीक्षित भारतीय भी बिना स्वयं विचार किये इसी मत को मानते हैं। अध्यापक बेचरदास जीवराज दोशी अपनी 'गुजराती-भाषा नी उत्क्रान्ति' नामक व्याख्यानमाला में प्राकृत से वैदिक भाषा की उत्पत्ति मानते हैं।

पाश्चात्य ईसाई मत के अनुसार सारे इतिहास को ईसापूर्व छः हजार वर्षों के भीतर ही समेट लेने के उद्देश्य से विद्वानों ने प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का अपने ढंग से अध्ययन करके और उसमें स्वकल्पित भाषाशास्त्र का पुट देकर उनका कालक्रम निर्धारित किया है। उसमें मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, उपनिषद्काल, सूत्रकाल और साहित्यकाल आदि अनेक काल्पनिक कालविभाग किये हैं। उन काल-विभागों के द्वारा उन्होंने संस्कृत-भाषा में यथाक्रम परिवर्तन दिखाने का निष्फल प्रयास किया है। वस्तुतः संस्कृतभाषा में कभी कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है; उसका ह्रास (सङ्कोच) अवश्य हुआ है। उसी के कारण आधुनिक भाषाशास्त्रियों को संस्कृत भाषा में परिवर्तन प्रतीत होता है।

नूतन भाषामत की आलोचना

संस्कृत-भाषा की उत्पत्ति और विकास के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा निर्धारित पूर्वोक्त मत सर्वथा काल्पनिक हैं। भारतीयवाङ्मय से उनकी तनिक भी पुष्टि नहीं होती है। ग्रीक, लैटिन और हिटेटि आदि भाषाओं के जिस साहित्य के आधार पर वे भाषा मतों के नियमों की कल्पना करते हैं, वह साहित्य पुरातन संस्कृत साहित्य की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन-काल का है। वे प्रागैतिहासिक काल की जिस प्राकृत (इण्डोयोरोपियन) भाषा से संस्कृत की उत्पत्ति मानते हैं, उसका कोई पूर्वव्यवहृत स्वरूप भी आजतक उपस्थित नहीं कर सके। अतः सर्वथा काल्पनिक और अधूरे नियमों को निर्धारित करने वाला उनका कल्पित भाषाविज्ञान विज्ञान की कोटि से बहिर्भूत है।

पाश्चात्य भाषाविज्ञान के नियमों के अधूरेपन की स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—

नूतन भाषाविज्ञान का एक नियम है—'वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण के स्थान पर 'ह' का उच्चारण होता है, परन्तु 'ह' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण नहीं होता'।[1]

यह नियम औत्सर्गिक माना जा सकता है, एकान्त सत्य नहीं। कुछ प्रयोग ऐसे भी हैं जिनमें 'ह' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का प्रयोग देखा जाता है। यथा—

१. आधुनिक बोलचाल की भाषा में संस्कृत के 'गुहा' के अपभ्रंश 'गुफा' का प्रयोग होता है।

२. पंजाबी में संस्कृत के 'सिंह' का उच्चारण 'सिंघ' होता है और गुरुमुखी लिपि में 'सिंघ' ही लिखा भी जाता है।

३. पंजाबी भाषा में भैंस के लिए प्रयुक्त 'मझ' शब्द संस्कृत के 'मही' शब्द का अपभ्रंश है।[2]

४. 'दाह' प्राकृत में 'दाघ' और 'नहुष' पाली में 'नघुष' हो जाता है। 'दाह' से मत्वर्थक 'र' प्रत्यय से बना 'दाहर' मारवाड़ी भाषा में 'दाफड़' (जलने वाला फोड़ा) हो जाता है।

---

१. भाषाविज्ञान, श्री डॉ० मङ्गलदेव जी कृत, प्र० संस्क०, पृष्ठ १८२

२. महिषी (भैंस) वाचक 'मही' शब्द का प्रयोग 'महीं मा हिंसीः' (यजु० १३।४४) में उपलब्ध होता है।

५. संस्कृत के 'इह' शब्द के स्थान में प्राकृत में 'इध' का प्रयोग होता है।

६. चीनी भाषा में 'होम' के अर्थ में 'घोम' शब्द का व्यवहार होता है।

७. भारत की 'माही' नदी ग्रीक भाषा में 'मोफिस' बन गयी।

८. संस्कृत का 'अहि' फारसी में 'अफि' बन जाता है। 'अफीम' शब्द भी संस्कृत के 'अहिफेन' का अपभ्रंश है।

९. बृहस्पतिवार के लिए प्रयुक्त 'बीफे' शब्द 'बृहस्पति' के एक देश 'बृहः' का अपभ्रंश है।

१०. हिन्दी का 'जीभ' शब्द जिह्वा=जीह[१]=जीभ क्रम से निष्पन्न हुआ है। प्राकृत भाषा में 'जीहं' 'जीहा' शब्द प्रयुक्त होते हैं। जिह्वा शब्द का एक रूपान्तर प्रकार यह है—जिह्वा=जिव्हा=जिब्भा, जिभ्भा।

११. संस्कृत की नह (णह बन्धने) धातु से हिन्दी का 'नाधना' शब्द बना है।

१२. 'दुहितृ' के आद्यन्त का लोप होकर अवशिष्ट 'हि' भाग से पञ्जाबी का पुत्री-वाचक 'धी' शब्द बना है। फारसी में प्रयुक्त 'दुख्तर' शब्द भी संस्कृत के 'दुहितृ' का ही अपभ्रंश है।

१३. संस्कृत के कथनार्थक 'आह' धातु से पञ्जाबी में 'आख' क्रिया बनी है। (यद्यपि अष्टाध्यायी के ३।४।८४ सूत्र से 'ब्रू' धातु को 'आह' आदेश कहा गया है, किन्तु वैयाकरणों द्वारा आदेश रूप में विहित धातुएँ किसी समय में मूल धातुएँ थीं। देखिए—'ऋषि दयानन्द की पद प्रयोग शैली' पृष्ठ ६–१७)

इन कुछ दिये गये उदाहरणों से पाश्चात्य भाषाविज्ञान के नियमों का अधूरापन स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः इनके आधार पर किसी बात का निर्णय भी अधूरा अतएव धोखे में डालने वाला है। भारतीय शब्दशास्त्री पाणिनि और यास्क अनेक शब्दों में 'ह' को घ, ढ, ध, भ आदेश मानते हैं। अष्टाध्यायी के (८।४।६२) के अनुसार सन्धि में झय् से उत्तर हकार को घ, झ, ढ, ध और भ आदेश होते हैं।

संसार में भाषा की प्रवृत्ति कैसे हुई, इसका समाधान करने में आधुनिक भाषा-विज्ञान सर्वथा अक्षम है। परन्तु भारतीय इतिहास स्पष्ट शब्दों में कहता है—'लोक में भाषा की प्रवृत्ति वेद से हुई है और संस्कृत ही सब

---

१. 'एक जीह गुण कवन बखाने, सहस फणी सेस अन्त न जाने।' गुरूग्रन्थ साहब, सोलहे माहल्ल ५।

भाषाओं की आदिजननी तथा आदिम भाषा है।' आधुनिक भाषा शास्त्री अपने अधूरे काल्पनिक भाषाशास्त्र के अनुसार इस तथ्य को स्वीकार न करें, तो इसमें इतिहास का क्या दोष ?'

क्या संस्कृत प्राकृत से उत्पन्न हुई है ?

देववाणी के लिए 'सस्कृत' शब्द का व्यवहार देखकर कतिपय विद्वानों ने यह मिथ्या धारणा बना ली कि संस्कृत भाषा किसी प्राकृत भाषा से संस्कृत की हुई है। इसीलिए उस प्राकृत भाषा के प्रतिपक्ष में इसका नाम संकृत हुआ। यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। क्यों कि—

१. संस्कृत से पूर्ववर्त्तिनी किसी प्राकृत भाषा की सत्ता इतिहास से सिद्ध नहीं होती, जिससे संस्कृत की निष्पत्ति मानी जा सके।

२. प्राकृत भाषा की महत्ता स्वीकार करने वाले आचार्य हेमचन्द्र-जैसे विद्वान् भी स्वयं प्राकृत-भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से मानते हैं।[१]

३. भाषा का विकास नहीं, विकार होता है। अतएव पूर्वाचार्यों ने प्राकृत का सामान्य 'अपभ्रंश' शब्द से व्यवहार किया है।

४. भाषा-विकार के सर्वसम्मत निम्न दो नियम हैं—

(क) भाषा का विकार प्रायः कठिन उच्चारण से सरल उच्चारण की ओर होता है।

(ख) भाषा का विकार प्रायः संश्लेषणात्मकता से विश्लेषणात्मकता की ओर होता है।

यह तो सभी अनुभव करते हैं कि प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत भाषा का उच्चारण अधिक कठिन और संश्लेषणात्मक है तथा प्राकृत का उच्चारण संस्कृत की अपेक्षा सरल और विश्लेषणात्मक है। अतः सरल उच्चारण और विश्लेषणात्मक प्राकृत भाषा से कठिन उच्चारण और संश्लेषणात्मक संस्कृत भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। हाँ, कठिन और संश्लेषणात्मक संस्कृत से सरल और विश्लेषणात्मक प्राकृत की उत्पत्ति हो सकती है। अतएव अति प्राचीन भरतमुनि ने लिखा है—

> एतदेव विपर्यस्तं संस्कार गुणवर्जितम्।
> विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥
>
> (नाट्यशास्त्र १८।२)

---

१. 'प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं, तत आगतं वा प्राकृतम्।' हैम प्राकृत व्याकरण की स्वोपज्ञ-व्याख्या १।१।१।

शब्दशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य 'भर्तृहरि' ने भी लिखा है—

'दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः ।' (वाक्यपदीय १।१५५)

इस विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा प्राकृत से प्राचीन है और प्राकृत, संस्कृत की विकृति है ।

संस्कृत नाम का कारण

देववाणी के 'संस्कृत' नाम-करण का अपना एक इतिहास है—

प्राचीनकाल में देववाणी के अव्याकृत अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभाग से रहित होने के कारण इसका उपदेश प्रतिपद पाठ द्वारा किया जाता था । इस प्रकार इसके ज्ञान में अत्यन्त परिश्रम तथा अत्यधिक काल-क्षय होता था । अतः देवों ने उस समय के महान् शाब्दिक आचार्य इन्द्र से प्रार्थना की—'आप शब्दोपदेश की कोई ऐसी सरल प्रक्रिया बतावें, जिससे अल्पपरिश्रम और अल्पकाल में शब्द-बोध हो जावे ।' देवों की इस प्रार्थना पर इन्द्र ने देवभाषा के प्रत्येक शब्द को मध्य से विभक्त कर प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभाग-द्वारा इसके उपदेश की एक सरल प्रक्रिया का आविष्कार किया । इसी प्रकृति-प्रत्यय विभागरूपी संस्कार द्वारा संस्कृत होने से देववाणी का दूसरा नाम 'संस्कृत' हुआ ।[१]

अतः 'दण्डी ने अपने काव्यादर्श में लिखा है—

'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ।' (१।३।३)

देववाणी के लिए 'संस्कृत' शब्द का व्यवहार वाल्मीकीय रामायण और भरत नाटचशास्त्र में मिलता है । रामायण में उसका विशेषण 'मानुषी'[२] लिखा है ।

---

१. 'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द-पारायणं प्रोवाच ।' (महाभाष्य अ० १। पा० १। आ० १)

'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति···तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् ।' (तै० सं० ६।४।७)

'तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत् ।' (सायण ऋग्भाष्य उपोद्घात, पूना संस्करण भाग १, पृष्ठ २६)

संस्कृते प्रकृतिप्रत्ययादिविभागैः संस्कारमापादिते···।' (शिक्षा प्रकाश, शिक्षा संग्रह पृ० ३८७)

२. 'वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृतान् ।'

(सुन्दरकाण्ड, ३०।१७)

काठक संहिता (१४।५) में भी दैवी वाक् के प्रतिपक्षरूप में लौकिक संस्कृत के लिए 'मानुषी' पद का व्यवहार मिलता है—

'तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति। दैवीं च मानुषीं च करोति।'

आचार्य यास्क और पाणिनि भी लौकिक-संकृत के लिए 'भाषा' शब्द का व्यवहार करते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा उस समय जन-साधारण की भाषा थी।

कल्पित काल विभाग

यह एक सर्वथा सत्य नियम है कि एक ही व्यक्ति जब विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का प्रवचन या रचना करता है, तो उनमें विषय भेद के कारण थोड़ा-बहुत भाषा भेद अवश्य रहता है। संस्कृतवाङ्मय में इसी प्रकार के भाषा-भेद को लेकर पाश्चात्य विद्वान् उक्त सत्य नियम की अवहेलना करके अपने अधूरे भाषाविज्ञान के आधार पर संस्कृतवाङ्मय के रचनाकालों का निर्धारण करते हैं। यथा—मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल आदि। किन्तु संस्कृतवाङ्मय के अध्ययन से ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय वाङ्मय के इतिहास में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रदर्शित कालविभाग कभी नहीं रहा। उन लोगों ने विकासवाद के असत्य सिद्धान्त को मानकर अनेक ऐतिह्य-विरुद्ध कल्पनायें की हैं। अपने मन्तव्य की पुष्टि में हम कतिपय प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

शाखा, ब्राह्मण, कल्पसूत्र और आयुर्वेद संहितायें समानकालिक

वेदों की शाखाएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ, कल्पसूत्र (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र) और आयुर्वेद की संहितायें आदि ग्रन्थ समानकालिक हैं। अर्थात् जिन ऋषियों ने शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन किया, उन्होंने ही कल्पसूत्र और आयुर्वेद की संहिताएँ रचीं।

आचार्य वात्स्यायन (आचार्य विष्णुगुप्तचाणक्योपनामक, १५०० वर्ष वि० पू०, पाश्चात्य ऐतिहासिकों के मत से लगभग २५० वर्ष वि० पू०) ने अपने न्यायभाष्य (२।१।६८) में लिखा है—

(क) द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्—य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्।

---

१. इवेति भाषायाम्। निरुक्त १।४। विभाषा भाषायाम्। अष्टा० ६।१।१७६।

अर्थात् जो आप्त ऋषि वेदार्थ के द्रष्टा और प्रवक्ता थे, वे ही आयुर्वेद के द्रष्टा और प्रवक्ता थे।

पुनः न्यायभाष्य (४।१।६२) में लिखा है—

(ख) द्रष्टृ प्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः । य एव मंत्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्म-शास्त्रस्य चेति ।

अर्थात् जो ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवक्ता थे, वे ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के प्रवक्ता थे।

इस सिद्धान्त की पुष्टि आयुर्वेदीय चरकसंहिता प्रथमाध्याय से भी होती है। उसमें आयुर्वेद की उन्नति और प्रचार के परामर्श के लिए एकत्रित होने वाले कुछ ऋषियों के नाम लिखे हैं। अन्त में उन सब का विशेषण 'ब्रह्मज्ञानस्य निधयः' दिया है।[1] उनमें अनेक ऋषि शाखा, ब्राह्मण और धर्मशास्त्र आदि के प्रवक्ता थे। आयुर्वेदीय हारीतसंहिता के प्रवक्ता महर्षि हारीत[2] का धर्मशास्त्र आज उपलब्ध है। वेद की हारीतसंहिता का उल्लेख अनेक वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[3] अतः आचार्य वात्स्यायन का उपर्युक्त लेख अत्यन्त प्रामाणिक है।

(ग) भारतयुद्धकालीन महामुनि जैमिनि ने पूर्वमीमांसा के कल्प-सूत्र-प्रामाण्याधिकरण में लिखा है—

अपि वा कर्तृसामान्यात् तत्प्रमाणमनुमानं स्यात् । (१।३।२)

अर्थात् कल्प सूत्रों (श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र) की जिन विधियों का मूल आम्नाय में नहीं मिलता, वे अप्रमाण नहीं हैं। आम्नाय और कल्पसूत्रों के कर्त्ता (प्रवक्ता) समान होने से आम्नाय में अनुक्त विधियों का भी प्रामाण्य है। अर्थात् जिन ऋषियों ने आम्नाय (वेद की शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों) का प्रवचन किया उन्होंने ही कल्पसूत्रों की भी रचना की। अतः यदि उनका वचन एक ग्रन्थ में प्रमाण है तो दूसरे में क्यों नहीं ?

(घ) पाणिनि का एक प्रसिद्ध सूत्र है—

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु । (४।३।१०५)

---

१. चरक सूत्रस्थान १।१३ । २. चरक सूत्रस्थान १।३० में स्मृत ।

३. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १४।१८ । इस पर भाष्यकार माहिषेय लिखता है—

हारीतस्याचार्यस्य शाखिनः……।

इस सूत्र में ब्राह्मणग्रन्थों और कल्प सूत्रों के पुराण प्रोक्त और नवीन प्रोक्त ये दो विभाग निर्दिष्ट हैं। भारतीय ऐतिह्यानुसार कृष्ण द्वैपायन व्यास के शिष्यप्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण और कल्प नवीन माने जाते हैं और कृष्ण द्वैपायन से पूर्ववर्ती सत्ताईस व्यासों तथा ऐतरेय शाटचायन आदि प्रोक्त प्राचीन कहे जाते हैं। पाणिनि के इस सूत्र से इतना स्पष्ट है कि अनेक ब्राह्मण और कल्प अपेक्षा कृत पुराण प्रोक्त हैं।

ऐसी अवस्था में शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्प सूत्र और आयुर्वेद की आर्षसंहिताओं के प्रवक्ता समान थे और उनका प्रवचन एक काल में हुआ था, यही मानना होगा। अतएव पाश्चात्य विद्वानों की काल-विभाग की कल्पना सर्वथा प्रमाणशून्य है।

संस्कृत भाषा का विकास

लौकिक संस्कृत भाषा का विकास वेद के आधार पर हुआ। वह भाषा आरम्भ में बहुत विस्तृत थी। उस समय लौकिक-वैदिक शब्दों का भेद नहीं था। वेद के वे समस्त शब्द जिन्हें सम्प्रति 'छान्दस' (अथवा वैदिक) मानते हैं, उस भाषा में साधारण रूप से प्रयुक्त थे। यह सब पहिले लिखा जा चुका है।

वेद की शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में शतशः ऐसे शब्द विद्यमान हैं जिन्हें पाणिनीय वैयाकरण छान्दस या आर्ष मान कर साधु मानते हैं। पतञ्जलि पाणिनीय सूत्रों में भी बहुत जगह छान्दस कार्य मानते हैं। निरुक्त कार यास्क मुनि स्पष्ट लिखते हैं—"**कई लौकिक शब्दों की मूल प्रकृति (धातु) का प्रयोग वेद में ही मिलता है। इसी प्रकार अनेक वैदिक शब्द विशुद्ध लौकिक धातु से निष्पन्न होते हैं।** इससे स्पष्ट सिद्ध है कि तत्तद् शब्द और धातुओं का प्रयोग लोक और वेद दोनों में समान रूप से अवश्य कभी होता रहा था; अन्यथा वैदिक धातु से निष्पन्न शब्दों का प्रयोग लोक में कैसे हो सकता है? और वैदिक शब्दों की निष्पत्ति लौकिक धातुओं से कैसे हो सकती है?

प्राकृत भाषा में विद्यमान शतशः प्रयोग की रूपसाम्यता वैदिक मान जाने वाले शब्दों के साथ है। इससे भी सिद्ध है कि उन वैदिक शब्दों का लोक में अवश्य प्रयोग होता था, अन्यथा उनसे अपभ्रंश शब्दों की उत्पत्ति कैसे हो सकती? क्योंकि अपभ्रंशों की उत्पति में, अज्ञानियों द्वारा किया गया लोक प्रयुक्त शब्दों का अयथार्थ उच्चारण ही कारण होता है।[1]

---

१. पारम्पर्यादपभ्रंशो विगुणेष्वभिधातृषु। वाक्यपदीय १।१५४॥

इससे एक तथ्य यह भी मानना पड़ेगा कि अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति का आरम्भ उस समय हुआ, जब संस्कृत भाषा में वैदिक माने जाने वाले पदों का व्यवहार विद्यमान था। उस समय संस्कृत भाषा इतनी संकुचित नहीं थी, जितनी आज-कल है। अति प्राचीनकाल में दो भाषाएँ थीं, आर्य-भाषा और म्लेच्छ-भाषा।[१] अपभ्रंशभाषाओं की उत्पत्ति त्रेतायुग के आरम्भ में हुई। वाल्मीकिकृत प्राकृत व्याकरण का विद्यमान होना भी इसमें प्रमाण है।

संस्कृत भाषा का ह्रास

जैसा कहा जा चुका है कि प्रारम्भ में संस्कृत भाषा अत्यन्त विस्तृत थी। सभी विद्याओं के पारिभाषिक एवं लोकोपयोगी शब्द इसमें वर्तमान थे। आज का छान्दस अथवा आर्ष माना जाने वाला कोई भी प्रयोग इससे बाहर नहीं था। सहस्रों वर्षों तक यह जगत् की एक मात्र बोल-चाल की भाषा रही। धीरे-धीरे इसमें देश, काल और परिस्थिति की भिन्नता तथा आर्य-संस्कृत के केन्द्र से दूरता के कारण परिवर्त्तन होने लगा, जिससे अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति हुई। सहस्रों वर्षों की लम्बी अवधि में उन अपभ्रंश भाषओं में भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक परिवर्त्तन हो गया। किन्तु आज भी संस्कृत भाषा के साथ उनकी तुलना करने पर पारस्परिक प्रकृति विकृति भाव स्पष्ट प्रतीत होता है। उनका प्राचीन स्वरूप वर्तमान की अपेक्षा संस्कृत भाषा के अधिक निकट था।

यास्कीय निरुक्त और पातञ्जल महाभाष्य से विदित होता है कि संस्कृत भाषा के विभिन्न शब्दों का विभिन्न देशों में प्रयोग नियत था।[२] उन-उन देशों में ज्यों-ज्यों म्लेच्छता की वृद्धि होती गयी त्यों-त्यों वहाँ से संस्कृत भाषा के लोप के साथ वे प्रयुज्यमान विशिष्ट प्रयोग लुप्त हो गये। इस प्रकार धीरे-धीरे संस्कृत भाषा और उसके प्रचार-क्षेत्र का महान् संकोच हो गया।

१. म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ मनुस्मृति १०।४५ ॥

२. अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते।······विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येयु। निरुक्त २।२ ॥

(ii) एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते शब्दास्तत्र तत्र नियत-विषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहितः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। महाभाष्य १।१।१ ॥

व्याकरण शास्त्र के आधार पर, संस्कृत भाषा से शब्दों के लोप और भाषा के संकोच के विविध प्रकार देखे जा सकते हैं। यथा—

१. यण् व्यवधान वाले 'दधियत्र मधुवत्र' आदि जैसे प्रयोगों का लोप— भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव द्वारा (६।१।७७) की वृत्ति में लिखित 'इकां यणभिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्' वार्तिक के अनुसार 'दध्यत्र मध्वत्र' प्रयोग-विषय में व्याडि और गालव आचार्यों के मत में 'दधियत्र मधुवत्र' प्रयोग भी होते थे। जैनेन्द्र व्याकरण के व्याख्याता अभयनन्दी, हेमचन्द्र और पाल्यकीर्ति आचार्यों ने भी इस यण्-व्यवधान पक्ष का निर्देश किया है। कालान्तर में लोक भाषा से ऐसे प्रयोगों का लोप हो जाने के कारण पाणिनि ने यद्यपि यण्व्यवधानपक्ष का साक्षात् निर्देश तो नहीं करते हैं तथापि 'भूवादयो धातवः' सूत्र में व्यार-व्यवधान का प्रयोग करते हुए यण् व्यवधानपक्ष को स्वीकार करते हुए- से अवश्य दिखायी पड़ रहे हैं।

इसी यण्व्यवधानपक्ष के नियम के अनुसार न्यङ्कु (नि+अङ्कु) शब्द का एक रूप 'नियङ्कुः' भी बनेगा। विकार या अवयव अर्थ में अञ् प्रत्यय करने पर 'नियङ्कु' से 'नैयङ्कवम्' और 'न्यङ्कु' से 'न्याङ्कवम' प्रयोग उत्पन्न होंगे। अर्थात् इन दोनों तद्धितप्रत्यान्तों की दो विभिन्न प्रकृतियाँ (न्यङ्कु और नियङ्कु) कभी भाषा में विद्यमान थीं। उनमें से यण्व्यवधान वाली 'नियङ्कु' प्रकृति का भाषा से उच्छेद हो जाने पर उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने दोनों तद्धित प्रत्ययान्तों का सम्बन्ध एक 'न्यङ्कु' शब्द से जोड़ दिया। फलतः पाणिनि के मत में न्यङ्कु+अञ्='नैयङ्कवम्' प्रयोग होता है और आपिशलि के मत में ऐज्भाव न होने से 'न्याङ्कवम्' बनता है।

पाणिनि द्वारा 'पदान्तरस्यान्यतरस्याम्' सूत्र से दर्शाये गये 'श्वापदम्' और 'शौवापदम्' के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण (२।१।२५) में मिलने वाले 'त्रैयम्बक' की प्रकृति 'त्र्यम्बक' नहीं 'त्रियम्बक' है। महाभाष्यकार ने 'इयङादि प्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्'[1] वार्तिक पर दर्शाये गये वैदिक उदाहरणों में 'त्र्यम्बकं यजामहे त्रियम्बकं यजामहे' लिखा है। वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के वाङ्मय में 'त्रियम्बक' पद का निर्बाध प्रयोग मिलता है।

२. समानार्थक दो शब्दों में से एक का लोप—यथा—'भेड़' अर्थ में 'अवि' और 'अविक' दोनों शब्दों का समान रूप से निर्बाध प्रयोग होता था। तद्धित प्रत्ययान्त 'आविकम्' की प्रकृति 'अविक' है और विग्रह है—'अवि-

---

१. महाभाष्य ६।४।७७ ॥

कस्य मांसम् । कालान्तर में भाषा से 'अविक' शब्द के प्रयोग का उच्छेद हो जाने पर वैयाकरणों ने 'आविकस्य मांसम्' विग्रह करना छोड़ दिया और अब वे 'अवि' शब्द से उसका सम्बन्ध जोड़कर 'अवेर्मांसम्' ऐसा ही विग्रह करते हैं। महाभाष्यकार ने अनेक स्थानों पर 'अविरविकन्याय' का उल्लेख करते हुए लिखा है—

'अवेर्मांसम्' इस विग्रह में 'अवि' शब्द से तद्धितोत्पत्ति न होकर 'अविक' शब्द से होगी। यहाँ स्पष्ट उन्होंने आविक की मूल प्रकृति 'अविक' मानी है।[1]

इसी प्रकार 'कन्या' के समानार्थक 'कनीना' शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होने से 'कानीनः' पद की निष्पत्ति होती है। वेद में कुमार अर्थ में 'कनीन' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता।[2] अवेस्ता में 'कनीना' का अपभ्रंश कन्यार्थक 'कइनीन' का प्रयोग बता रहा है कि ईरानियों की प्राचीन भाषा में 'कनीना' शब्द का प्रयोग था। भारतीय भाषा में 'कनीना' का व्यवहार न होने से पाणिनि आदि वैयाकरणों ने उससे निष्पन्न 'कानीन' का सम्बन्ध तत्समानार्थक 'कन्या' शब्द से जोड़ कर उसका विग्रह 'कनीनाया अपत्यम्' न करके 'कन्याया अपत्यम्' किया और 'कन्यायाः कनीन च' (४।१।११६) सूत्र से 'कन्या' के स्थान पर 'कनीन' आदेश का विधान कर उसका साधुत्व दर्शाया।

इसी प्रकार 'त्रि' शब्द का समानार्थक 'त्रय' शब्द एक स्वतन्त्र शब्द है।[3] वैदिक ग्रन्थों (ऋग्वेद १०।४५।२; ६।२।७; यजुर्वेद १२।१९; २०।११) में तथा 'सांख्य दर्शन' (५।११८) में एवं निरुक्त (९।२८) में इसका प्रयोग बहुधा मिलता है। लौकिक संस्कृत में 'त्रि' शब्द के षष्ठी के बहुवचन में 'त्रयाणाम्' प्रयोग होता है। इसके लिए पाणिनि ने ('त्रेस्त्रयः' ७।१।५३ सूत्र से) त्रय आदेश का विधान किया है। वेद में 'त्रीणाम्' और 'त्रयाणाम्' दोनों प्रयोग होते हैं। इनमें पहला 'त्रि' शब्द के षष्ठी बहुवचन का रूप है और दूसरा 'त्रय' शब्द का। ऐसा लगता है कि 'त्रीणाम्' का प्रयोग लोक में लुप्त हो गया और उसके स्थान पर 'त्रय' शब्द वाला 'त्रयाणाम्' का प्रयोग

---

१. महाभाष्य ४।१।८८; ४।२।६०; ४।२।१३१; ५।१।७; २८ इत्यादि।

२. ऋ० ३।४८।१; ८।६९।१४॥ 'कनीनकेव विद्रधे' (ऋ०४।३२।२३); 'कनीनके कन्यके'—(निरुक्त ४।१५)।

३. हेमचन्द्र ने उणादि ३६७ में अकारान्त 'त्रय' शब्द का साधुत्व दर्शाया है।

'व्यवहृत होने लगा एवं 'त्रय' की अन्यविभक्तियों के प्रयोग नष्ट हो गये। संस्कृत के लुप्त 'त्रीणाम्' का अपभ्रंश 'तिण्हम्' प्राकृत में प्रयुक्त होता है। तिण्हम्' का अपभ्रंश 'तीन्हों' भाषा में प्रयुक्त होता है।

व्याकरण शास्त्र का पर्यालोचन कर, संस्कृत भाषा से शब्दों के लोप और भाषा के संकोच के विविध अन्य प्रकार स्वयं पाठक देख सकते हैं। यह तो दिग्दर्शनमात्र है। विस्तार भय से प्रसङ्ग यहीं समाप्त किया जाता है।

लौकिक संस्कृत ग्रन्थों में अप्रयुक्त संस्कृत शब्दों का वर्तमान भाषाओं में प्रयोग

आज-कल लोक में अनेक शब्द ऐसे व्यवहृत होते हैं, जो शब्द और अर्थ की दृष्टि से विशुद्ध संस्कृत भाषा के हैं, परन्तु सम्प्रति संस्कृत भाषा में उनका प्रयोग उपलब्ध न होने से वे अपभ्रंश भाषाओं के समझे जाते हैं। यथा—

१. फारसी भाषा में पवित्र अर्थ में व्यवहृत होने वाले 'पाक' शब्द का उसी (पवित्र) अर्थ में प्रयोग वेद के 'यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः'[१] आदि अनेक अर्थों में मिलता है।

२. हिन्दी में प्रयुक्त 'घर' शब्द विशुद्ध संस्कृत शब्द है, गृह शब्द का अपभ्रंश नहीं। इसके लिए दशपादी-उणादि में विशेष सूत्र (हन्ते रन् घ च ८।१०४) है[२]। जैन संस्कृत ग्रन्थों में[३] तथा भास के नाटकों की प्राकृत में भी[४] इसका प्रयोग मिलता है।

संस्कृत के 'घर' शब्द का रूपान्तर प्राकृत में 'हर' होता है। यथा 'पईहर-पइहर', मारवाड़ी का 'पीहर' 'पितृघर' का रूपान्तर है। गृह का घर अथवा हर रूपान्तर क्लिष्ट कल्पना है।

३ युद्ध अर्थ में प्रयुक्त फारसी का 'जङ्ग' शब्द संस्कृत की 'जजियुद्धे' धातु का घञ् प्रत्ययान्त रूप है। मैत्रेयरक्षित के धातु प्रदीप पृष्ठ २५ में इस शब्द का साक्षात् निर्देश मिलता है।

४. फारसी में प्रयुक्त' बाज' शब्द गत्यर्थक 'वज' धातु का अण् प्रत्ययान्त रूप है, 'बवयोरभेदः' (ब और व का अभेद) से वाज और बाज दोनों एक ही हैं।

---

१. ऋग्वेद ७।१०४।८; अथर्व ८।४।८ ॥

२. क्षीरतरङ्गिणी १०।९८ में दुर्ग के मत में 'घर' स्वतन्त्र धातु मानी है।

३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह पृष्ठ १३; ३२ ॥

४. यज्ञफल नाटक पृष्ठ १६३ ॥

५. पञ्जाबी भाषा का बरात अर्थ में प्रयुक्त 'जञ्ञ' शब्द 'जजियुद्धे' धातु का ही घञन्त रूप है, निपातन से कुत्व नहीं हुआ। प्राचीन काल में स्वयंवर के अवसर पर प्रायः युद्ध होते थे अतः जञ्ज शब्द में युद्ध अर्थ निहित है। भट्ट यज्ञेश्वर ने गणरत्नावली में जञ्ज का अर्थ 'युद्ध' किया है। उसमें थोड़ी भूल है। वस्तुतः समानधातु और समान प्रत्यय से निष्पन्न होने पर भी वर्णमात्र के भेद से जङ्ग शब्द युद्ध का और जञ्ज शब्द बरात का वाचक है। जैसे गर और गल; ग्रह और ग्लह आदि।

६. हिन्दी की 'मानता है' क्रिया की मान धातु का प्रयोग जैन संस्कृत ग्रन्थों में बहुधा उपलब्ध होता है। (पुरातन प्रबन्ध संग्रह पृष्ठ १३, ३०, ३१, १०३ ॥ प्रबन्ध कोश पृष्ठ १०७ में)।

७. हिन्दी में 'ढूंढना' क्रिया का मूलधातु ढुढि अन्वेषणे—ढुण्ढति काशकृत्स्न धातुपाठ में उपलब्ध होता है।[1] स्कन्दपुराण काशी खण्ड में भी यह धातु स्मृत है।

८. संस्कृत भाषा में सार्वधातुक प्रत्ययों में (छकारादेश का विधान करने से) 'गच्छ' और आर्धधातुक प्रत्ययों में 'गम' का प्रयोग मिलता है। वस्तुतः गच्छ और गम दोनों स्वतन्त्र धातुएँ हैं। गच्छ के आर्धधातुक परे प्रयोग लौकिक संस्कृत में यद्यपि नहीं मिलते हैं तथापि पालिभाषा में 'गच्छिस्सन्ति' आदि, मण्डीराज्य (हिमाचल प्रदेश) की पहाड़ी भाषा में 'कुदर गच्छणा', पश्चिमी पंजाब की झेलम के आसपास की बोली में 'कुत्र गच्छणा वोय' और 'इदुर आगच्छणा वोय' प्रयोग होता है। ये संस्कृत के गच्छिष्यन्ति, गच्छनम्, आगच्छनम्, के अपभ्रंश हैं, 'गमिष्यन्ति, गमनम् आगमनम्' के नहीं। इसी प्रकार गम् के सार्वधातुक-प्रत्यय परे रहने पर 'गमति' आदि प्रयोग वेद में बहुधा मिलते हैं। इसी प्रकार पा, घ्रा आदि तथा पिब, जिघ्र आदि को भी अलग-अलग स्वतन्त्र धातु समझना चाहिए। समानार्थक दो धातुओं में से एक के सार्वधातुक में दूसरी के आर्धधातुक में प्रयोग नष्ट हो गये। उनके अन्वाख्यान के लिए नष्टाश्वदग्धरथन्याय से वैयाकरणों ने दोनों को एक साथ जोड़ दिया।

इसी प्रकार वैयाकरणों द्वारा वर्णलोप-वर्णागम-वर्णविकार आदि से निष्पन्न किये गये रूपान्तर भी मूल रूप में स्वतन्त्र धातुएँ हैं। कतिपय प्रयोग प्रस्तुत हैं:—

---

१. काशकृत्स्न धातुव्याख्यानम्, धातु सं० १।१६१ पृष्ठ २१।

(क) घ्रा के आदेशरूप में विहित जिघ्र के आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रयोग—

मूर्धन्यभिजिघ्राणम् । (गोभिल गृह्य २।८।२४)
वर्चसे हुम् इति अभिजिघ्रय । (हिरण्य० गृह्य २।४।२७)

(ख) घ्रा का सार्वधातुक प्रत्ययों में प्रयोग—
न पश्यति न चाघ्राति । (महा० शान्ति० १८७।१७)

(ग) ध्मा स्थानीय धम के आर्धधातुक में प्रयोग—
विधमिष्यामि जीमूतान् । (रामा० सुन्दर० ६७।१२)

(घ) ब्रूञ् धातु के आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रयोग—
ब्राह्मणो ब्रणवात् । (निरुक्त[1] ६।६)

(ङ) यज के सम्प्रसारण द्वारा विहित इज् का इज्यन्ति प्रयोग (महा० शान्ति० २६३।२६), इसी प्रकार वस् के उष का उष्य प्रयोग महा० वन० में बहुत्र मिलता है ।

(च) ग्रह का सम्प्रसारण और भकारादेश होकर निष्पन्न गृभ का 'गर्भोगृभेः' निरुक्त (१०।१३) में प्रयोग है । इसी 'गृभग्रहणे' धातु से ही फारसी में 'गिरिफ्त' शब्द बना है ।

(छ) वच को लुङ् में उम् आगम होकर निष्पन्न 'वोच' के वोचति आदि रूप में बहुधा मिलते हैं ।

६. विक्रम की १३ वीं शताब्दी से पूर्वभावी वैयाकरणों द्वारा भ्वादिगण में पाठित 'कृञ्' का प्रयोग संस्कृतग्रन्थों में प्रायः उपलब्ध नहीं होता ।[2] किन्तु प्राकृत भाषा में इसके प्रयोग प्रायः मिलते हैं । (अणुकरेदि अनुकरति) भासनाटक चक्र पृष्ठ २१८ । कर अन्तो (करन्तः) भासनाटक चक्र पृष्ठ ३३६ । हिन्दी में भी 'करता' शब्द उसी का अपभ्रंश है ।

१०. गत्यर्थक और हिंसार्थक हन् धातु का गत्यर्थ में प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं मिलता । गत्यर्थ में इसका प्रयोग साहित्यविशारदों की दृष्टि में दोष भी है । किन्तु हिसार जिले की ग्रामीण भाषा में इसके अपभ्रंश का प्रयोग पाया जाता है । जैसे 'कठे हणसे' आदि ।

---

१. निरुक्त का यही पाठ शुद्ध है क्यों की कुमारिल द्वारा उद्धृत है । वर्तमान पाठ 'ब्राह्मणा······ब्रुवाणाः' है, जो निश्चय ही अपपाठ है ।

२. देवीपुराण (देवी भागवत से भिन्न) में भौवादिक कृञ् का प्रयोग मिलता है—

······नानाबाधां करन्ति च ॥ (३५ । २७)

११. प्राकृत में रक्ष धातु के अपभ्रंश 'रक्ख' का प्रयोग 'रखना' अर्थ में प्रायः मिलता है। हिन्दी की 'रख' क्रिया प्राकृत की 'रक्ख' का अपभ्रंश है। अतः संस्कृत की 'रक्ष' धातु का मूल अर्थ 'रक्षा करना' और 'रखना' दोनों है किन्तु 'रखना' अर्थ में इसका प्रोग संस्कृत में नहीं मिलता।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि किसी समय संस्कृत भाषा अत्यन्त विस्तृत थी। संसार की समस्त भाषाओं पर उसका प्रभाव पड़ा। उसके कुछ शब्द अपभ्रंश भाषाओं में पहुँच कर अल्प विकार को प्राप्त हो गये, कुछ इतने अधिक विकृत हो गये कि आज उनके मूल स्वरूप का निर्धारण करना भी असम्भव है और बहुत से शब्द अभी तक अपभ्रंश भाषाओं में किञ्चित् भी विकृत न होकर अपने मूल रूप और मूल अर्थ में ही प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं। अतः अपभ्रंश भाषाओं में प्रयुक्त वा तत्सम का संस्कृत के किसी प्राचीन ग्रंथ में व्यवहार देख कर 'यह शब्द किसी अपभ्रंश भाषा से लिया गया है'– ऐसी कल्पना करना (जैसा कि पाश्चात्य विद्वान तथा तदनुयायी कतिपय भारतीय विद्वान् वेद में विदेशी-भाषाओं के अनेक शब्दों के सम्मिलित होने का उल्लेख करते भी हैं) नितान्त अनुचित एवम् अनभिज्ञतासूचक है। आज का युग संसार की मुख्य-मुख्य भाषाओं का इस दृष्टि से अध्ययन करने के लिए मनीषियों का आह्वान कर रहा है जिससे संस्कृत के सहस्रों लुप्त शब्दों का ज्ञान हो सके हो और सब भाषाओं का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट सिद्ध होने से संस्कृत भाषा की अपनी पुरानी गरिमा लोक में पुनः उजागर हो जाय।

द्वितीय अध्याय

व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति और प्राचीनता

आदिमूल—संसार में प्रवृत समस्त ज्ञान का आदिमूल, सर्वज्ञानमय वेद व्याकरण का भी आदि मूल है। वैदिकमन्त्रों में उपलब्ध अनेक पदों की व्युत्पत्तियों से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त[१] देवाः। (ऋ० १।१६४।५०)
ये सहांसि सहसा सहन्ते।[२] (ऋ० ६।६६।६)
पूर्वीरश्नन्तावश्विना।[3] (ऋ० ८।५।३१)
धान्यमसि धिनुहि[४] देवान्। (यजु० ।१।२०)
केतपूः केतंः नःपुवातु।[५] (यजु० ।११।७)
येन देवा पवित्रेणात्मानं पुनते[६] सदा। (साम०उ० ५।२।८।५)
तीर्थैस्तरन्ति।[७] (अथर्व० १८।४।८ ॥ इत्यादि)

महाभाष्यकार ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का वर्णन करते हुए **चत्वारिश्शृङ्गा, चत्वारि वाक्, उतत्वः, सक्तुमिव, सुदेवोऽसि** इन उद्धृत पाँच **मन्त्रों** की व्याख्या व्याकरणशास्त्र परक[८] की है। उनसे बहुत प्राचीन यास्क **ने भी चात्वारि वाक्** मन्त्र की व्याख्या व्याकरशास्त्र परक की है[६]। व्याकरण

---

१. **यज्ञः** कस्मात्? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः। निरुक्त ३।१६ ॥ **यजयाचयत०**। अष्टा० ३।३।६० ॥

२. सहधातोः 'असुन्' (दशपादी उणादि ६।४६, पञ्चपादी उणादि ४।१६४) इत्यसुन्।

३. अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम्। निरुक्त १२।१ ॥

४. धिनोतेर्धान्यम्। महाभाष्य ५।२।४ ॥

५. केतोपपदात् पुनातेः 'क्विप् च' (अष्टा० ३।२।७६) इति क्विप्।

६. पवित्रं पुनातेः। निरुक्त ५।६ ॥ पुनातेः ष्ट्रन् (अष्टा० ३।२।१८५, १८६ ॥

७. पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्। पञ्चपादी उणादि २।७ ॥

८. महाभाष्य १।१।१ ॥

६. नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः ॥ निरुक्त १३।२ ॥

पद जिस धातु से निष्पन्न होता है, उसका मूल-अर्थ में प्रयोग यजु० (१६।७७) में उपलब्ध होता है।[1]

व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति

व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति कब हुई, इस बात का उत्तर निश्चत तिथि के रूप में नहीं दिया जा सकता। उपलब्ध वैदिक पद पाठों (३२०० वि० पू०) की समीक्षा से पता चलता है कि उनकी रचना के पूर्व प्रकृति-प्रत्यय, धातु-उपसर्ग और समासघटित पूर्वोत्तर पदों का विभाग पूर्णतया निर्धारित हो चुका था। **ऋग्वेद पदपाठ** में इनका स्वरूप स्पष्ट दिखायी पड़ता है। **वाल्मीकीय-रामायण** में हनुमान की वाक्पटुकता 'नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम् ॥' (किष्किन्धाकाण्ड ३।२६) के द्वारा प्रतिपादित की गयी है। इससे विदित होता है कि श्रीराचन्द्र जी के काल में व्याकरण शास्त्र का सुव्यवस्थित पठन-पाठन होता था। यास्क ने अपने निरुक्त में अनेक वैयाकरणों का उल्लेख किया है। **शाकटायन व्याकरण** भी यास्क से पूर्व बन चुका था। महाभाष्य (१।१।१) के 'पुराकल्प एतदासीत्, संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते' वचन के अनुसार अत्यन्त प्राचीनकाल में व्याकरण का पठन-पाठन प्रचलित था। इन प्रमाणों से इतना निस्सन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीनकाल में हो गयी थी और त्रेता युग के आरम्भ में वह ग्रन्थरूप में सुव्यवस्थित हो चुका था।

व्याकरण शास्त्र और उसके लिए व्याकरण का प्रयोग रामायण (किष्कि० ३।२६), गोपथ ब्राह्मण (पू० १।२४), मुण्डकोपनिषद् (१।१) और महाभारत (उद्योग० ४३।६१) आदि ग्रन्थों में मिलता है।

शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, कल्प और ज्योतिष इन छः वेदाङ्गों का षडङ्ग शब्द से निर्देश गोपथ ब्राह्मण, बौधायनधर्मशास्त्र, गौतमधर्मशास्त्र, रामायण आदि में प्रायः मिलता है। महाभाष्य में भी 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस उद्धृत आगमवचन में षडङ्ग शब्द से वेदाङ्गों का निर्देश है।

व्याकरण शास्त्र ही नहीं, पाणिनीयतन्त्र में स्मृत अनेक अन्वर्थ संज्ञाएँ भी अत्यन्त प्राचीन हैं। कतिपय संज्ञाओं का निर्देश गोपथ ब्राह्मण (पू० १।२४) में मिलता है। मैत्रायणी संहिता (१।७।३) में विभक्ति-संज्ञा का

---

१. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।

और ऐतरेय ब्राह्मण (७।७) में विभक्ति रूप से सप्तधा विभक्त वाणी का उल्लेख है।

सम्प्रति उपलब्ध भारतीय मूल वेदातिरिक्त वैदिकवाङ्मय में व्याकरण शास्त्र का उल्लेख उसकी प्राचीनता सिद्ध करता है। अतः जहा जा सकता है कि कृष्ण द्वैपायन के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त समस्त आर्ष वैदिक-वाङ्मय की रचना से पूर्व व्याकरण शास्त्र पूर्णरूपेण व्यवस्थित होकर पठन-पाठन में व्यवहृत होने लगा गया था।

व्याकरण शास्त्र का प्रथम प्रवक्ता—ब्रह्मा

ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्य। (ऋक्तन्त्र १।४)

इस वचन के अनुसार व्याकरण के एकदेश अक्षर समाम्नाय का सर्वप्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा है। युवान् चांग (ह्यूनसांग) ने भी अपने भारत-विवरण में (पृष्ठ १०६, इण्यिन प्रेस प्रयाग, मुद्रित सन् १९२६) पाणिनि के प्रकरण में ब्रह्मदेवकृत व्याकरण का निर्देश किया है।

इस कल्प के विगत जलप्लावन के पश्चात् होने वाला, सब विद्याओं का आदि प्रवक्ता यह ब्रह्मा निश्चित ऐतिहासिक व्यक्ति है। इसका काल कम से कम सोलह सहस्र पूर्व है। उत्तर काल में यह नाम उपाधि रूप में अनेक व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ।

ब्रह्मा द्वारा किया गया सकलविद्याओं का विस्तृत आदि प्रवचन शास्त्र अथवा शासन नाम से प्रसिद्ध हुआ। उत्तरवर्ती समस्त प्रवचन ब्रह्मा के ही आदि प्रवचन के अनुसार होने तथा उत्तरोत्तर संक्षिप्त होने के कारण अनुशास्त्र, अनुतन्त्र अथवा अनुशासन कहे जाते हैं। इनके लिए शास्त्र अथवा तन्त्र शब्द का प्रयोग गौणीवृत्ति से किया जाता है।[1]

पं० भगवद्दत्त जी ने 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' के द्वितीय भाग अध्याय ४ में ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त बाईस शास्त्रों का सप्रमाण उल्लेख किया है।

द्वितीय प्रवक्ता—बृहस्पति

ऋक्तन्त्र के उपर्युक्त वचन के अनुसार व्याकरण शास्त्र का द्वितीय प्रवक्ता बृहस्पति है। इसके व्याकरण शास्त्र के प्रवक्ता होने की पुष्टि ब्रह्मवैवर्त प्रकृतिखण्ड (अ० ८।२८) में मिले व्याकरण शास्त्र के एतत्सम्बन्धी प्रवचन के

---

१. तन्त्रमिव तन्त्रम्।

[illegible] से भी होती है। ब्राह्मणग्रन्थों में इसे देवों का पुरोहित कहा गया है।[1] यह आङ्गिरस, सुराचार्य और वाक्पति आदि अनेक नामों से भी प्रसिद्ध है।

पतञ्जलि मुनि ने अपने महाभाष्य में लिखा है—

"बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द-पारायणं प्रोवाच।" (१।१।१)

अर्थात् बृहस्पति ने इन्द्र को दिव्य (अर्थात् सौर) सहस्र वर्ष तक प्रतिपद व्याकरण का उपदेश किया था।

महाभाष्य की व्याख्या में भर्तृहरि ने लिखा है——

'शब्दपारायणं' रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य।

इससे प्रतीत होता है कि बृहस्पति के व्याकरण शास्त्र का नाम शब्द पारायण था।

प्रतिपद-पाठ का स्वरूप क्या था, ज्ञात नहीं। सम्भव है समान रूप वाले नामों और आख्यातों का संग्रह रूप रहा हो। आज भी कतिपय शब्दों और धातुओं का रूप छात्रों को स्मरण करा के तत्सदृश रूप वाले शब्दों और धातुओं का परिगणन करा देते हैं।

व्याकरण के अतिरिक्त अन्य वेदाङ्गों, अर्थशास्त्र, सामगान, इतिहास-पुराण, वास्तुशास्त्र, अगदतन्त्र आदि अनेक शास्त्रों का बृहस्पति ने प्रवचन किया था, ऐसा निर्देश विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

व्याकरण का आदि संस्कर्त्ता—इन्द्र

महाभाष्य से विदित होता है कि बृहस्पति ने इन्द्र को प्रतिपद पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था। उस समय तक प्रकृति-प्रत्यय विभाग नहीं हुआ था। देवों की प्रार्थना पर इन्द्र ने प्रतिपद पाठरूपी दुरूह प्रक्रिया के स्थान पर प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा शब्दोपदेश की एक सरल प्रक्रिया की सर्वप्रथम कल्पना की। तैत्तिरीय संहिता (६।४।७) में लिखा है—

'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति······तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।'

इसी व्याख्या में सायणाचार्य ने लिखा है—

'तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।'

---

१. बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः। ऐतरेय ब्राह्मण ८।२६॥

पाणिनि से प्राचीन ८५ व्याकरण प्रवक्ता

व्याकरण शास्त्र में दो सम्प्रदाय—ऐन्द्र और माहेश्वर (अथवा शैव) प्रसिद्ध हैं। कातन्त्र-व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का माना जाता है और पणिनीय व्याकरण शैव सम्प्रदाय का। ऐन्द्र तन्त्र के अनन्तर व्याकरण शास्त्र के अनेक प्रवचनकर्त्ता हुए। प्रवचन भेद से अनेक व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई। इन्द्र से लेकर आज तक कितने व्याकरण बने, यह अज्ञात है। पाणिनि ने दस प्राचीन आचार्यों का अपने शास्त्र में नामोल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त पाणिनि से प्राचीन सोलह आचार्यों का उल्लेख प्राचीन विभिन्न ग्रंथों में मिलता है। उपलब्ध प्रातिशाख्यों और अन्य वैदिक व्याकरणों में ५९ प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें से पुनरुक्त नामों को निकाल देने पर कुल लगभग ८५ प्राचीन व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों के नाम ज्ञात हैं। इस ग्रन्थ में कतिपय आचार्यों का ही विशेष वर्णन किया जायगा जो मुख्य हैं और जिनके व्याकरण प्रवक्ता होने में अन्य सुदृढ़ प्रमाण मिलते हैं। शेष का नामोल्लेख मात्र रहेगा।

आठ व्याकरण-प्रवक्ता

विभिन्न ग्रन्थों में आठ शाब्दिकों का उल्लेख मिलता है; किन्तु उनकी नामावली में भेद है।

(१) 'हैमबृहद् वृत्त्यवचूर्णि' में ब्राह्म, ऐशान (अर्थात् शैव) ऐन्द्र, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, त्वाष्ट्र, आपिशल और पाणिनीय ये आठ व्याकरण गिनाये हैं।

'ब्राह्ममैशानमैन्द्रं च प्राजापत्यं बृहस्पतिम्।
त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम्॥'

(२) ऋग्वेदकल्पद्रुम में यामलाष्टक तन्त्र निर्दिष्ट आठ उद्धृत व्याकरण—

ब्राह्म, चान्द्र, याम्य, रौद्र, वायव्य, वारुण, सौम्य, वैष्णव।

(३) बोपदेव द्वारा 'कवि कल्पद्रुम' के आरम्भ में उल्लिखित आठ वैयाकरण—

'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः।'

यहाँ 'शाकटायन' से अर्वाचीन जैन शाकटायन अभिप्रेत है या प्राचीन वैदिक शाकटायन, यह स्पष्ट नहीं है।

(४) सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजविरचित) की एक टीका में तथा भास्कराचार्य प्रणीत लीलावती के किसी-किसी हस्तलेख के अन्त में 'अष्ट व्याकरण' का उल्लेख मिलता है।

(५) विक्रम की षष्ठशताब्दी या उससे पूर्वभावी निरुक्त वृत्तिकार दुर्गाचार्य 'व्याकरणमष्टप्रभेदम्' इतना ही संकेत करता है। उसके मत में आठ व्याकरण कौन से थे, अज्ञात है। यदि बोपदेववाली पूर्वोक्त सूची दुर्गाचार्य को भी अभीष्ट रही होगी, ऐसा माना जाय तो शाकटायन को प्राचीन वैदिक शाकटायन ही मानना पड़ेगा क्योंकि अर्वाचीन जैन शाकटायन दुर्गाचार्य के बाद विक्रम की नवीं शताब्दी का है।[१]

अमर शब्द से सम्भवतः नामलिङ्गानुशासनकार अमरसिंह अभिप्रेत है। अमरसिंहकृत शब्दानुशासन का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

नव व्याकरण

'नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधाश्रुतम्' (किष्कि० ३।२६) बाल्मीकीय रामायण के इस वचन से विदित होता है कि श्रीराम के काल में अनेक व्याकरण विद्यमान थे। रामायण उत्तरकाण्ड में नव व्याकरण का उल्लेख है—

'सोऽयं नवव्याकरणार्थवेत्ता' (३६।४७)। ये नव व्याकरण कौन से थे, ज्ञात नहीं। 'गीतासार' नामक ग्रन्थ में नव व्याकरण का उल्लेख है। इसका काल अज्ञात है।

श्री तत्त्वविधि नामक वैष्णव ग्रन्थ में नव व्याकरणों का उल्लेख है—

'ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम् ॥"

पाँच व्याकरण

काशिका वृत्ति (४।२।६०) में पाँच व्याकरणों का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः ये ऐन्द्र, चान्द्र, पाणिनीय, काशकृत्स्न और आपिशल होंगे।

व्याकरणशास्त्रों के विभाग

आज तक बने व्याकरणशास्त्रों को तीन विभागों में बाँट सकते हैं—

१. छान्दसमात्र (अथवा वैदिकमात्र)—प्रातिशाख्यादि।

२. लौकिकमात्र—कातन्त्रादि।

३. लौकिक वैदिक उभयविध—आपिशल, पाणिनीयादि।

---

१. जैनसाहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण पृ० १६०, द्वितीय संस्करण पृष्ठ १६६।

व्याकरण-प्रवक्ताओं के विभाग

इस समय तक के ज्ञात व्याकरण प्रवक्ताओं को दो भागों में बांट सकते हैं—

१. पाणिनि से प्राचीन । २. पाणिनि से अर्वाचीन ।

पाणिनि से प्राचीन आचार्य

पाणिनि द्वारा अपने शब्दानुशासन में उल्लिखित दस आचार्य—आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन ।

अन्यत्र उल्लिखित सोलह आचार्य—शिव (अर्थात् महेश्वर), बृहस्पति, इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, शन्तनु, वैयाघ्रपद्य, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनकि, गोतम और व्याडि ।

प्रातिशाख्य आदि वैदिक व्याकरण प्रवक्ता

प्रातिशाख्यों में व्याकरण शास्त्र के प्रमुख उद्देश्यभूत प्रकृतिप्रत्ययरूप व्याकृति का निर्देश न होने से यद्यपि इन्हें वैदिक व्याकरण नहीं कह सकते और न ही किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने इनका व्याकरण नाम से स्मरण किया है, तथापि इनमें व्याकरण के एकदेश सन्धि आदि का निर्देश होने से ये लोक में सामान्यतः वैदिक व्याकरण रूप में प्रसिद्ध हैं, इसलिए व्याकरण शास्त्र के इतिहास में यथास्थान इन ग्रन्थों का भी संक्षिप्त वर्णन करेंगे ।

इन प्रातिशाख्य आदि वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित ५६ आचार्यों की नामावली—

१. अग्निवेश्य
२. अग्निवेश्यायन
३. अन्यतरेय
४. आगस्त्य
५. आत्रेय
६. इन्द्र
७. उख्य
८. उत्तमोत्तरीय
९. औदव्रजि
१०. औपशवि
११. काण्डमायन
१२. कात्यायन
१३. काण्व
१४. काश्यप
१५. कौण्डिन्य
१६. कौहलीपुत्र
१७. गार्ग्य
१८. गौतम
१९. जातूकर्ण्य
२०. तैत्तिरीयक
२१. दाल्भ्य
२२. नैगी
२३. पञ्चाल
२४. पाणिनि

२५. पौष्करसादि
२६. प्राच्य पञ्चाल
२७. प्लाक्षायण
२८. प्लाक्षि
२९. बाभ्रव्य
३०. बृहस्पति
३१. ब्रह्मा
३२. भरद्वाज
३३. भारद्वाज
३४. माक्षव्य
३५. माचाकीय
३६. माण्डूकेय
३७. माध्यन्दिन
३८. मीमांसक
३९. यास्क
४०. वाडवी (भी) कर
४१. वात्सप्र
४२. वाल्मीकि
४३. वेदमित्र
४४. व्याडि
४५. शाकटायन
४६. शाकल
४७. शाकल्य
४८. शाकल्यपिता
४९. शांखमित्रि
५०. शांखायन
५१. शूरवीर
५२. शूरवीरसुत
५३. शैत्यायन
५४. शौकन
५५. स्थविर कौण्डिन्य
५६. स्थविर शाकल्य
५७. सांकृत्य
५८. हारीत
५९. नकुलमुख

उक्त ५९ आचार्यों में अनेक आचार्य व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ता रहे होंगे। प्रसिद्धि आचार्यों के विषय में यथास्थान संक्षेप में लिखेंगे जिनके विषय में अल्प सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध हैं।

पाणिनि से अर्वाचीन आचार्य

१.	कातन्त्र
२. चन्द्रगोमी	चान्द्र
३. क्षपंणक	क्षपणक
४. देवनन्दी (दिग्वस्त्र)	जैनेन्द्र
५. वामन	विश्रान्त विद्याधर
६. अकलङ्क	अकलङ्क व्याकरण
७. पाल्यकीर्त्ति	जैन शाकटायन
८. शिव स्वामी	....
९. भोजदेव	सरस्वती कण्ठाभरण
१०. बुद्धिसागर सूरि	....

११. भद्रेश्वर सूरि	दीपक
१२. वर्धमान	....
१३. हेमचन्द्र सूरि	हैम व्याकरण
१४. मलयगिरि	....
१५. क्रमदीश्वर	संक्षिप्तसार
१६. सारस्वत व्याकरणकार	
१७. बोपदेव	मुग्धबोध
१८. पद्मनाभ	सुपद्म

इनसे अतिरिक्त अर्वाचीन आचार्यों के ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण अथवा अप्रसिद्ध हैं अतः उन्हें छोड़ दिया गया है।

तृतीय अध्याय

पाणिनीयाष्टक में अनुल्लिखित प्राचीन आचार्य

अब पाणिनि से प्राचीन व्याकरणशास्त्रप्रवक्ता आचार्यों का वर्णन किया जा रहा है जिनका उल्लेख पाणिनीय अष्टाध्यायी में नहीं मिलता है।

१. शिव महेश्वर (११५०० वि० पू०)

(क) महाभारत में शिव को षडङ्ग का प्रवर्त्तक कहा गया है—

'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य' (शान्ति० २८४।९२)

षडङ्ग के अन्तर्गत व्याकरण प्रधान अङ्ग है। अतः शिव का व्याकरण प्रवक्तृत्व स्पष्ट है।

(ख) श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा के अन्त में लिखा है—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

इस आधार पर चतुर्दश प्रत्याहारसूत्र, माहेश्वरसूत्र या शिवसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(ग) हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में उल्लिखित आठ व्याकरणों में ऐशान अर्थात ईशान (शिव) प्रोक्त व्याकरण भी परिगणित है।

(घ) ऋग्वेद कल्पद्रुम में यामलाष्टक तन्त्र निर्दिष्ट आठ व्याकरण उद्धृत हैं उनमें एक रौद्र अर्थात् रुद्र (शिव) प्रोक्त व्याकरण भी है।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि शिव ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन अवश्य किया था। वह माहेश्वर व्याकरण अत्यन्त विशाल था। ऐसा सारस्वत भाष्य में लिखित श्लोक से ज्ञात होता है—

समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।
तद्भागभागाच्च गतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ ॥

कहीं-कहीं इसका पाठ इस प्रकार मिलता है—

समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे ततोऽम्बुकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दुग्रथितं हि पाणिनौ ॥

परिचय

ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार शिव की माता का नाम सुरभि और पिता का नाम प्रजापति कश्यप था। शिव के १० सहोदर भाई थे। ये सब मिल कर एकादशरुद्र कहे जाते हैं।

यों तो महाभारत के अनुसार शिव के १००८ नाम हैं किन्तु शिव, शर्व, भव, शंकर, शम्भु, पिनाकी, शूलपाणि, महेश्वर, महादेव, स्थाणु, गिरीश, विशालाक्ष और त्र्यम्बक आदि प्रधान और प्रसिद्धतम नाम हैं।

शिव जन्म से ही परम ज्ञानी थे। उन्होंने किसी से विद्याध्ययन नहीं किया था, वे साक्षात्कृत धर्मा थे।

असाधारण अखण्ड ब्रह्मचर्य, योगज शक्ति और रसायन के सेवन से शिव ने मृत्यु को जीत लिया था। इसी से उन्हें मृत्युञ्जय कहा जाता है। वे असाधारण दीर्घजीवी थे।

महाभारत के अनुसार शिव सांख्ययोग, सर्वविध शिल्प और वेदाङ्ग के प्रवर्तक एवं गीतवादित्र के तत्त्वज्ञ थे। सात महान् वेद पारगों में उनकी गणना की गयी है।

यादव प्रकाशकृत पिङ्गल छन्दःशास्त्र की टीका के अन्त में उल्लिखित श्लोकों के अनुसार शिव ने बृहस्पति, गुह, पार्वती और नन्दी को छन्दशास्त्र का उपदेश किया था। नन्दी शिव का प्रियतम शिष्य एवम् अनुचर था।

शिव प्रोक्त अन्य शास्त्रों में आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, वास्तुशास्त्र, वाट्यशास्त्र और छन्दशास्त्र प्रमुख हैं।

शिव का काल सतयुग का चतुर्थ चरण है। इस प्रकार उनका प्रादुर्भाव आज से लगभग ११ सहस्र पूर्व है।

२. बृहस्पति (१०००० वि० पू०)

बृहस्पति के विषय में इससे पूर्व अध्याय में लिखा जा चुका है। वहीं देखें।

३. इन्द्र (९५०० वि० पू०)

पूर्व अध्याय में इतना लिखा जा चुका है कि देवों की प्रार्थना पर देवराज इन्द्र ने सर्वप्रथम व्याकरणशास्त्र की रचना की। उससे पूर्व संस्कृत भाषा अव्याकृत थी। इन्द्र ने सर्वप्रथम पदों के प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा शब्दोपदेश प्रक्रिया की कल्पना की। तैत्तिरीय संहिता (६।४।७) में इसे ही स्पष्ट किया गया है—

'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।'

इसी को अधिक स्पष्ट करते हुए सायणाचार्य कहते हैं—

'तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।

परिचय

इन्द्र, कश्यप प्रजापति और अदिति के पुत्र प्रसिद्ध हैं। अदिति दक्ष प्रजापति की कन्या थी। इन्द्र के ग्यारह सहोदर भाई कहे जाते हैं। ये सब अदिति की सन्तान होने से आदित्य कहे जाते हैं।

इन्द्र ने प्रजापति (सम्भवतः कश्यप प्रजापति) से आत्मज्ञान और मीमांसाशास्त्र, बृहस्पति से शब्दशास्त्र, नीतिशास्त्र और छन्दःशास्त्र, अश्विनीकुमारों से आयुर्वेद और मृत्यु (यम) से पुराण का अध्ययन किया ा।

जैमिनीय ब्राह्मण (२।७६) के अनुसार इन्द्र सुदीर्घकाल तक देवासुर संग्राम में संलग्न होने से वेद-विमुख हो गये थे। उन देवासुरसंग्राम के समाप्त होने पर उन्होंने अपने शिष्य विश्वामित्र (कौशिक) से वेदों का अध्ययन किया।

इन्द्र के शिष्यों की भी एक लम्बी सूची है। कौशिक विश्वामित्र ने इन्द्र से यज्ञ और अध्यात्मविद्या पढ़ी थी। भरद्वाज (आङ्गिरस बृहस्पति का पुत्र) ने शब्दशास्त्र और आयुर्वेद और धन्वन्तरि ने इन्द्र से शल्यचिकित्सा सीखी थी। इन्द्र ने कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु को आयुर्वेद पढ़ाया था। वायुपुराण के अनुसार इन्द्र ने वसिष्ठ को पुग्गणोपदेश किया था। पिङ्गल छन्द टीकाकार यादव प्रकाश के मत में इन्द्र ने शुक्राचार्य को छन्दशास्त्र पढ़ाया था। श्लोक वार्तिक के टीकाकार पार्थसारथि मिश्र द्वारा उद्धृत वचन के अनुसार इन्द्र ने आदित्य को मीमांसाशास्त्र पढ़ाया था।

ब्रह्मचर्य पालन एवं रसायनों के सेवन से इन्द्र स्वयं अत्यन्त दीर्घायु प्राप्त की थी और अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को भी दीर्घायुष्य प्राप्त कराया था।

भारतवर्ष के उत्तर में हिमवत् पार्श्व में निवास करने वाली आर्य जाति 'देव' कहाती थी। इन्द्र उसके अधिपति थे।

इन्द्र का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून साढे नौ सहस्र ६५०० वर्ष पूर्व सुनिश्चित है। इससे अधिक प्राचीन हो सकता है, कम नहीं।

ऐन्द्र व्याकरण

कथासरित्सागर के अनुसार ऐन्द्र तन्त्र पुराकाल में ही नष्ट हो गया था, किन्तु इसका उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। यथा—

(i) जैन शाकटायन व्याकरण (१।२।३७) में इन्द्र का मत उद्धृत है।

(ii) लङ्कावतार सूत्र में ऐन्द्र शब्दशास्त्र स्मृत है।

(iii) सोमदेवसूरि विरचित यशस्तिलकचम्पू में ऐन्द्र व्याकरण का निर्देश है।

(iv) हैमबृहद्वृत्यवचूर्णि में ऐन्द्र व्याकरण का संकेत मिलता है।

(v) महाभारत टीका के प्रारम्भ में देवबोध ने 'माहेन्द्र' नाम से ऐन्द्र व्याकरण का निर्देश किया है।

(vi) कवि कल्पद्रुम के प्रारम्भ में वोपदेव ने आठ वैयाकरणों में इन्द्र का नाम लिखा है।

(vii) इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध मुसलमानयात्री अल्बेरूनी ने अपनी भारत यात्रा के वर्णन में ऐन्द्र तन्त्र का उल्लेख किया है।

इन सब प्रमाणों से विदित होता है कि इन्द्र ने किसी व्याकरण का उपदेश अवश्य किया था। वह ऐन्द्र व्याकरण अपने विषय का अत्यन्त विस्तृत प्रथम ग्रन्थ था। उसके विस्तार की कल्पना १२वीं शताब्दी से पूर्वभावी महाभारत के टीकाकार देवबोध के निम्नलिखित श्लोक से सहज में की जा सकती है—

"यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनि गोष्पदे॥"

तिब्बतीय ग्रन्थों के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण का परिमाण २५ सहस्रश्लोक था। पाणिनीय व्याकरण का परिमाण लगभग एक सहस्र श्लोक है। इस प्रकार ऐन्द्रव्याकरण, पाणिनीय व्याकरण से लगभग २५ गुना बड़ा रहा होगा।

ऐन्द्र व्याकर के उपलब्ध दो सूत्र

प्रथमसूत्र—भट्टारक हरिश्चन्द्र ने अपनी चरकव्याख्या में लिखा है—

शास्त्रेष्वपि 'अथवर्णसमूह' इति ऐन्द्रव्याकरणस्य।

तदनुसार ऐन्द्र व्याकरण का प्रथम सूत्र था 'अथ वर्णसमूहः।

इससे विदित होता है कि ऐन्द्र व्याकरण में भी पाणिनीय अष्टाध्यायी के समान प्रारम्भ में अक्षरसमाम्नाय का उपदेश था। लाघव के लिए व्याकरण ग्रन्थों के प्रारम्भ में अक्षरसमाम्नाय के उपदेश की शैली बहुत प्राचीन है। ऋक्तन्त्र तथा ऋक् प्रातिशाख्य आदि में भी अक्षरसमाम्नाय का उल्लेख मिलता है। ऐन्द्र सम्प्रदाय के कातन्त्र में 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' सूत्र में लोकविदित वर्णक्रम की ओर संकेत है, अतः बहुत सम्भव है कि ऐन्द्रतन्त्र का वह वर्ण समूह पाणिनीय अक्षरसमाम्नाय की तरह विशिष्ट क्रम से निर्दिष्ट न हो कर लोक प्रसिद्ध क्रम के अनुसार रहा हो।

द्वितीय सूत्र—दुर्गाचार्य की निरुक्तवृत्ति के प्रारम्भ में ऐन्द्र व्याकरण का एक सूत्र उद्धृत है—

नैकं पद जातम्, यथा 'अर्थः पदम्' इत्यैन्द्राणाम्।

अर्थात् ऐन्द्र व्याकरण में सब अर्थवान् वर्णसमुदायों की पद संज्ञा होती है, वहाँ नैरुक्तों तथा अन्य वैयाकरणों की तरह नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार विभाग नहीं हैं ।

ऐन्द्र और कातन्त्र का भेद

कातन्त्र को ऐन्द्र तन्त्र मानना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि भट्टारक-हरिश्चन्द्र और दुर्गाचार्य जैसे प्रामाणिक आचार्यों ने ऐन्द्र व्याकरण के जो सूत्र उद्धृत किये हैं, जिनका निर्देश ऊपर किया जा चुका है, वे कातन्त्र व्याकरण में उपलब्ध नहीं होते । भट्टारक हरिश्चन्द्र द्वारा उद्धृत 'अथ वर्णसमूहः' सूत्र के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण में 'वर्ण समूह' का निर्देश था किन्तु कातन्त्र में उसका अभाव स्पष्ट है । प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार ऐन्द्र तन्त्र पाणिनीय तन्त्र से लगभग २५ गुना बड़ा था किन्तु कातन्त्र पाणिनीय तन्त्र का चतुर्थांश भी नहीं है ।

ऐन्द्रव्याकरण और जैन परम्परा

जैन परम्परा के अनुसार महावीर स्वामी ने इन्द्र के लिए व्याकरण का आरम्भिक उपदेश किया था । तदनुसार जैनेन्द्र व्याकरण महावीर स्वामिप्रोक्त है अतः वही 'ऐन्द्र' का वास्तविक रूप है । वस्तुतः यह मत अयुक्त है ।

अत्यन्त प्राचीन वैदिक ग्रन्थकारों के मतानुसार इन्द्र के व्याकरण शास्त्रोपदेष्टा बृहस्पति थे, महावीर स्वामी नहीं । तथागत बुद्ध के समकालीन महावीर स्वामी से कई सहस्र पूर्व इन्द्र अपना व्याकरण लिख चुके थे । जैनेन्द्रव्याकरण के रचयिता आचार्य पूज्यपाद जी हैं जिनका दूसरा नाम देवनन्दी था ।

अन्य कृतियाँ

इन्द्र ने अपने समय के सभी ज्ञान-विज्ञान का पूर्णतया उद्धार कर आर्ष परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया । इन्द्र को आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, मीमांसा-शास्त्र, छन्दशास्त्र, पुराण और गाथाओं का भी प्रगाता या प्रवक्ता कहा गया है । इन्द्र के लिए यह कोई असम्भव कार्य नहीं है; क्योंकि वे कम से कम छः सात सौ वर्ष अवश्य जीवित रहे होंगे । उन्होंने केवल अध्यात्मज्ञान के लिए १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन किया था । तैत्तिरीयब्राह्मण (३।१०।११) के अनुसार भरद्वाज को तृतीय पुरुषायुष की समाप्ति पर इन्द्र ने वेद की अनन्तता का उपदेश किया था । चरक चिकित्सा स्थान अ० १ में एक सहस्र वर्ष की आयु प्रदान करने वाले इन्द्रोक्तरसायनों का उल्लेख है । इन रसायनों के

सेवन से दीर्घायुष्य प्राप्त करने वाले इन्द्र के उक्त विविध विषयों के प्रवक्तृत्व में ऐसी सम्भावना करना कि इन्द्र नाम के कई आचार्य हुए होंगे—ठीक नहीं है।

४. वायु (८५०० वि० पू०)

तैत्तिरीयसंहिता (६।४।७ के) अनुसार इन्द्र ने वाणी को व्याकृत करने में वायु से सहायता ली थी। अतः व्याकरण की रचना में इन्द्र को सहयोग देने वाला वायु भी इन्द्र के समान ही निस्सन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति है। देववाणी के व्याकरण की सर्वप्रथम रचना इन्द्र और वायु ने मिल कर की; इसी लिए कई स्थलों में वाणी के लिए 'वाग् वा ऐन्द्रवायवः' आदि प्रयोग मिलते हैं। वायु पुराण (२।४४) में इसे 'शब्द शास्त्र विशारद' कहा गया है। यामलाष्टक तन्त्र में उल्लिखित आठ व्याकरणों में वायव्य व्याकरण अन्यतम है।

वायुपुराण के अनुसार ब्रह्मा ने वायु के लिए पुराण का प्रवचन किया था और वायु से उशना कवि ने पुराण ज्ञान प्राप्त किया था। वायु के नगर का नाम वायुपुर था। महाभारत शान्तिपर्व (१५।१७) के अनुसार वायु महान् योद्धा भी था। यह पुराण तथा गाथाओं का प्रवक्ता अथवा प्रगाता भी माना गया है। इसकी स्त्री का नाम अञ्जनी था। इसका पुत्र हनुमान् पिता के समान ही महान् बलवान् और विद्वान् था।

५. भरद्वाज (६३०० वि० पू०)

यद्यपि भरद्वाज[illegible]। इस समय उपलब्ध नहीं है तथापि ऋक्तन्त्र (१।४) के 'भरद्वाजऋषिभ्यः' वचन से स्पष्ट है कि भरद्वाज व्याकरण शास्त्र के प्रवक्ता थे।

ये आङ्गिरस बृहस्पति के पुत्र थे। इन्होंने इन्द्र से व्याकरण शास्त्र, आयुर्वेद एवं तृणंजय से पुराण तथा मानवधर्मशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता भृगु से धर्मशास्त्र का अध्ययन किया था।

कौटिल्य अर्थशास्त्र (१२।१) के अनुसार भरद्वाज ने किसी अर्थशास्त्र का भी प्रवचन किया था। ऋक्तन्त्र (१।४) के 'भरद्वाज ऋषिभ्यः' वचन से स्पष्ट है कि इन्होंने अनेक ऋषियों को व्याकरण पढ़ाया था। चरक सूत्रस्थान में अनेक ऋषियों को आयुर्वेद पढ़ाने का उल्लेख है। वायुपुराण के अनुसार इन्होंने गौतम को पुराण पढ़ाया था। ये अनेक सूत्रों के द्रष्टा भी कहे जाते हैं।

रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ५४ के अनुसार भरद्वाज का आश्रम प्रयाग के निकट गङ्गा-यमुना के संगम पर था। राम बन जाते समय भरद्वाज के आश्रम

में ठहरे थे। राम का काल त्रेता के सन्ध्यंश का अन्तिम चरण है। अतः भरद्वाज का काल विक्रम से ९३०० से ७५०० वर्ष पूर्व है। भरद्वाज भारतीय इतिहास में वर्णित उन कतिपय दीर्घजीवितम ऋषियों में एक हैं जिनकी आयु लगभग सहस्र वर्ष से भी अधिक थी। इतना सुदीर्घायुष्य प्राप्त करने का कारण सहस्रवार्षिक रसायनों का प्रयोग था, जिसकी कल्पना भी आज के युग में असम्भव प्रतीत होती है।

अन्य विषय और रचनाएँ

दीर्घजीवितम भरद्वाज ने किन-किन विषयों का प्रवचन किया था, यह अज्ञात है तथापि प्राचीन ग्रन्थों से विदित होता है कि आयुर्वेद, धनुर्वेद, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा पुराणादि के प्रवक्ता या कर्त्ता थे। इनका विमानशास्त्रविषयक 'यन्त्रसर्वस्व' नामक एक महत्त्वपूर्ण बृहद्ग्रन्थ भी उपलब्ध हुआ है।

६. भागुरि (४००० वि०पू०)

भागुरि में श्रूयमाण तद्धित प्रत्यय के अनुसार भागुरि के पिता का नाम 'भगुर' प्रतीत होता है। बृहत्संहिता के अनुसार भागुरि बृहद्गर्ग के शिष्य थे।

प्राचीन अनेक ग्रन्थों से विदित होता है कि भागुरि आचार्य ने सामवेद की संहिता शाखा और ब्राह्मण का प्रवचन किया था। कृष्ण द्वैपायन तथा उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा शाखाओं का प्रवचन भारत युद्ध से पूर्व हो चुका था। 'संक्षिप्त सार' के **'अयानयवल्ययावेर्ब्राह्मणे'** सूत्र (तद्धित ४५४) की टीका में शाटचायन ऐतरेय के साथ भागुर ब्राह्मण भी स्मृत है। तदनुसार पाणिनि के मत में भागुरि-प्रोक्त ब्राह्मण ऐतरेय के समान पुराण प्रोक्त सिद्ध होता है। पाणिनी द्वारा स्मृत पुराण प्रोक्त ब्राह्मण, कृष्ण द्वैपायन और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त ब्राह्मणों से पूर्व कालिक हैं अतः भागुरि काल विक्रम से ४००० वर्ष पूर्व अवश्य होना चाहिए।

भागुरि के व्याकरण सम्बन्धी उपलब्ध मतों या वचनों से प्रतीत होता है कि उनका व्याकरण अच्छी तरह परिष्कृत और पाणिनीय व्याकरण से कुछ विस्तृत था।

भाषा वृत्ति (४।१।१०) में भागुरि का मत—

'नप्तेति भागुरिः।' अर्थात् भागुरि के मत में नप्ता का भी प्रयोग होता था जब कि पाणिनीय मतानुसार 'नप्त्री' प्रयोग होता है।

शब्दशक्तिप्रकाशिका में जगदीश तर्कालङ्कार द्वारा उद्धृत भागुरि के मत या वचन—

१. मुण्डादेस्तत् करोत्यर्थे, गृह्णात्यर्थे कृतादितः।
वक्तीत्यर्थे च सत्यादेर्, अङ्गादेस्तन्निरस्यति ॥ इति भागुरिस्मृतेः।

२. तूस्ताद्विघाते, संछादे वस्त्रात् पुच्छादितस्तथा।
उत्प्रेक्षादौ, कर्मणो णिस्तदव्ययपूर्वतः ॥ इति भागुरिस्मृतेः।

३. वीणात उपगाने स्याद्, हस्तितोऽतिक्रमे तथा।
सेनातश्चाभियाने णिः, श्लोकादेरप्युपस्तुतौ ॥ इति भागुरिस्मृतेः।

४. गुपूधूपविच्छिपणिपनेरायः, कमेस्तु णिङ्।
ऋतेरियङ् चतुर्लेषु, नित्यं स्वार्थे परत्र वा ॥ इति भागुरिस्मृतेः।

५. गुपो वधेश्च निन्दायां, क्षमायां तथा तिजः।
प्रतीकाराद्यर्थकाच्च कितः, स्वार्थे सनो विधिः ॥ इति भागुरिस्मृतेः।

६. अपादानसम्प्रदानकरणाधारकर्मणात्।
कर्तुश्चान्योऽन्यसन्देहे परमेकं प्रवर्तते ॥ इति भागुरिवचनमेवशरणम्।

ये छः श्लोक भागुरि के स्ववचन ही प्रतीत होते हैं जो उनके व्याकरण की छन्दोबद्ध सूत्ररचना की ओर संकेत कर रहे हैं। उस काल में रचना की ऐसी परिपाटी थी।

इसके अतिरिक्त भागुरि के व्याकरण विषयक मतनिदर्शक कतिपय वचन और उपलब्ध होते हैं—

१. वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥

अर्थात् भागुरि के मत में 'अव' और 'अपि' उपसर्ग के आकार का लोप होता है।

जैसे अवगाहः=वगाहः, अपिधानम्=पिधानम् तथा हलन्त शब्दों से आप् (टाप्) प्रत्यय होता है। जैसे वाक्=वाचा, निश्=निशा, दिश्=दिशा।

महाभाष्य (४।१।१) से भी विदित होता है कि कई आचार्य हलन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय मानते थे। पाणिनि ने कुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा शब्द अजादिगण में पढ़े हैं किन्तु काशिकाकार ने इनमें हलन्तों से टाप् माना है।

२. हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु सप्तमीम्।
चतुर्थी बाधिकामाहुश्चूर्णिभागुरिवाग्भटाः॥

३. स्यान्मतम्, करोतीति कारणम्। यथोक्तम्।
ष्टिवसिव्योर्ल्युट् परयोर्दीर्घत्वं वष्टि भागुरिः।
करोतेः कर्तृभावे च सौनागाः प्रचक्षते॥

व्याकरण, संहिता और ब्राह्मण के अतिरिक्त अलङ्कार, कोष, सांख्य-भाष्य, राजनीति आदि के ग्रन्थों के प्रवक्ता भी भागुरि माने जाते हैं किन्तु जब तक इन ग्रन्थों की उपलब्धि न हो जाय तब तक निश्चित रूप से यह कहा नहीं जा सकता कि इन सब के प्रवक्ता एक ही भागुरि हैं या भिन्न-भिन्न।

७. पौष्करसादि (३१०० वि० पू०)

पौष्करसादि आचार्य का नाम यद्यपि पाणिनीय अष्टक में उपलब्ध नहीं होता है तथापि इनका व्याकरण प्रवक्तृत्व अनेक प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है। यथा—महाभाष्य के एक वार्तिक और तैत्तिरीय तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में पौष्करसादि के मत उद्धृत हैं। काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड टीका के आरम्भ में इन्द्र, चन्द्र, आपिशलि, गार्ग्य, गालव के साथ 'पौष्कर' का भी उल्लेख है। ये नामैकदेशन्याय से पौष्करसादि ही हैं। कई ग्रन्थों में 'पुष्कर-सादि' नाम का उल्लेख मिलता है। उसे भी 'पौष्करसादि' ही समझना चाहिए। वहाँ 'एकानुबन्धकृतमनित्यम्' परिभाषा से वृद्धि का अभाव समझा जाय।

पौष्करसादि शब्द अपत्यप्रत्ययान्त है। तदनुसार इनके पिता का नाम 'पुष्करसत्' था।

आचार्य पौष्करसादि प्राग्देशवासी थे। 'पुष्करसदः प्राच्यत्वात्' (हरदत्त, पदमञ्जरी भाग १)।

पाणिनि का भी यही मत प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने भी तभी 'पौष्करसादायन' में 'इञः प्राचाम्' सूत्र से युवार्थक फक् प्रत्यय की लुक् प्राप्ति का निषेध करने के लिए पौष्करसादि पद को 'तौल्वल्यादि' (अष्टा० २।४।६१) गण में पढ़ा। बौद्ध जातकों में भी पोक्खरसदों का उल्लेख है जो प्राग्देशीय हैं।

गणरत्नावली में 'पुष्करे तीर्थविशेषे सीदतीति पुष्करसत्, तस्यापत्यं पौष्करसादिः'—ऐसा निर्वचन मिलता है। इसको पाणिनिविरुद्ध होने से केवल अर्थ प्रदर्शन परक समझना चाहिए। अथवा सम्भव है कि प्राग्देश में भी कभी कोई पुष्कर क्षेत्र रहा हो क्योंकि आज भी वहाँ की भाषा में तालाब को 'पोक्खर' कहते हैं।

काल

पुष्करसत् शब्द का पाठ यास्कादि, बाह्वादि और अनुशतिकादि गण में मिलता है। पौष्करसादि पद तौल्वल्यादिगण में पठित है। इससे सिद्ध है कि पाणिनि पौष्करसादि की ही नहीं, उनके अपत्य पौष्करसादायन को भी जानते थे। अतः पौष्कर आदि आचार्य पाणिनि से निस्सन्देह पूर्ववर्त्ती हैं।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (५।४०) के माहिषेय भाष्य तथा शांखायन आरण्यक से विदित है कि पौष्करसादि ने कृष्णयजुर्वेद की एक शाखा का प्रवचन किया। शाखाप्रवक्ता ऋषि प्रायः कृष्ण द्वैपायन के समकालीन थे। अतः पौष्करसादि का काल भारत युद्ध के आस-पास ३१०० वर्ष वि० पू० है।

८. चारायाण (३१०० वि० पू०)

चारायण के व्याकरणप्रवक्तृत्व के विषय में स्पष्ट निर्देशक वचन उपलब्ध नहीं होते हैं। महाभाष्य (१।१।७३) में चारायण को वैयाकरण पाणिनि और रौढि के साथ स्मरण किया गया है—'कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः।' वामन ने काशिका वृत्ति (६।२।६६) तथा यक्षवर्मा ने शाकटायनवृत्ति (२।४।२) में '**कम्बलचारायणीयाः**' उदाहरण दिया है। अतः चारायण आचार्य अवश्य व्याकरण प्रवक्ता रहे होंगे, ऐसा सिद्ध होता है।

चारायण के अन्य ग्रन्थ हैं—

१. चारायणीय संहिता—यह कृष्णयजुर्वेद की शाखा थी।

२. चारायणी शिक्षा—यह शिक्षा काश्मीर से प्राप्त हुई थी। इसका उल्लेख इण्डियन एण्टीक्वेरी जुलाई १८७६ में डॉ० कीलहार्न ने किया है।

इसके अतिरिक्त 'नाटकलक्षणरत्नकोश' पृष्ठ १६ में सागरनन्दी ने चारायण के किसी साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ से एक उद्धरण उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

आह चारायणः—'प्रकरणनाटकयोर्विष्कम्भः' इति।

कृष्णयजुर्वेद की चारायणीय शाखा का प्रवक्ता होने से चारायण का समय विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व है क्योंकि वैदिक शाखाओं का अन्तिम प्रवचन भारत युद्ध के समीप हुआ था।

३. काशकृत्स्न (३१०० वि० पू०)

यद्यपि पाणिनीयाष्टक में आचार्य काशकृत्स्न का उल्लेख नहीं मिलता है तथापि वैयाकरणनिकाय में काशकृत्स्न का व्याकरणप्रवक्तृत्व अत्यन्त प्रसिद्ध है।

(i) महाभाष्य के प्रथम आह्निक के अन्त में इनके भी शब्दानुशासन का उल्लेख है—

'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् आपिशलम्, काशकृत्स्नम् इति।

(ii) बोपदेव ने अपने कविकल्पद्रुम ग्रन्थ के आरम्भ में प्रसिद्ध आठ शाब्दिकों में इनकी भी गणना की है—

'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

(iii) क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी के पृष्ठ १८५ में काशकृत्स्न व्याकरण का 'निष्ठा में अनिट्' सम्बन्धी एक नियम उद्धृत किया है—
काशकृत्स्ना अस्य निष्ठायामनिट्त्वमाहुः—आश्वस्तः, विश्वस्तः।

(iv) काशकृत्स्न व्याकरण के अनेक सूत्र प्राचीन वैयाकरण वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। (कैयट विरचित महाभाष्य प्रदीप २।१।५०; ५।१।२१॥ भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय स्वोपज्ञ टीका, काण्ड १, पृष्ठ ४०, उस पर वृषभदेव की टीका पृष्ठ ४१)

(v) काशकृत्स्न का धातुपाठ भी कन्नडटीका सहित प्रकाश में आ गया है।

(vi) कन्नडटीका में काशकृत्स्न व्याकरण के लगभग १३५ नये सूत्र भी उपलब्ध हो गये हैं।

इससे सिद्ध होता है कि काशकृत्स्न ने व्याकरणशास्त्र का अवश्य प्रवचन किया था। उसकी सत्ता और स्वरूप से वैयाकरण बहुत समय तक परिचित भी रहे किन्तु पाणिनि पूर्व अन्य व्याकरणों की भाँति उसका भी प्रचलन और संरक्षण सम्भव न हो पाया।

काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि

विभिन्न ग्रन्थों में ऐसे विभिन्न उद्धरण मिलते हैं जिनमें किन्हीं में तो काशकृत्स्न का स्मरण है और किन्हीं में काशकृत्स्नि का। इस प्रकार जहाँ-जहाँ काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि का स्मरण है, वहाँ सर्वत्र एक ही व्यक्ति स्मृत है। काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। इन

दोनों नामों में केवल अपत्य-प्रत्यय का भेद है। अकारान्त कशकृत्स्न शब्द से अपत्य अर्थ में अत इञ् (अष्टा० ४।१।६५) से इञ् होकर काशकृत्स्नि शब्द निष्पन्न होता है और उसी कशकृत्स्न शब्द से अपत्यार्थ में सामान्य-विधायक तस्यापत्यम (अष्टा० ४।१।६२) से अण् होकर काशकृत्स्न शब्द बनता है। यद्यपि अत इञ् सूत्र 'तस्यापत्यम्' का अपवाद है तथापि "**क्वचिदपवादविषयेऽपि उत्सर्गोऽभिनिविशते**' (कहीं-कहीं अपवाद अर्थात् विशेष विधायक सूत्र के विषय में उत्सर्ग अर्थात् सामान्य सूत्र की भी प्रवृत्ति हो जाती है) नियम से समान्य अण् प्रत्यय भी हो जाता है। इसी नियम के अनुसार वाल्मीकि ने दाशरथि राम के लिए दाशरथ शब्द का भी प्रयोग किया है—'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली।' (रामा० युद्ध का० १४।३) इस प्रयोग में शेषविवक्षा में 'तस्येदम्' (४।३।१२०) से अण् प्रत्यय काशिकाकार मानते हैं, वह चिन्त्य है। अतः जिस प्रकार एक ही दशरथपुत्र राम के लिए दाशरथि और दशरथ दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार इञ् प्रत्ययान्त काशकृत्स्नि और अण् प्रत्ययान्त काशकृत्स्न दोनों शब्द निश्चय से एक ही व्यक्ति के वाचक हैं।

आचार्य-नाम—भट्ट पराशर तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में काशकृत्स्न को बादरायण का शिष्य कहते हैं। बादरायण कृष्ण द्वैपायन का ही नाम है, ऐसा भारतीय ऐतिहासिकों का मत है।

शिष्य—काशिका वृत्ति (६।२।१०४) के 'पूर्वे काशकृत्स्नाः, अपर काशकृत्स्नाः, उदाहरणों से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न के अनेक शिष्य थे जो पूर्व तथा अपर दो विभागों में विभक्त थे।

पितृनाम और वंश—काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न में श्रूयमाण तद्धित प्रत्यय के अनुसार इन नामों का मूल शब्द कशकृत्स्न था। बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवराध्याय (३) के अनुसार काशकृत्स्न-गोत्र भृगुवंश का है। अतः काशकृत्स्न, भार्गव हैं।

देश—काशकृत्स्न का निवासस्थान अज्ञात है। पणिनि ने अरीहणादिगण (४।२।८०) में काशकृत्स्न पद पढ़ा है। वर्धमान यहाँ कशकृत्स्न का निर्देश करता है। तदनुसार काशकृत्स्न अथवा कशकृत्स्न से निर्मित या जहाँ इनका निवास था, वह नगर अथवा देश काशकृत्स्नक कहलाता था, इतना निश्चित है। पर उसकी स्थिति कहाँ थी, अज्ञात है।

उत्तर भारतीय—'दैवम्' ग्रन्थ के व्याख्याता कृष्णलीला शुकमुनि से सूचना मिलती है कि धनपाल का कहना है—द्रमिड वनु धातु का 'वनयति' रूप मानते हैं और आर्य 'वानयति' तथा 'वनयति' दो रूप।

काशकृत्स्न धातु पाठ के 'ग्लास्नावनुवमश्वनकम्यमिचमः' सूत्रानुसार 'वन' धातु को विकल्प से मित् संज्ञा होकर वानयति, वनयति दो रूप निष्पन्न होते हैं। इससे सम्भावना होती है कि काशकृत्स्न उत्तरदेशीय हों।

सम्भवतः वङ्गीय—काशकृत्स्न धातुसूत्र (१।२०२) में प वर्गीय बान्त प्रकरण में अन्तस्थ वकारान्त 'गर्वे' आदि धातुएँ पढ़ी हैं। वंगप्रान्तीय चन्द्र-कातन्त्र आदि वैयाकरणों की भी ऐसी ही प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः सम्भव है कि काशकृत्स्न वङ्गदेशीय हों।

काशकृत्स्न का समय

निम्नलिखित प्रमाणों के आधार पर काशकृत्स्न, पाणिनि से निश्चय ही पूर्ववर्ती ठहरते हैं—

१. पाणिनीय गणपाठ के अन्तर्गत उपकादिगण (२।४।६९) में काश-कृत्स्न और अरीहणादिगण (४।२।८०) में काशकृत्स्न शब्द पठित हैं।

२. वेदान्तसूत्र में काशकृत्स्न का मत स्मृत है। (अवस्थितेरितिकाश-कृत्स्नः (१।४।२२) वेदान्तसूत्र में स्मृत आचार्य कृष्ण द्वैपायन का समकालीन होगा अथवा उससे पूर्ववर्त्ती।

३. तत्त्वरत्नाकर के रचयिता भट्ट पराशर ने काशकृत्स्न को बादरायण अर्थात् कृष्णद्वैपायन का शिष्य माना है।

४. महाभाष्य (१।१।१) में 'पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम्' के क्रम से उदाहरण के रूप में तीन व्याकरणों की गणना करायी गयी है।

इनमें आपिशलि निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्त्ती हैं क्योंकि पाणिनि ने नामशः उनका उल्लेख किया है। उक्त नामोल्लेख में आपिशलि का निर्देश पाणिनि के अनन्तर किया गया है, इस तरह निश्चित है कि यहाँ नामोल्लेख विपर्यासक्रम से हुए हैं। तदनुसार काशकृत्स्न पाणिनि से ही नहीं, आपिशलि से भी पूर्व बैठते हैं।

५. उपलब्ध काशकृत्स्न धातुपाठ में पाणिनि के धातुपाठ की अपेक्षा लगभग ४५० धातुएँ अधिक हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों के उत्तरोत्तर संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति को देखते हुए मानना पड़ेगा कि काशकृत्स्न धातुपाठ, पाणिनीय धातुपाठ से प्राचीन है।

६. काशकृत्स्न धातुपाठ में अनेक धातुओं के दो-दो रूप हैं। यथा ईड ईल स्तुतौ। पाणिनि ने केवल ईड रूप पढ़ा है। विदित होता है कि काश-कृत्स्न के समय में उक्त दोनों धातुओं के आख्यात के स्वतन्त्र प्रयोग लोक में प्रचलित थे। इसी लिए उन्होंने दोनों धातुओं को स्वतन्त्र रूप में पढ़ा। परन्तु पाणिनि के समय में ईड धातु के ही रूप लोकप्रचलित रह जाने से उन्होंने ईल धातु का पाठ न कर केवल ईड धातु ही पढ़ी।

७. इसी प्रकार काशकृत्स्न धातु पाठ में वस निवासे, टुओश्विगति-वृद्ध्योः और वद व्यक्तायां वाचि आदि जैसी अनेक धातुएँ उभयपदी हैं जब कि पाणिनि इन्हें केवल परस्मैपदी मानते हैं। इसका भी वही उपर्युक्त कारण विदित होता है।

८. वोपदेव ने अपने 'कविकल्पद्रुम' ग्रन्थ के आरम्भ में 'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली०'—आदि जिन आठ वैयाकरणों की चर्चा की है, उनमें काशकृत्स्न का नाम आपिशलि और शाकटायन से भी पूर्व ठहरता है।

९. महाभाष्य (५।१।२१) पर कैयट ने लिखा है—

आपिशलकाशकृत्स्नयोस्त्वग्रन्थ इति वचानात्।

अर्थात् पाणिनीय 'शताच्च ठन्यतावशते' (५।१।२१) के स्थान में आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में 'शताच्च ठन्यतावग्रन्थे' पाठ था। निश्चित है कि पाणिनि से प्राचीन आपिशलि के साथ स्मृत काशकृत्स्न भी पाणिनि से प्राचीन होगा।

१०. वाक्यपदीय (३।१४।५६४) में 'तदर्हम्' सूत्र के अभाव की जो चर्चा भर्तृहरि ने 'तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे' वचन द्वारा की है, उसकी व्याख्या करते हुए हेलाराज ने लिखा है—आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्र-मेतन्नाधीयते। अर्थात् आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में पाणिनि द्वारा पठित 'तदर्हम्' सूत्र नहीं था। इस प्रकार से भी आपिशलि के समान ही काशकृत्स्न भी पाणिनि से प्राचीन सिद्ध होते हैं।

११. कातन्त्र-व्याकरण में एक सूत्र है—भिस ऐस् वा। तदनुसार आका-रान्त शब्दों के भिस् और ऐस् दोनों के रूप (यथा देवेभिः, देवैः) प्रयुक्त होते हैं। उक्त सूत्र या मत कातन्त्रकार ने अवश्य काशकृत्स्न से लिया होगा क्योंकि उसका उपजीव्य काशकृत्स्न व्याकरण है। कातन्त्र विशुद्ध लौकिक व्याकरण है अतः उसका उपजीव्य काशकृत्स्न व्याकरण उस काल की रचना होना चाहिए जब भाषा में भिस् और ऐस् दोनों के रूप (देवेभिः, देवैः) प्रयुक्त होते रहे हों। पाणिनि के अनुसार लोक में केवल ऐस् के

देवैः आदि प्रयोग होते हैं। अतः काशकृत्स्न पाणिनि से निश्चय ही पर्याप्त प्राचीन हैं।

१२. पाणिनीय धातु पाठ में **छन्दसि** गणसूत्र का निर्देश करके जो धातुएँ पढ़ी हैं, प्रायः वे सभी धातुएँ काशकृत्स्न धातुपाठ में **छन्दसि** निर्देश के बिना ही पढ़ी गयी हैं। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय में वैदिक मानी जाने वाली धातुएँ काशकृत्स्न के काल में लोक में भी प्रचलित थीं। अन्यथा वे भी **छन्दसि** का निर्देश अवश्य करते। इस प्रकार काशकृत्स्न पाणिनि से निश्चय ही बहुत पूर्ववर्ती हैं। वे पाणिनि से ही नहीं आपिशलि से भी प्राचीन ठहरते हैं। अतः काशकृत्स्न का काल भारत युद्ध (३१०० वि० पू०) के आस-पास अथवा उससे पूर्व मानना होगा।

काशिका (६।२।३६) के पाठ **'आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीय रौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः'** में पौर्वापर्य-व्यवस्था मान कर पाणिनि से अर्वाचीन रौढि, और रौढि से अर्वाचीन काशकृत्स्न को मानना ठीक नहीं है क्योंकि यह कल्पना उपर्युक्त प्रमाणों के विरुद्ध है अतएव चिन्त्य है। वर्धमान के मतानुसार **'पाणिनीयरौढीयाः रौढीयपाणिनीयाः'** दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं (गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २६) अतः स्पष्ट है कि काशिका के उपर्युक्त उदाहरणों में कालक्रम अभिप्रेत नहीं है।

काशकृत्स्न व्याकरण का स्वरूप

परिमाण—काशकृत्स्न व्याकरण में कितने अध्याय, पाद तथा सूत्र थे, इसका साक्षात् निर्देश करने वाला कोई वचन उपलब्ध नहीं होता, परन्तु काशिकावृत्ति (५।१।५८) में उद्धृत **त्रिकं काशकृत्स्नम्** और जैनशाकटायन (२।४।१८२) की अमोघावृत्ति में उद्धृत त्रिकाः काशकृत्स्नाः उदाहरणों से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न व्याकरण तीन अध्यायों में विभक्त था। 'काशकृत्स्न' पद से काशकृत्स्न व्याकरण ही निर्दिष्ट किया गया है क्योंकि पूर्वोद्धृत उदाहरणों के साथ पठित **अष्टकं पाणिनीयम्** आदि उदाहरणों में स्मृत सभी सूत्रग्रन्थ व्याकरण विषयक हैं। साहचर्य नियम से काशकृत्स्न का अध्यायत्रयात्मक ग्रन्थ भी व्याकरणविषयक होना चाहिए।

काशकृत्स्न व्याकरण के संक्षेपक कातन्त्रकार ने अपने कातन्त्र व्याकरण में तीन ही अध्याय रखे हैं। अतः यह सम्भव है कि उसके उपजीव्य काशकृत्स्न व्याकरण में भी तीन ही अध्याय रहे हों। आचार्यों की ऐसी प्रवृत्ति देखी भी जाती है। पाणिनीय व्याकरण के संक्षेपक चन्द्रगोमी ने भी पाणिनीय तन्त्रवत् अपने व्याकरण में आठ ही अध्याय रखे थे। उन दोनों के

अनुसर्ता भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण को आठ अध्यायों में ही विभक्त किया है। स्वयं पाणिनि ने भी व्याकरण और शिक्षासूत्रों को अपने उपजीव्य आपिशल व्याकरण और शिक्षा सूत्रों के अनुसार क्रमशः आठ अध्यायों और आठ प्रकरणों में विभक्त किया है। इसी प्रकार कातन्त्र व्याकरण के प्रवक्ता ने भी तीन अध्यायों का विभागीकरण अपने उपजीव्य काशकृत्स्न व्याकरण के अनुरूप ही किया हो, यह अधिक सम्भव है। कातन्त्र धातुपाठ में उन्होंने काशकृत्स्न धातुपाठ के अनुरूप ही धातुओं को नवगणों में विभक्त किया है। (जुहोत्यादि को अदादि के अन्तर्गत माना है)।

काशकृत्स्न व्याकरण के प्रत्येक अध्याय में कितने पाद थे, यह ज्ञात नहीं। पाणिनीयतन्त्र में प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। ऐसी अवस्था में काशकृत्स्न व्याकरण में तीन अध्यायों में प्रति अध्याय पाद-संख्या चार से अवश्य ही अधिक रही होगी; क्योंकि काशकृत्स्न-व्याकरण पाणिनीयतन्त्र से अधिक विस्तृत था। कातन्त्र के तीन अध्यायों में क्रमशः पाँच-पाँच तथा दस पाद हैं।

काशकृत्स्न व्याकरण के सम्प्रति उपलब्ध समस्त सूत्रों की पाणिनीय सूत्रों के साथ तुलना करने पर विदित होता है कि उसमें ऐसे अनेक पदों का अन्वाख्यान था जिनका पाणिनीय तन्त्र में निर्देश नहीं है। काशकृत्स्न धातु-पाठ से लगभग ४५० धातुएँ अधिक हैं। अतः काशकृत्स्न व्याकरण संक्षिप्त होते हुए भी निस्सन्देह पाणिनीयतन्त्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत था।

काशकृत्स्न व्याकरण की विशेषता

किस व्याकरण की क्या विशेषता है, इसका ज्ञान विभिन्न व्याकरण ग्रंथों में उल्लिखित निम्नाङ्कित उदाहरणों से होता है। यथा—

१. आप्रिशलं पुष्करम्। (काशिका, ४।३।११५)
आपिशलमान्तः करणम्। (सरस्वती कण्ठाभरण, हृदयहारिणी टीका ४।३।२४५ ॥)

इन उदाहरणों का अभिप्राय अस्पष्ट है।

२. पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्। (काशिका ४।३।११५, जैन-शाकटायन, चिन्तामणिवृत्ति ३।१।१८२)।
पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्। (काशिका, ६।२।१४)।

३. चान्द्रमसंज्ञकं व्याकरणम्। (सरस्वतीकण्ठाभरण, हृदयहारिणी टीका ४।३।२४५)।

चन्द्रोपज्ञसंज्ञकं व्याकरणम् । (चान्द्रवृत्ति २।२।८६; वामनीयलिङ्गानुशासन पृ० ७) ।

इसी प्रकार काशकृत्स्नं गुरुलाघवम् । (काशिका ४।३।११५, सरस्वतीकण्ठाभरण, हृदयहारिणी टीका ४।३।२४५; तथा जैन शाकटायन, चिन्तामणिवृत्ति ३।१।१८२)

इन सब उदाहरणों की तुलना से व्यक्त है कि जिस प्रकार पाणिनीतन्त्र की विशेषता, कालपरिभाषाओं का अनिर्देश है और चान्द्र तन्त्र की विशेषता विना संज्ञानिर्देश के ही शास्त्र-प्रवचन है उसी प्रकार काशकृत्स्नतन्त्र की विशेषता गुरु-लाघव है । इसका अभिप्राय है कि काशकृत्स्न ने किसी के उपदेश के विना अपनी प्रतिभा से अपने शास्त्र में शब्दों के गौरव-लाघव का विचार करके अनन्त शब्दराशि में से लोक प्रसिद्ध मुख्य शब्दों का ही उपदेश किया और अप्रसिद्ध शब्दों को छोड़ दिया । अर्थात् काशकृत्स्न ने शब्दशास्त्र के संक्षेप करने में शब्दों के गौरव=लोक में प्रयोग अथवा प्रसिद्ध, और लाघव=लोक में अप्रयोग अथवा अप्रसिद्धि को मुख्यता दी । दूसरे शब्दों में काशकृत्स्न ने अपने शास्त्र प्रवचन में लोक में अप्रसिद्ध शब्दों को छोड़ दिया, अतः उनका शास्त्र पूर्व तन्त्रों की अपेक्षा छोटा हो गया । इसी कारण लोक में 'शब्दकपाल' नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

काशकृत्स्नतन्त्र श्लोकबद्ध—काशकृत्स्न का व्याकरण पाणिनीयतन्त्र के समान गद्यबद्ध नहीं, ऋक्प्रातिशाख्य के समान पद्यबद्ध था । इसमें निम्नांकित हेतु हैं—

१. कातन्त्र काशकृत्स्न का संक्षिप्त प्रवचन है । उसका पर्याप्त भाग छन्दोबद्ध है अतः काशकृत्स्न तन्त्र भी छन्दोबद्ध रहा होगा ।

२. काशकृत्स्न-व्याकरण के जो विकीर्णसूत्र कन्नड टीका में उपलब्ध हुए हैं उनमें जहाँ एक से अधिक प्रत्ययों का निर्देश है, वहाँ प्रत्ययों का कहीं तो समास से निर्देश किया है, कहीं पृथक्-पृथक् । इससे स्पस्ट है कि सूत्ररचना छन्दोबद्ध होने से ही छन्द के अनुरोध से कहीं प्रत्ययों का समस्त और कहीं असमस्त उभयथानिर्देश करना पड़ा है । अन्यथा लाघव के लिए समस्त निर्देश करना ही युक्त होता है ।

३. काशकृत्स्न-व्याकरण के उपलब्ध सूत्रों में कतिपय स्पष्ट रूप में श्लोक अथवा श्लोकांश हैं ।

काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्र उसके तन्त्र के विविध प्रकरणों के हैं। इसलिए गद्यबद्ध प्रतीयमान सूत्रों के विषय में भी श्लोकबद्ध होने की सम्भावना का निराकरण नहीं होता ।

अन्य ग्रन्थ—विभिन्न ग्रन्थों से व्यक्त होता है कि काशकृत्स्न ने मीमांसा, यज्ञ और वेदान्त विषय पर भी ग्रन्थ लिखे थे। इसके अतिरिक्त काशकृत्स्न प्रोक्त धातुपाठ प्रकाश में आ चुका है तथा इन्होंने उणादि पाठ का भी प्रवचन किया था, किन्तु उणादि सूत्र उपलब्ध नहीं हैं। इन्होंने किसी परिभाषा पाठ का भी प्रवचन किया था।

१०. शन्तनु (३१०० वि० पू०)

आचार्य शन्तनु ने किसी सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण का प्रवचन किया था। सम्प्रति उपलभ्यमान **फिट्सूत्र** उसी का एक अवयव है। शन्तनु के विषय में **'फिट्सूत्र का प्रवक्ता और व्याख्याता'** नामक सत्ताइसवें अध्याय में विस्तार से लिखा गया है। उनके काल और व्याकरण के लिए उक्त अध्याय का अवलोकन करें।

११. वैयाघ्रपद्य (३१०० वि०पू०)

काशिका (७।१।९४)में लिखा है—

गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः।

हरदत्त ने इसकी व्याख्या में लिखा है—व्याघ्रपादपत्यानां मध्ये वरिष्ठो वैयाघ्रपद्यआचार्यः।

इससे विदित होता है कि वैयाघ्रपद्य ने किसी व्याकरण का प्रवचन किया था।

परिचय—वैयाघ्रपद्य के पिता अथवा मूलपुरुष का नाम व्याघ्रपाद था। महाभारत (अनुशासन पर्व ५३।३०) के अनुसार व्याघ्रपाद् महर्षि वसिष्ठ के पुत्र हैं।

गर्गादिगण (अष्टा० ४।१।१०५) में पठित व्याघ्रपाद् शब्द से यञ् प्रत्यय होकर वैयाघ्रपद्य पद निष्पन्न होता है। शतपथ ब्राह्मण, जैमिनिय ब्राह्मण, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण आदि में वैयाघ्रपद्य नाम मिलता है। यदि व्याकरण प्रवक्ता यही वैयाघ्रपद्य हों तो अवश्य वे पाणिनि से प्राचीन हैं। यदि ये साक्षात् वसिष्ठ के पौत्र हों तो विक्रम से कम से कम ४००० वर्ष पूर्व इनका काल होना चाहिए।

काशिका (८।२।१) में उद्धृत 'शुष्किका शुष्कजङ्घा च' कारिका को भट्टोजिदीक्षित वैयाघ्रपद्यविरचित वार्तिक मानते हैं। इससे यह निश्चित है कि यह वार्तिककार वैयाघ्रपद्य अन्य व्यक्ति होगा। किन्तु बात ऐसी है नहीं। वस्तुतः यह कारिका वैयाघ्रपद्य के व्याकरण की है। परन्तु पाणिनीय सूत्र के साथ भी संगत होने से प्राचीन वैयाकरणों ने इसका सम्बन्ध पाणिनि

के पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) सूत्र से जोड़ दिया। महाभाष्य में यह कारिका नहीं है।

काशिका के 'दशकाः वैयाघ्रपदीयाः' तथा 'दशकं वैयाघ्रपदीयम्' उदाहरणों से प्रतीत होता है कि वैयाघ्रपद्यप्रोक्त व्याकरण में दश अध्याय थे।

१२. माध्यन्दिनि (३००० वि० पू०)

पाणिनीयतन्त्र में माध्यन्दिनि आचार्य का उल्लेख नहीं है। काशिका (७।१।९४) में एक कारिका उद्धृत है—

> संबोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।
> माध्यन्दिनिर्वष्टि································॥

अर्थात् माध्यन्दिनि आचार्य के मत में उशनस् शब्द के सम्बोधन में हे उशनः, हे उशनन्, हे उशन ये तीन रूप होते हैं।

विमलसरस्वतीकृत रूपमाला में और प्रक्रियाकौमुदी की भूमिका में एक वचन उद्धृत है—

> इकः षण्ढेऽपि सम्बुद्धौ गुणो माध्यन्दिनेर्मते।

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि माध्यन्दिनि आचार्य ने किसी व्याकरण शास्त्र का प्रवचन अवश्य किया था।

माध्यन्दिनि पद में श्रूयमाण अपत्यप्रत्यय के अनुसार इनके पिता का नाम मध्यन्दिन था। वायुपुराण के अनुसार मध्यन्दिन वाजसनेय याज्ञवल्क्य के साक्षात् शिष्य थे। उन्होंने याज्ञवल्क्यप्रोक्त शुक्लयजुः संहिता के पदपाठ का प्रवचन किया था। इससे स्पष्ट है कि मध्यन्दिन के पुत्र माध्यन्दिनि आचार्य पाणिनि से प्राचीन हैं। इनका काल विक्रम से लगभग ३००० वर्ष पूर्व है।

१३. रौढि (३००० वि० पू०)

आचार्य रौढि का निर्देश पाणिनीयतन्त्र में नहीं है। काशिका (६।२।३७) में वामन ने उदाहरण दिया है—**'आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः'**। इसमें वैयाकरण आपिशलि, पाणिनि और काशकृत्स्न के साथ स्मृत होने से रौढि आचार्य भी निस्सन्देह वैयाकरण होंगे।

इनके पिता का नाम रूढ और स्वसा का नाम रौढ्या था। महाभाष्य (४।१।७९) से भी इसकी पुष्टि होती है।

महाभाष्य (१।१।७३) में दिये गये 'घृतरौढीयाः' उदाहरण से व्यक्त होता है कि रौढि आचार्य इतने सम्पन्न थे कि इन्होंने अपने अन्तेवासियों के लिए घृत की व्यवस्था विशेष रूप से कर रखी थी।

महाभाष्य (४।१।६६) की प्रदीप व्याख्या के अनुसार पाणिनि के 'कौड्या-दिभ्यश्च' (४।१।८०) सूत्र के स्थान में पूर्वाचार्य 'रौढ्यादिभ्यश्च' पढ़ते थे। इससे स्पष्ट है कि रौढि आचार्य पाणिनि से प्राचीन हैं।

१४. शौनकि (३००० वि० पू०)

चरकसंहिता के टीकाकार जज्झट ने चिकित्सास्थान (२।२७) की व्याख्या में शौनकि का एक मत उद्धृत किया है तथा भट्टि की जयमङ्गलाटीका (३।४७) में भी इनका एकमत उद्धृत है जिससे स्पष्ट है कि शौनकि ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था।

वाजसनेय प्रातिशाख्य आदि में शौनक के व्याकरण सम्बन्धी मत उद्धृत हैं। सम्भव है कि शौनकि और शौनक से एक ही व्यक्ति अभिप्रेत हो।

चरक सूत्रस्थान (२५।१६) में शौनक का एक पाठान्तर शौनकि मिलता है।

अष्टाङ्गहृदय कल्पस्थान (६।१५) में शौनक के चिकित्सा ग्रन्थ का निर्देश मिलता है।

ज्योतिष ग्रन्थों में शौनकप्रोक्त ज्योतिषग्रन्थ अथवा उसके मतों का उल्लेख मिलता है।

आचार्य शौनकि, शौनक के पुत्र हैं जो ब्रह्मज्ञाननिधि गृहपति के रूप में प्रसिद्ध हैं तथा पाणिनि ने 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (१।४।१०६) में जिनका स्मरण किया है अतः शौनक का काल विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व है, इसलिए शौनकि को भी विक्रम से लगभग ३००० वर्ष पूर्व मानना ठीक होगा। यदि पूर्व निर्दिष्ट संभावनानुसार शौनक तथा शौनकि एक भी हों तब भी काल में विशेष अन्तर नहीं होगा।

१५. गौतम (३००० वि० पू०)

महाभाष्य (६।२।३६) में उपलब्ध **'आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः'** प्रयोग में आपिशलि, पाणिनि और व्याडि जैसे प्रसिद्ध वैयाकरणों के साथ स्मृत गौतम का भी व्याकरण प्रवक्तृत्व स्पष्ट सिद्ध है। इसकी पुष्टि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य से भी होती है; उनमें आचार्य गौतम के मत उद्धृत हैं।

यद्यपि महाभाष्य के उक्त प्रयोग से कुछ प्रतीति नहीं होती कि गौतम पाणिनि से पूर्ववर्त्ती हैं या उत्तरवर्त्ती, किन्तु तैत्तिरीयप्रातिशाख्य में प्लाक्षि, कौण्डिन्य और पौष्करसादि के साथ गौतम का निर्देश बताता है कि वे पाणिनि से निस्सन्देह प्राचीन हैं। ये वही आचार्य गौतम मालूम होते हैं

जिन्होंने गौतमगृह्य, गौतमधर्मशास्त्र बनाये थे और जो शाखाकार भी थे। गौतमप्रोक्त गौतमीशिक्षा भी इस समय उपलब्ध है।

१६. व्याडि (२९०० वि० पू०)

(i) ऋक्प्रातिशाख्य में आचार्य शौनक ने व्याडि के अनेक मत उद्धृत किये हैं।

(ii) भाषावृत्ति (६।१।७०) में पुरुषोत्तम देव ने गालव के साथ व्याडि का एक मत उद्धृत किया। गालव को पाणिनि ने अष्टाध्यायी में चार स्थानों पर स्मरण किया है।

(iii) महाभाष्य (६।२।३६) में उपलभ्यमान' आपिशलपाणिनीय-व्याडीयगौतमीयाः' प्रयोग में व्याडि के भी अन्तेवासियों का निर्देश है।

(iv) ऋक्प्रातिशाख्य (१३।३१) में शाकल्य और गार्ग्य के साथ व्याडि का बहुधा उल्लेख है। शाकल्य और गार्ग्य दोनों पाणिनीयतन्त्र में स्मृत हैं।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि व्याडि ने किसी व्याकरण का प्रवचन अवश्य किया था। व्याडि का दूसरा नाम दाक्षायण है। वामन ने काशिका (६।२।६९) में इन्हें दाक्षि कहा है। ये दाक्षीपुत्र पाणिनि के मामा हैं। अतः व्याडि का काल पाणिनि से कुछ पूर्व अर्थात् विक्रम से २९०० वर्ष पूर्व है। विशेष 'संग्रहकार व्याडि' नामक प्रकरण में देखिए।

चतुर्थ अध्याय

पाणिनीयाष्टक में स्मृत आचार्य

१. आपिशलि (३००० वि० पू०)

पाणिनिपूर्व वैयाकरणों में आपिशलि आचार्य मुख्य हैं। यद्यपि पाणिनि ने अपने तन्त्र के केवल 'वा सुप्यापिशलेः' (अष्टा० ६।१।९२) सूत्र में इनका उल्लेख किया है तथापि इनके कृतित्व का उल्लेख हमें अनेकत्र मिलता है। महाभाष्यकार ने एक-दो विशिष्ट स्थलों पर इनके विशिष्ट मत प्रमाण रूप में उद्धृत किये हैं और वे बहुधा उदाहरणार्थ व्याडि, गौतम और काशकृत्स्न के साथ-साथ अथवा उनसे व्यतिरिक्त रूप में आपिशल व्याकरण या आपिशलीय परम्परा का परिचय देते हैं। वामन, न्यासकार, जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट तथा मैत्रेयरक्षित आदि ग्रन्थकारों ने आपिशल व्याकरण के अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं। पाणिनि ने अपनी शिक्षा के अन्तिम प्रकरण में भी आपिशलि का उलेख किया है।

वामन, पाल्यकीर्ति और वर्धमान तीनों के मत में आपिशलि के पिता का नाम 'अपिशल' था। ये तीनों आपिशल शब्द से अपत्यार्थक इञ् प्रत्यय कर आपिशलि की व्युत्पत्ति दर्शाते हैं।

उज्ज्वलदत्त ने अपिशलि शब्द से बाह्वादित्वादिञ् करके आपिशलि की व्युत्पत्ति दर्शायी है तदनुसार आपिशलि के पिता का नाम अपिशलि होना चाहिए किन्तु बाह्वादिगण (अष्टा० ४।१।९६) में अपिशलि पद का पाठ न होने से यह चिन्त्य है।

आपिशलि और आपिशल

'आपिशलीय' पद का प्रयोग काव्यमीमांसा और वाक्यपदीय वृषभदेव टीका में मिलता है इससे सिद्ध होता है कि आपिशलि के लिए 'आपिशल' नाम का भी व्यवहार होता था; क्योंकि 'आपिशलीय' पद अणन्त आपिशल शब्द से ही छ प्रत्यय होकर सम्भव हो सकता है। इञन्त आपिशलि से इञश्च (४।२।११२) के नियम से आपिशल शब्द निष्पन्न होता है।

अपिशल से अण् और इञ् दोनों सामांन्य अपत्यार्थक प्रत्यय होकर आपिशल और आपिशलि प्रयोग उत्पन्न होतें हैं।

काल

पाणिनीय अष्टक में आपिशलि का साक्षात् उल्लेख होने से ये पाणिनि से प्राचीन हैं। पदमञ्जरी में हरदत्त के लेख से ये पाणिनि से कुछ ही वर्ष प्राचीन हैं। अन्य प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त निर्देशों के अनुसार भी आपिशलि का काल कम से कम विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व अवश्य है।

आपिशल का व्याकरण

शाकटायन व्याकरण की अमोघावृत्ति और चिंतामणिवृत्ति में **'अष्टका आपिशलपाणिनीयाः'** उदाहरण मिलता है। तदनुसार आपिशल व्याकरण में आठ अध्याय थे। आपिशलिविरचित शिक्षा में भी आठ ही प्रकरण हैं।

विभिन्न ग्रंथों में **'आपिशलं पुष्करणम्'**, **'आपिशलमान्तः करणम्'**, **'आपिशल्युपज्ञंगुरुलाघवम्'** विभिन्न उदाहरण मिलते हैं। इनमें कौन सा पाठ शुद्ध है, यह अभी विचारणीय है, अतः व्याकरण की अपनी क्या विशेषता थी, कह नहीं सकते।

कात्यायन और पतञ्जलि के काल में आपिशल व्याकरण का व्यापक प्रचार था। माहाभाष्य (४।१।१४) से तो विदित होता है कि उसकाल में कन्याएँ भी आपिशल व्याकरण का अध्ययन करती थीं।

विभिन्न ग्रंथों के पारायण से आपिशल व्याकरण के दस से अधिक सूत्र और आपिशलि की आठ से अधिक कारिकाएँ खोज निकाली गयी हैं। इनसे विदित होता है कि आपिशल व्याकरण, पाणिनीय व्याकरण के समान सर्वाङ्गपूर्ण, सुव्यवस्थित तथा उससे कुछ विस्तृत था और इसमें लौकिक, वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का अन्वाख्यान था।

तदर्हम् (अष्टा० ५।१।११७) सूत्र का अभाव

काशकृत्स्न के प्रकरण में लिखा जा चुका है कि वाक्यपदीप, काण्ड ३ में व्याख्याकार हेलाराज के वचनानुसार काशकृत्स्न व्याकरण और आपिशल व्याकरण में 'तदर्हम्' सूत्र नहीं था।

'नाज्झलौ' सूत्र का अभाव

पाणिनि का नाज्झलौ (१।१।१०) सूत्र भी आपिशल व्याकरण में नहीं था, क्योंकि आपिशलि की शिक्षा में **ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः** । ३।६।। और **विवृत करणाः स्वराः** । ३।७।। सूत्रों द्वारा अ इ ऋ के तथा ह श ष ऊष्मों के प्रयत्न भिन्न-भिन्न माने हैं। अतः प्रयत्नैका के अभाव में न सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है, न प्रतिषेध की ही आवश्यकता है। पाणिनीय शिक्षा में 'विवृतकरणा

वा' सूत्र द्वारा पक्षान्तर में ऊष्मों का भी विवृतकरण प्रयत्न स्वीकार करने से पक्ष में सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है जिसका प्रतिषेध करने के लिए पाणिनि के मत में 'नाज्झलौ' सूत्र आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि आपिशल व्याकरण में उक्त सूत्र नहीं था।

आपिशलि और पाणिनीय व्याकरण की समानता

आपिशलि के उपलब्ध सूत्रों से स्पष्ट विदित होता है कि आपिशल और पाणिनीय व्याकरण सूत्ररचना में तो समानता रखते ही हैं, अनेक संज्ञा, प्रत्यय और प्रत्याहार भी दोनों में समान ही हैं।

संज्ञाएँ—आपिशलि के उपलब्ध सूत्रों में उल्लिखित द्विवचन, विभाषा, गुण और सार्वधातुका संज्ञाएँ ही पाणिनीय व्याकरण में भी हैं। केवल सार्व-धातुका टाबन्त के स्थान में पाणिनि ने सार्वधातुक अकारान्त संज्ञा पढ़ी है।

प्रत्यय—आपिशलि के उपलब्ध सूत्रों में टाप्, ठन् और शप् प्रत्यय पढ़े हैं। ये ही प्रत्यय पाणिनीय व्याकरण में भी हैं।

प्रत्याहार—सृष्टिधर द्वारा भाषावृत्ति की भूमिका में उद्धृत आपिशलि के डेढ़ श्लोक के **'वहव्यधवृधां न भष्'** चरण में भष् प्रत्याहार का निर्देश है। पाणिनि ने भी यही प्रत्याहार बनाया है।

इसके अतिरिक्त आपिशलि के धातुपाठ और गणपाठ के उपलब्ध उद्धरण पाणिनीय धातुपाठ और गणपाठ से बहुत समानता रखते हैं। आपिशलि के व्याकरण में भी पाणिनीय व्याकरण के समान आठ ही अध्याय थे। आपिशल शिक्षा और पाणिनीयशिक्षा दोनों में आठ ही प्रकरण हैं और दोनों के सूत्र भी परस्पर बहुत सदृश हैं। इस अत्यन्त सदृश्य से प्रतीत होता है कि पाणिनीय व्याकरण का प्रधान उपजीव्य आपिशल व्याकरण है। पद-मञ्जरीकार हरदत्त तो इस बात को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं।

अन्य कृतियाँ

व्याकरण के अतिरिक्त आपिशलि के द्वारा धातुपाठ, गणपाठ, शिक्षा, उणादिसूत्र, कोश और अक्षर तंत्र की रचना के भी प्रमाण मिलते हैं।

१. **धातुपाठ**—महाभाष्य, काशिका, न्यास और पदमञ्जरी आदि विभिन्न ग्रंथों में उद्धरणों के रूप में इसका संकेतमात्र मिलता है। ग्रंथ रूप में यह स्वतः उपलब्ध नहीं होता।

२. **गणपाठ**—इसका उल्लेख केवल भर्तृहरि की भाष्यदीपिका (महा-भाष्य टीका) में मिलता है। उसकी पुष्टि अन्यत्र कैयट के वचन से होती है।

३. **शिक्षा**—विभिन्न ग्रंथों में आपिशलशिक्षा का उल्लेख अथवा निर्देश मिलता है। महावैयाकरण हेमचंद्र ने अपने हैमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति म आपिशलशिक्षा के अष्टम प्रकरण के २३ सूत्रों का एक लम्बा उद्धरण दिया है। उसके कारण ही उपलब्ध शिक्षाओं में से 'आपिशलशिक्षा' की पहिचान सम्भव हो सकी। सर्वप्रथम इस शिक्षा का सम्पादन डा० रघुवीर ने किया। इस समय आपिशल शिक्षा का एक अभिनव सुंदर संस्करण प्रकाशित किया गया है।

४. **उणादिसूत्र**—पञ्चपादी उणादिसूत्र आपिशलि विरचित है। इस पर विशेष विचार उणादि प्रकरण में किया गया है।

५. **कोश**—यह अप्राप्य है। आपिशलि ने कोई कोश रचा था, इसका संकेत भानुजीदीक्षित द्वारा अपनी अमरकोशटीका में उद्धृत अपिशलि के वचन से मिलता है।

६. **अक्षरतन्त्र**—इस ग्रंथ में सामगान सम्बंधी स्तोभों का वर्णन है।

२. काश्यप (३००० वि० पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में काश्यप का मत दो स्थानों पर उद्धृत किया है। वाजसनेय प्रातिशाख्य में शाकटायन के साथ काश्यप का उल्लेख मिलता है। अतः उक्त दोनों काश्यप एक ही व्यक्ति हैं, इसमें सन्देह नहीं।

काश्यप व्याकरण का एक सूत्र भी उपलब्ध नहीं होता। केवल तीन स्थानों पर इनके मत का उल्लेख मिलता है। शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य के अन्त में निपातों को काश्यप कहा है।

काल

पाणिनि की अष्टाध्यायी में काश्यप का उल्लेख होने से इतना तो निश्चित ही है कि ये पाणिनि से पूर्ववर्त्ती हैं। वार्तिककार कात्यायन के मतानुसार **काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः'** (अष्टा० ४।३।१०३) सूत्र में काश्यप कल्प का निर्देश है। प्रतीत होता है कि वैयाकरण और कल्पकार दोनों काश्यप एक ही हैं, अन्यथा पाणिनि किसी विशेषण का प्रयोग कर व्याकरण अथवा कल्पप्रवक्ता का निर्देश अवश्य करते। अतः काश्यप का काल भारतयुद्ध के आस-पास मानना उचित होगा क्योंकि प्रायः शाखाप्रवक्ता ऋषियों ने ही कल्पसूत्रों का प्रवचन किया था।

व्याकरण और कल्प के अतिरिक्त छन्दःशास्त्र, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, अलंकारशास्त्र, पुराण और कणाद सूत्रों का प्रवचन काश्यप ने किया था, ऐसा उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि इन सबका प्रवक्ता एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न।

३. गार्ग्य (३१०० वि०पू०)

पाणिनि ने अपने तन्त्र में तीन स्थानों पर गार्ग्य का उल्लेख किया है। ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेय प्रातिशाख्य में गार्ग्य के अनेक मत उपलब्ध होते हैं। उनसे विदित होता है कि गार्ग्य का व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था।

गोत्रप्रत्ययान्त गार्ग्य पद के अनुसार इनके मूलपुरुष का नाम गर्ग था। गर्ग, प्रसिद्ध वैयाकरण भरद्वाज के पुत्र थे।

वैयाकरण गार्ग्य कौन ?

एक नैरुक्त गार्ग्य का उल्लेख यास्क ने अपने निरुक्त में किया है। सामवेद का पद पाठ भी गार्ग्य विरचत माना जाता है। बृहद्देवता (१।२६) में यास्क और रथीतर के साथ गार्ग्य का मत उद्धृत है। ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेय प्रातिशाख्य में गार्ग्य के अनेक मत उद्धृत हैं। चरक सूत्रस्थान (१।१०) में गार्ग्य का उल्लेख है।

सामवेदीय पद पाठों की अन्य पद पाठों और यास्कीय निर्वचनों के साथ तुलना करने से प्रतीत होता है कि नैरुक्त गार्ग्य और सामवेद का पदकार एक ही व्यक्ति है। बृहद्देवता (१।२६) में निर्दिष्ट गार्ग्य के साहचर्य से निश्चित ही नैरुक्त गार्ग्य है। इस प्रकार ये तीनों गार्ग्य एक ही हैं।

प्रातिशाख्यों में उद्धृत मतों का अवलोकन करने से निश्चित होता है कि वे मत वैयाकरण गार्ग्य के हैं। वैयाकरण गार्ग्य भी, नैरुक्त गार्ग्य ही हैं, ऐसा हमारा विचार है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित या निर्दिष्ट दृप्त बालाकि गार्ग्य, शैशिरायण गार्ग्य, सौर्यायणि गार्ग्य ये सब निश्चय ही विभिन्न व्यक्ति हैं। यह इनके साथ प्रयुक्त विशेषण ही कह रहे हैं।

काल

पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में स्मृत होने से गार्ग्य निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन हैं।

यदि यास्क द्वारा निरुक्त में स्मृत नैरुक्त गार्ग्य वैयाकरण गार्ग्य ही हों तो ये यास्क से भी प्राचीन होंगे। तदनुसार गार्ग्य का काल विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व है।

सुश्रुत के टीकाकार डल्हण, गार्ग्य को धन्वन्तरि का शिष्य बताते हुए उनके साथ गालव का भी निर्देश करते हैं। पाणिनीय तन्त्र में भी गार्ग्य और गालव साथ-साथ निर्दिष्ट हैं। इस साहचर्य से वैद्यगार्ग्य-गालव और वैयाकरण गार्ग्य-

गालव की एकता यदि मानी जाय तो इनका काल विक्रम से लगभग ५५०० वर्ष पूर्व होगा।

गार्ग्य का व्याकरण

यद्यपि गार्ग्य के व्याकरण का कोई सूत्र प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है तथापि अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य में उद्धृत गार्ग्य के मतों से विदित होता है कि उनका व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था।

यदि सामवेद का पदकार ही व्याकरण प्रवक्ता गार्ग्य हो तो मानना पड़ेगा कि गार्ग्य का व्याकरण कुछ भिन्न प्रकार का था; क्योंकि सामपदपाठ में मित्रपुत्र आदि अनेक पदों में अवग्रह करके अवान्तर दो-दो पद दर्शाये हैं जो पाणिनीयव्याकरणानुसार (धातुप्रत्यय के [illegible] से) एक ही पद हैं।

अन्य रचनाएं

प्राचीन वाङ्मय में गार्ग्य के नाम से निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—निरुक्त, सामवेद का पदपाठ, शालक्यतन्त्र, भू-वर्णन, तक्षशास्त्र, लोकायतशास्त्र, देवर्षिचरित और सामतन्त्र।

इनमें निरुक्त और सामपदपाठ निश्चिय ही वैयाकरण गार्ग्य की कृतियां हैं, शेष ग्रंथों के विषय में निश्चत रूप से नहीं कह सकते।

४. गालव (३१०० वि० पू०)

अष्टाध्यायी में पाणिनि ने चार स्थानों में गालव का उल्लेख किया है। पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति (६।१।७७) में गालव का व्याकरण सम्बन्धी एक मत उद्धृत है जिसकी व्यारकण शास्त्र में बहुत प्रसिद्धि है—

इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्। दधियत्र, दध्यत्र; मधुवत्र, मध्वत्र।

अतः स्पष्ट है कि गालव ने किसी व्याकरशास्त्र का अवश्यक प्रवचन किया था।

परिचय

अन्य वैयाकरणों के नामों की ही तरह यदि गालव शब्द भी तद्धित प्रत्ययान्त हो तो इनके पिता का नाम गलव या गलु होगा।

महाभारत शान्तिपर्व (३४२।१०३–१०४) में पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव को क्रमपाठ और शिक्षा का प्रवक्ता कहा है। शिक्षा का सम्बन्ध व्याकरण-शास्त्र के साथ होने से यदि शिक्षा प्रवक्ता पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव ही व्याकरण प्रवक्ता भी हो तो गालव का बाभ्रव्य गोत्र होगा और पाञ्चाल उसका देश।

सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने गालव को धन्वतरि का शिष्य कहते हुए उनके साथ गार्ग्य का निर्देश किया है। यदि यही गालव व्याकरण प्रवक्ता हो तो गालव का एक आचार्य धन्वन्तरि होगा।

अन्यत्र उल्लेख—निरुक्त, बृहद्देवता, ऐतरेय आरण्यक और वायुपुराण में गालव के मत उद्धृत हैं। चरकसंहिता के प्रारम्भ में भी गालव का उल्लेख है।

काल

अष्टाध्यायी में गालव का उल्लेख होने से निश्चित वे पाणिनि से प्राचीन हैं। हमारे मत में महाभारत में उल्लिखित पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव ही व्याकरण के प्रवक्ता हैं। यही निरुक्त प्रवक्ता भी हैं। अतः उनका काल शौनक और भारतयुद्ध से प्राचीन है। बृहद्देवता में गालव को पुराण कवि कहा है।

यदि धन्वन्तरि के शिष्य गालव ही व्याकरण प्रवक्ता हों तो गालव का काल लगभग विक्रम से ५५०० वर्ष पूर्व होगा।

गालव व्याकरण

गालव व्याकरण का कोई सूत्र प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। पुरुषोत्तम-देव ने भाषावृत्ति (६।१।७७) में गालव का व्याकरण सम्बन्धी एक मत उद्धृत किया है—

इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्।

तदनुसार लोक में 'दध्यत्र, मध्वत्र' के स्थान में 'दधियत्र, मधुवत्र' प्रयोग भी साधु हैं। यह यण्व्यवधानपक्ष आचार्य पाणिनि से भी अनुमोदित है। उन्होंने 'भूवादयो धातवः' सूत्र में वकार का व्यवधान किया है।

इसके अतिरिक्त गालव व्याकरण के विषय में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता।

अन्य कृतियाँ

प्राचीन वाङ्मय में गालवविरचित निम्न ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—संहिता, ब्राह्मण, क्रम-पाठ, शिक्षा, निरुक्त, दैवतग्रंथ, शालाक्यतन्त्र, कामसूत्र, और भू-वर्णन।

५. चाक्रवर्मण (३००० वि० पू०)

चाक्रवर्मण आचार्य का नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा उणादिसूत्रों में मिलता है। भट्टोजिदीक्षित ने शब्द कौस्तुभ में इ.का मत उद्धृत किया है।

श्रीपतिदत्त ने कातन्त्र परिशिष्ट के 'हेतौ वा' सूत्र की वृत्ति में चाक्रवर्मण का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि चाक्रवर्मण आचार्य ने किसी व्याकरण शास्त्र का प्रवचन किया था।

परिचय

चाक्रवर्मण पद में श्रूयमाण अपत्य प्रत्यय के अनुसार इनके पिता का नाम चक्रवर्मा था। गुरुपदहालदार ने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' (पृष्ठ ५१६) में वायुपुराण के अनुसार चक्रवर्मा को काश्यप का पौत्र लिखा है।

काल

अष्टाध्यायी में चाक्रवर्मण का उल्लेख होने से ये पाणिनि से प्राचीन हैं इतना निश्चित है। उणादि (३।१४४) में चाक्रवर्मण का उल्लेख है। पञ्चपादी उणादिसूत्र आपिशलि की रचना है अतः इनका काल आपिशलि से भी पूर्व अर्थात् विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व है।

चाक्रवर्मण व्याकरण

चाक्रवर्मण व्याकरण का कोई सूत्र अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

पाणिनीयमतानुसार द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। भट्टोजि-दीक्षित ने माघ (१२।१३) प्रयुक्त 'द्वयेषाम्' पद में चाक्रवर्मण व्याकरणा-नुसार सर्वनामसंज्ञा का उल्लेख किया है और 'नियतकालाः स्मृतयः' इस मत के अनुसार उसका असाधुत्व प्रतिपादन किया है। इससे प्रतीत होता है कि चाक्रवर्मण व्याकरणानुसार द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा होती थी।

आधुनिक वैयाकरण 'नियतकालाः स्मृतयः' इस नियम के अनुसार पाणिनि आदि मुनित्रय के मत से शब्द के साधुत्व असाधुत्व की व्यवस्था मानते हैं। यह मत वस्तुतःचिन्त्य है। महाभाष्य आदि प्रामाणिक ग्रंथों में भी इस प्रकार का कोई वचन नहीं मिलता।

महाभाष्यकार के मत में भी द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा होती है। उन्होंने **'द्वये प्रत्यया विधीयन्ते तिङः कृतश्च'** (महाभाष्य २।३।६५ ॥ ६।२।१३६ ॥) इस वाक्य में द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा मानी है। यदि यहाँ द्वय पद को स्थानिवद्भाव से तयप्प्रत्ययान्त मानकर 'प्रथमचरमतयाल्पार्थ०' सूत्र से जस् विषय में इसकी विकल्प से सर्वनाम संज्ञा सिद्ध करना चाहें तो वह नहीं हो सकता क्यों कि महाभाष्यकार ने 'द्वय' पद में होने वाले 'अयच्' को स्वतन्त्र प्रत्यय माना है, न कि तयप् का आदेश (अयच् प्रत्ययान्तरम्। महाभाष्य १।१।४४; ५६ ॥)। अतः यहाँ 'यथोत्तरं मुनीनां

प्रामाण्यम्' के अनुसार 'प्रथम चरम०' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी लिए चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण में प्रथम चरम० सूत्र में 'अय' अंश का प्रक्षेप करके 'प्रथमचरमतयायाल्पार्ध' ऐसा न्यासान्तर किया है। हेमचन्द्र ने भी 'अय' का पृथक् ग्रहण किया है। उदाहरण में अय शब्द की भी विकल्प से सर्वनाम संज्ञा मानी है।

आधुनिक वैयाकरणों के यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्, नियतकालाः स्मृतयः जैसे व्याकरणशास्त्र विरुद्ध मत की आलोचना के लिए नारायण भट्ट का 'अपाणिनीयप्रमाणता' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

६. भारद्वाज (३००० वि० पू०)

भारद्वाज का उल्लेख अष्टाध्यायी (७।२।६३) में मिलता है। अष्टाध्यायी (४।२।१४५) में भी भारद्वाज शब्द पाया जाता है परन्तु काशिकाकार जयादित्य के मतानुसार यह भारद्वाज पद देशवाची है, आचार्यवाची नहीं। भारद्वाज का व्याकरण सम्बन्धी मत तैत्तिरीय प्रातिशाख्य और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में मिलता है।

परिचय

भारद्वाज के पूर्व पुरुष का नाम भरद्वाज है। सम्भवतः ये भरद्वाज वही हैं जो इन्द्र के शिष्य दीर्घजीवी अनूचानतम भारद्वाज प्रसिद्ध थे।

न्यायमञ्जरी में जयन्त ने भारद्वाज को चतुर्वेदाध्यायी कहा है।

अनेक भारद्वाज

१. प्रश्नोपनिषद् (६।१) में सुकेशा भारद्वाज का उल्लेख है, यह हिरण्यनाभकौसल्य का समकालिक है।

२. बृहदारण्यक उपनिषद् में गर्दभीविपीत भारद्वाज का निर्देश है, यह याज्ञवल्क्य का समकालिक है।

३. काश्यपसंहिता सूत्रस्थान (२७।३) में कृष्ण भारद्वाज का उल्लेख है।

४. द्रोण भारद्वाज, द्रोणाचार्य के नाम से प्रसिद्ध ही हैं।

५. कौटिल्य अर्थशास्त्र में भारद्वाज के अनेक मत उद्धृत हैं।

काल

अष्टाध्यायी में भारद्वाज का निर्देश गोत्रप्रत्ययान्त भारद्वाज शब्द से किया गया है। अनेक उल्लिखित भारद्वाजों में वैयाकरण भारद्वाज कौन है, जब तक यह निर्णीत न हो तब तक उसका काल निर्धारण करना कठिन है। हमारे विचार में यह वैयाकरण भारद्वाज, दीर्घजीवितम अनूचानतम

बार्हस्पत्य वैयाकरण भारद्वाज का पुत्र द्रोण भारद्वाज है। उनकी आयु भारत-युद्ध के समय ४०० वर्ष की थी, ऐसा महाभारत में स्पष्ट लिखा है। फिर भी पाणिनीयाष्टक में भारद्वाज का साक्षात् उल्लेख होने से निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये विक्रम से ३००० वर्ष प्राचीन अवश्य हैं।

भारद्वाज व्याकरण

इस व्याकरण के केवल दो मत ही प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उनसे इसके स्वरूप और परिमाण आदि के विषय में कोई विशेष ज्ञान नहीं होता।

भारद्वाज वार्तिक—महाभाष्य में बहुत्र भारद्वाजीय वार्तिकों का उल्लेख है। वे प्राय: कात्यायन के वार्तिकों से मिलते हैं और उनकी अपेक्षा विस्तृत एवं विस्पष्ट हैं। ये भारद्वाजीय वार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी पर ही लिखे गये हैं।

अन्य कृतियाँ

आयुर्वेद संहिता—भारद्वाज ने कायचिकित्सा पर एक संहिता रची थी। इसके अनेक उद्धरण आयुर्वेद के टीका ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

अर्थशास्त्र—चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में भारद्वाज के अनेक मत उद्धृत किये हैं। टीकाकारों के मतानुसार वे द्रोण भारद्वाज के हैं।

७. शाकटायन (३००० वि० पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शाकटायन का तीन स्थानों में उल्लेख किया है। वाजसनेय प्रातिशाख्य तथा ऋक्प्रातिशाख्य में भी इनका अनेकत्र निर्देश मिलता है। यास्क ने अपने निरुक्त में शाकटायन के विषय में बड़े आदर से महत्तापरक वचन लिखा है—**"तत्र नामान्याख्यात जानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।"** पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों में शाकटायन को व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता कहा है। काशिका वृत्ति में १।४।८६-८८ के उदाहरणों **'अनुशाकटायनं वैयाकरणा:'** और **'उपशाकटायनं वैयाकरणा:'** से विदित है कि शाकटायन की वैयाकरणों में सर्वप्रमुखता, पाणिनि के बहुत बाद तक भी मानी जाती रही थी। अत: सभी प्रमुख विद्वान् इन्हें निर्विवाद रूप में महान् वैयाकरण स्वीकार करते हैं।

महाभाष्य (३।३।१) में शाकटायन के पिता का नाम शकट लिखा है। पाणिनि ने शकट शब्द नडादिगण में पढ़ा है। **नडादिभ्य: फक्** (४।१।९९) से फक् होकर शाकटायन शब्द निष्पन्न होता है। वैयाकरणों के मतानुसार

शकट, शाकटायन के पितामह का नाम होना चाहिए किन्तु यह भाष्य के लेख के विरुद्ध पड़ता है। वस्तुतः भाष्य का ही लेख सत्य है। वैयाकरणों की गोत्राधिकार की वर्तमान व्याख्या सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास गोत्रप्रवराध्याय से विपरीत है और गोत्राधिकार प्रत्ययों का अनन्तरापत्य में दृष्ट प्रयोगों की उपपत्ति में क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। अतः यह व्याख्या त्याज्य है। शास्त्रकार पाणिनि का अभिप्राय यह है कि गोत्राधिकार विहित प्रत्यय अनन्तर-अपत्य में भी होते हैं और पौत्र प्रभृति अपत्यों के लिए इन्हीं गोत्राधिकारविहित प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

वर्धमान ने शकट का अर्थ **'शकटमिव भारक्षमः'** किया है। (गणरत्न-महोदधि पृष्ठ १४६)

महाभाष्य (३।२।११५) में लिखा है—

अथवा भवति वै कश्चिद् जाग्रदपि वर्तमान कालं नोपलभते। तद्यथा—वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आशीनः शकटसार्थं यन्तं नोपलेभे।

अर्थात् जागता हुआ भी कोई पुरुष वर्तमान काल को नहीं ग्रहण करता। जैसे रथ मार्ग पर बैठे हुए, वैयाकरणों में श्रेष्ठ शाकटायन ने जाते हुए गाड़ियों के समूह को नहीं देखा।

प्रतीत होता है कि शाकटायन के जीवन की यह कोई महत्त्वपूर्ण और लोक परिज्ञात घटना है; इसीलिए पतञ्जलि ने इसका उदाहरण रूप से उल्लेख किया।

डॉ० सत्यकाम वर्मा का कथन है कि महाभाष्यकार के उक्तकथन से शाकटायन की अन्यवैयाकरणों से भिन्नता और महत्त्व का संकेत मिलता है। उसका अभिधार्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। उसका भाव केवल इतना ही है कि **शाकटायन वैयाकरण होकर भी सामान्य वैयाकरणों की परम्परा से भिन्न ही रहा।** शाकटायन की **'नामान्याख्यातजानि'** की अपनी मान्यता के कारण सामान्य वैयाकरणों से एकता स्थापित नहीं हो सकी और न हो ही सकती थी।

शाकटायन की श्रेष्ठता

निरुक्त (१।१२) तथा महाभाष्य (३।३।१) से विदित होता है कि वैयाकरणों में शाकटायन आचार्य ही ऐसा था जो समस्त नाम शब्दों को आख्यातज मानता था। निश्चय ही उसने किसी ऐसे महत्त्वपूर्ण व्याकरण की रचना

की थी जिसमें सब शब्दों की व्युत्पत्ति दर्शायी गयी थी। इसी से शाकटायन को वैयाकरणों में श्रेष्ठ माना गया और काशिका वृत्तिकार ने **अनुशाकटायनं वैयाकरणा:; उपशाकटायनं वैयाकरणा:"** (सब वैयाकरण शाकटायन से हीन हैं)—ऐसा प्रशंसापरक उदाहृण लिखा।

गार्ग्य को छोड़ कर सब नैरुक्त आचार्य समस्त नाम शब्दों को आख्यातज मानते हैं। निरुक्त (१।१२ और १।१३) के अवलोकन से विदित होता है कि तात्कालिक वैयाकरण, शाकटायन और नैरुक्तों के इस मत से असहमत थे। उन्होंने इस मत की कड़ी आलोचना की थी। यास्क ने उन वैयाकरणों की आलोचना को पूर्वपक्ष में रख कर उसका वैसा ही युक्तियुक्त और कड़ा उत्तर दिया है।

शाकटायन व्याकरण का स्वरूप

शाकटायन व्याकरण अनुपलब्ध है, तथापि विभिन्न ग्रन्थों में इस व्याकरण के उद्धृत मतों से इस विषय में जो प्रकाश पड़ता है वह इस प्रकार है—

लौकिक वैदिक पदान्वाख्यान—निरुक्त, महाभाष्य और प्रातिशाख्यों के पूर्वोक्त प्रमाणों से व्यक्त है कि इस व्याकरण में लौकिक वैदिक उभयविधि पदों का अन्वाख्यान था।

नागेश भट्ट ने 'महाभाष्यप्रदीपोद्योत' के आरम्भ में लिखते हैं कि शाकटायन व्याकरण में केवल लौकिक पदों का अन्वाख्यान था। उनकी यह भारी भूल है। जब वे महाभाष्य (३।३।१) के विवरण में पञ्चपादी उणादि सूत्रों को शाकटायन प्रणीत कहते हैं तब यही उक्ति उनके विपरीत जाती है क्यों कि उन उणादि सूत्रों में अनेक ऐसे सूत्र हैं जो केवल वैदिक शब्दों के व्युत्पादक हैं। इतना ही नहीं, प्रातिशाख्यों में शाकटायन के व्याकरणविषयक अनेक ऐसे मतों का उल्लेख है जो केवल वेदविषयक हैं। प्रतीत है, नागेश ने अभिनव जैनशाकटायन व्याकरण को प्राचीन आर्ष शाकटायन व्याकरण मान कर उक्त पंक्ति लिखी है।

शब्द निर्वचन प्रकार—यास्क ने अपने निरुक्त (१।१३) में लिखा है—

'एतेः कारितं च यकारादिं चान्तःकरणमस्तेः शुद्धं सकारादिं च'

इस पर दुर्गाचार्य के व्याख्यान से विदित होता है कि शाकटायन ने सत्य शब्द की निरुक्ति 'इण्गतौ' तथा 'अस्भुवि' इन दो धातुओं से की थी। इसी प्रकरण में दुर्गाचार्य ने लिखा है—शाकटायनाचार्योऽनेकैश्च धातुभिरेकमभिधानमनुविहितवान् एकेन चैकम्। अर्थात् शाकटायनाचार्य ने कई पदों की सिद्धि अनेकधातुओं से की थी और कई पदों की एक-एक धातु से।

स्कन्दस्वामी की व्याख्या के अनुसार शाकटायन ने 'इण्' धातु से कारित (=णिच्=इ) प्रत्यय और 'अस्' के सकार से केवल स् (=सु प्रथमैक-वचन) और सकारादि सन् आदि प्रत्ययों की कल्पना की थी।

नाम पदों की अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति केवल शाकटायन ने नहीं की, अपितु शाकपूणि आदि अनेक नैरुक्त आचार्य इस प्रकार की व्युत्पत्ति करते थे। 'अग्नि' पद की व्युत्पत्ति शाकपूणि ने तीन धातुओं से मानी है (यास्क निरुक्त ७।१४)। इसी प्रकार हृदय, हिरण्य, हिम, नरक, भर्ग आदि अनेक शब्द विविध ग्रंथों में अनेकधा व्याख्यात् उपलब्ध होते हैं। यही कारण है कि नैरुक्त और शाकटायन किसी भी शब्द को **'यदृच्छा शब्द'** नहीं मान सकते थे। उनके मत में जातिशब्द, गुणशब्द और क्रिया शब्द ये तीन प्रकार के शब्द हैं—

'तदेवं निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशाब्दा इति।' (जिनेन्द्रबुद्धि, न्यास ३।३।१)

यदृच्छा शब्दों को मानने का मतलब 'वर्तमान काल' की भाँति प्रत्यक्ष और अनुभव का विषय मानते हुए पारिणामतः उन्हें अव्युत्पाद्य भी स्वीकार करना है।

उपसर्ग—बीस उपसर्ग प्रायः सभी आचार्य मानते हैं। परन्तु शाकटायन आचार्य 'अच्छ', 'श्रद्' और 'अन्तर' इन तीन को भी उपसर्ग मानते हैं—

अच्छ श्रदन्तरित्येतान् आचार्यः शाकटायनः।
उपसर्गान् क्रियायोगान् मेने ते तु त्रयोऽधिकाः॥
(शौनक, बृहद्देवता, २।९५)

शाकटायन का काल

अष्टाध्यायी में शाकटायन का उल्लेख होने से ये निश्चित ही पाणिनि से प्राचीन हैं। यास्क ने शाकटायन का नामोल्लेख पूर्वक स्मरण किया है। यास्क का काल विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व है अतः शाकटायन निश्चय ही विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष प्राचीन हैं।

अन्य कृतियाँ

शाकटायन के नाम से निम्नलिखित ग्रंथ उल्लिखित अथवा निर्दिष्ट मिलते हैं—दैवतग्रन्थ, निरुक्त, कोष, ऋक्तन्त्र, लघु ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र, पञ्चपादी उणादिसूत्र और श्राद्धकल्प।

इनमें से दैवतग्रंथ और निरुक्त दो ग्रंथ वैयाकरण शाकटायन विरचित हैं। शेषग्रन्थों का रचयिता सन्दिग्ध है।

८. शाकल्य (३१०० वि०पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शाकल्य के मतों का उल्लेख चार स्थानों में किया है। शौनक और कात्यायन ने भी अपने प्रातिशाख्यों में शाकल्य के मतों का उल्लेख किया है। ऋक्प्रातिशाख्य में शाकल नाम से उद्धृत समस्त नियम शाकल्य के ही हैं। महाभाष्यकार ने (६।१।१२७) में शाकल्य के नियम का उल्लेख शाकल नाम से किया है।

लक्ष्मीधर ने गार्हस्थ्य काण्ड पृष्ठ १६६ में हारीत सूत्र 'जातपुत्रायाधानम्' को उद्धृतकर **'जातपुत्रायाधानमित्यत्र जातपुत्रशब्दः प्रथमाबहुवचनान्तः, शाकल्यमताश्रयेण यकार पाठः'** लिखते हुए शाकल्य के एक व्याकरण सम्बन्धी नियम की ओर संकेत किया है।

शाकल्य का शाकल नामान्तर से भी उल्लेख मिलता है—

पुनरुक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः।

(कात्यायन प्रातिशाख्य ४।१७७, १८१ टीका में उद्धृत श्लोक)

इस प्रकार शाकल्य और शाकल दोनों एक ही व्यक्ति हैं। दोनों नामों में केवल अपत्यप्रत्यय का भेद है। पाणिनि ने शकलपद गर्गादिगण (४।१।१०५) में पढ़ा है तदनुसार शकल शब्द से **'गर्गादिभ्यो यञ्'** सूत्र से यञ् प्रत्यय होकर शाकल्य पद निष्पन्न होता है और उसी शकल शब्द से **'तस्यापत्यम्'** सूत्र से औत्सर्गिक अण् होकर शाकल पद निष्पन्न होता है। तदनुसार शाकल्य के पिता का नाम शकल था।

अनेक शाकल्य

संस्कृत वाङ्मय में शाकल्य, स्थविर शाकल्य, विदग्ध शाकल्य और वेदमित्र (देवमित्र) शाकल्य ये चार नाम उपलब्ध होते हैं। पाणिनीय अष्टक में स्मृत शाकल्य और ऋग्वेद के पदकार वेदमित्र शाकल्य निश्चय ही एक ही व्यक्ति हैं क्योंकि ऋक्पदपाठ में व्यवहृत कई नियम पाणिनि ने शाकल्य के नाम से उद्धृत किये हैं। ऋक् प्रातिशाख्य (२।८१–८२) की उव्वट व्याख्या के अनुसार शाकल्य और स्थविर शाकल्य भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। विदग्ध शाकल्य भी भिन्न व्यक्ति है।

काल

पाणिनि ने अष्टक में शौनक को उद्धृत किया है (**शौनकादिभ्यश्छन्दसि** ४।३।१०६)। शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में शाकल्य के व्याकरण के मत

उद्धृत किये हैं अतः शाकल्य शौनक से भी पूर्व बैठते हैं। शौनक का काल विक्रम से लगभग २६०० वर्ष पूर्व निश्चित है अतः शाकल्य का काल विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्व है।

शाकल्य का व्याकरण

अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्यों में शाकल्य के उद्धृत मतों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि शाकल्य के व्याकरण में लौकिक वैदिक उभयविध शब्दों का अन्वाख्यान था।

कई विद्वानों का मत है कि शाकल्य ने किसी व्याकरणशास्त्र की रचना नहीं की थी। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने उन नियमों का संग्रह शाकल्यकृत ऋक्पदपाठ से किया है। यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि पाणिनि आदि ने कई ऐसे मत उद्धृत किये हैं जिनका संग्रह ऋक्पदपाठ से नहीं हो सकता है। यथा—**इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च**। यहाँ संहिता में प्रकृतिभाव और ह्रस्वत्व का विधान है। पादपाठ में संहिता का अभाव होता है। अतः ऐसे नियम उनके व्याकरण से ही संगृहीत हो सकते हैं।

शाकल्य की अन्य कृतियाँ

शाकल चरण—वेदमित्र शाकल्य, शाकल चरण की पाँच संहिताओं के प्रवक्ता हैं—

> वेद मित्रस्तु शाकल्यो महात्मा द्विजसत्तमः।
> चकार संहिताः पञ्च बुद्धिमान् पदवित्तमः॥
>
> (वायुपुराण ६०।६३)

ऋक् प्रातिशाख्य (४।४ में) शौनक ने **'विपाट् छुतुद्री पयसा जवेते'** में श्रूयमाण छकारादेश का विधान शाकल्य के पिता के नाम से किया है अतः स्पष्ट है कि शाकल्य ने ऋग्वेद की प्राचीन संहिता का केवल प्रवचनमात्र किया है, परिवर्तन नहीं किया। अन्यथा इस नियम का उल्लेख उनके पिता के नाम से न होता।

पदपाठ—शाकल्य ने ऋग्वेद का एक पदपाठ रचा था। (निरुक्त ६।२८)

वायुपुराण (६०।६३) के उपर्युक्त उद्धरण में वेदमित्र शाकल्य को 'पदवित्तम' कहा है। इससे स्पष्ट है कि शाकल चरण प्रवर्तक वेदमित्र शाकल्य ही पदपाठकार भी हैं। ऋग्वेदपदपाठ में व्यवहृत कुछ विशिष्ट नियम पाणिनि ने अपने तन्त्र (१।१।१६ तथा १।१।१८) में उद्धृत किये हैं अतः वैयाकरण शाकल्य, शाकलचरण प्रवक्ता वेदमित्र शाकल्य और पदपाठ प्रवक्ता शाकल्य तीनों निस्सन्देह एक ही व्यक्ति हैं।

माध्यन्दिन पदपाठ—इसका संशोधित संस्करण अब प्रकाश में आ चुका है और यह सिद्ध हो चुका है कि माध्यन्दिन पदपाठ है।

९. सेनक (२९५० वि० पू०)

पाणिनि ने केवल एक सूत्र (गिरेश्च सेनकस्य ५।४।११) में सेनक आचार्य का उल्लेख किया है। इससे इनकी पाणिनि से पूर्ववर्त्तिता सिद्ध है। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त आचार्य सेनक का कहीं उल्लेख न मिलने से इनके विषय में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता।

१०. स्फोटायन(औदुम्बरायण) (२९५० वि० पू०)

पाणिनि ने अपने एक सूत्र (अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३) में ही स्फोटानाचार्य का उल्लेख किया है।

परिचय

१. काशिका (३।१।१२३) की व्याख्या में पदमञ्जरीकार हरदत्त ने लिखा है—

स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। ये त्वौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा (स्फोटशब्दस्य) पाठं मन्यन्ते।

इस व्याख्या के अनुसार प्रथम पक्ष में ये वैयाकरणों के महत्वपूर्ण स्फोट-तत्त्व के उपज्ञाता होने के कारण वैयाकरण निकाय में **स्फोटायन** नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका वास्तविक नाम **औदुम्बरायण** अब ज्ञात हो चुका है अतः यह पक्ष चिन्त्य है। द्वितीय पक्ष (स्फौटायन पाठ) में स्फोट इनके पूर्वज का नाम था। किन्तु स्फोट या स्फौटायन का उल्लेख किसी प्राचीन ग्रन्थ में मिलता नहीं है।

२. **स्फोटायने तु कक्षीवान्**—(हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि)

स्फोटायनस्तु कक्षीवान्—(केशव, नानार्थार्णवसंक्षेप)

इन उद्धरणों से व्यक्त होता है कि स्फोटायन, कक्षीवान् का नाम था और यह भी प्रतीत होता है कि स्फोटायन नाम ठीक है, न कि स्फौटायन, जैसा कि हरदत्त की उक्त व्याख्या के द्वितीय पक्ष में कहा गया है।

३. भरद्वाजकृत यन्त्र सर्वस्व अन्तर्गत वैमानिक प्रकरण के प्रकाश में आने से भरद्वाज के 'चित्रिण्येवेति स्फोटायनः' सूत्र और उसकी व्याख्या से स्पष्ट है कि स्फोटायन आचार्य एक महान् वैज्ञानिक भी थे।

काल

१. पाणिनीय तन्त्र में **स्फोटायन** का **उल्लेख** होने से ये पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं और विक्रम से २९५० वर्ष प्राचीन हैं।

२. यदि हेमचन्द्र **और केशव** का उक्त लेख ठीक हो और कक्षीवान् पद से उशिक्पुत्र कक्षीवान् अभिप्रेत हो तो इनका काल इससे कुछ अधिक प्राचीन होगा।

३. भरद्वाजीय विमानशास्त्र में स्फोटायन का उल्लेख होने से इनका काल प्राचीन सिद्ध होता है।

भरतमिश्र (स्फोटसिद्धि पृष्ठ १ में) स्फोट तत्त्व के प्रतिपादक का नाम **औदुम्बरायण** लिखते हैं। क्या कक्षीवान् और औदुम्बरायण का परस्पर कुछ सम्बन्ध सम्भव हो सकता है ?

यास्क ने अपने निरुक्त (१।२) में औदुम्बरायण का मत उद्धृत किया है। वहाँ टीकाकारों की व्याख्या के अनुसार औदुम्बरायण के मत में शब्द का अनित्यत्व दर्शाया गया है। भर्तृहरि के मतानुसार औदुम्बर आचार्य शब्द-नित्यवादी हैं—

> वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च शाश्वतम् ।
> दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ ॥
>
> (वाक्यपदीय २।३४३)

अतः भर्तृहरि के मतानुसार निरुक्त टीकाकारों की व्याख्या अशुद्ध है।

भर्तृहरि के उद्धृत उक्त वचन से स्पष्ट होता है कि औदुम्बरायण (स्फोटायन) सम्भवतः वैयाकरणों के महत्त्वपूर्ण स्फोटतत्त्व के आद्य उपज्ञाता थे।

पंचम अध्याय

पाणिनि और उनका शब्दानुशासन

(२६०० वि० पू०)

संस्कृत भाषा के समस्त प्राचीन आर्ष व्याकरणों में एकमात्र पाणिनीय-व्याकरण अपने साङ्गोपाङ्ग रूप में सम्प्रति उपलब्ध होने से प्राचीन आर्ष वाङ्मय की एक अनुपम विधि है। इससे देववाणी का प्राचीन और अर्वाचीन समस्त वाङ्मय सूर्य के आलोक की भाँति प्रकाशमान है। यह अनुपम ग्रन्थ भारतीय प्राचीन आचार्यों के सूक्ष्म चिन्तन, सुपरिपक्व ज्ञान और अद्‌भुत प्रतिभा का निदर्शक है। इससे देववाणी परम गौरवान्वित है। संसार भर में किसी भी अन्य प्राचीन अथवा अर्वाचीन भाषा का ऐसा परिष्कृत व्याकरण आज तक नहीं बना। यही कारण है कि इसे देखकर प्रत्येक विद्वान् इसकी अत्यन्त सुन्दर, सुसम्बद्ध और सूक्ष्मतम पदार्थ को द्योतित करने की क्षमता से पूर्ण रचना पर मुग्ध होता हुआ मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगता है।

परिचय

पाणिनि के विभिन्न नाम त्रिकाण्डशेष में पुरुषोत्तमदेव ने पाणिनि के निम्न नाम लिखे हैं—

(१) पाणिन, (२) पाणिनि, (३) दाक्षीपुत्र, (४) शालङ्कि, (५) शालातुरीय, (६) आहिक। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के याजुष पाठ में (७) पाणिनेय नाम भी उपलब्ध होता है। यशस्तिलक चम्पू में (८) मणि पुत्र शब्द भी व्यवहृत मिलता है।

१. पाणिन—इस नाम का उल्लेख काशिका (६।२।१४) तथा चान्द्रवृत्ति (२।२।६८) में मिलता है। यह पणिन् नकारान्त शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इसका निर्देश अष्टाध्यायी (६।४।१६५) में भी मिलता है।

'पाणिनीय' शब्द, पाणिन अकारान्त शब्द से 'छ' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। महाभाष्य में **'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्'** निर्दिष्ट वचन को अर्थ प्रदर्शक समझना चाहिए, विग्रह प्रदर्शक नहीं। इकारान्त पाणिनि शब्द से प्रोक्त अर्थ में इञश्च (४।२।११२) के नियम से अण् प्रत्यय होकर

पाणिन शब्द उपपन्न होता है, जैसे आपिशलि से आपिशल, काशकृत्स्नि से काशकृत्स्न। 'पाणिनीय' की उपपत्ति भट्टोजिदीक्षित ने पाणिनि शब्द से दर्शायी है वह चिन्त्य है।

२. पाणिनि—यह ग्रन्थकार का लोकविश्रुत नाम है। इसी नाम से वे प्रसिद्ध हैं। इस नाम की व्युत्पत्ति में वैयाकरणों के दो मत हैं—

(क) 'पणिन्' से अपत्यार्थ में अण होकर 'पाणिन' उससे पुनः अपत्यार्थ में इञ् होकर 'पाणिनि' प्रयोग निष्पन्न होता है।

(ख) 'पणिन्' नकारान्त का पर्याय 'पणिन' अकारान्त स्वतन्त्र शब्द है। उससे अत इञ् (४।१।९५) के नियम से 'इञ्' होकर पाणिनि शब्द उत्पन्न होता है।[१] पाणिनि के लिए प्रयुक्त 'पणिपुत्र' शब्द भी इसी का ज्ञापक है कि पाणिनि 'पणिन्' (नकारान्त) का अपत्य है, 'पाणिन' का नहीं। पणिन्' नकारान्त से भी बाह्वादि (४।१।९६) आकृतिगत्व से इञ् प्रत्यय सम्भव है।

द्वितीय मत अधिक उपयुक्त है। क्योंकि गोत्र प्रकरण में पाणिन और पाणिनि दोनों ही नाम गोत्ररूप में स्मृत हैं। प्रथम पक्ष मानने पर 'पाणिन' गोत्र होगा और 'पाणिनि' युवा। यदि ऐसा होता तो युवप्रत्ययान्त 'पाणिनि' का गोत्र रूप से उल्लेख न होता।

३. पाणिनेय—इसका प्रयोग श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के याजुष पाठ में ही उपलब्ध होता है, और वह भी पाठान्तर रूप में। उसकी शिक्षाप्रकाश नाम्नी टीका में लिखा है—

पाणिनेय इति पाठे शुभ्राद्वित्वं कल्प्यम्।

अर्थात् 'पाणिनेय' प्रयोग की सिद्धि शुभ्रादिभ्यश्च (४।१।१२३) सूत्र-निर्दिष्ट गण को आकृतिगण मान कर करनी चाहिए।

४. पणिपुत्र—इसका प्रयोग यशस्तिलक चम्पू में मिलता है—

पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु (आश्वास २, पृष्ठ २३६)

५. दाक्षीपुत्र—इस नाम का उल्लेख महाभाष्य, समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित और श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में मिलता है।

६. शालङ्कि—यह पितृव्यपदेशज नाम है। ऐसा म० म० पं० शिवदत्त शर्मा का मत है। पाणिनि के लिए इस पद का प्रयोग कोशग्रन्थों में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

---

१. पणिनः मुनिः। पाणिनिः पणिनः पुत्रः। काशकृत्स्नधातुव्याख्यान १।२०६ तथा १।४८० ॥ दोनों स्थानों पर आकरान्त पाठ अशुद्ध है।

७. शा (सा) लातुरीय—पाणिनि के लिए इस नाम का निर्देश वलभी के ध्रुवसेन द्वितीय के संवत् ३१० के ताम्रशासन, भामह के काव्यालङ्कार काशिकाविवरणपञ्जिका (न्यास) तथा गणरत्नमहोदधि में मिलता है।

८. आह्निक—इसका प्रयोग कोश से अन्यत्र नहीं मिलता।

वंश—पं० शिवदत्त शर्मा ने पाणिनि का शालङ्कि नाम पितृव्यपदेशज माना है और पाणिनि के पिता का नाम 'शलङ्क' लिखा है। गणरत्नावली में यज्ञेश्वर भट्ट ने भी शालङ्कि के पिता का नाम 'शलङ्क' लिखा। कैयट, हरदत्त और वर्धमान शालङ्कि का मूल शलङ्कु मानते हैं।

पदमञ्जरीकार हरदत्त पाणिनि पद की व्युत्पत्ति करते हैं—

पणोऽस्यास्तीति पणी, तस्यापत्यं पाणिनः, पाणिनस्यापत्यं पाणिनोयुवा पाणिनिः।

यही व्युत्पत्ति कैयट आदि भी मानते हैं। उत्तरकालीन कैयट हरदत्त आदि सभी वैयाकरण लक्षणैकचक्षु बन गये। उन्होंने यथाकथमपि लक्षणानुसार शब्दसाधुत्व बताने की चेष्टा की, लक्ष्य पर कोई ध्यान नहीं दिया। पाणिन और पाणिनि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं। ऐसी अवस्था में पाणिन को पाणिनि का पिता बताना नितान्त विरुद्ध है। वे लोग जिस पाणिनि शब्द को युवप्रत्ययान्त कहते हैं वह तो गोत्रप्रवर प्रकरण में गोत्ररूप से पठित है। इसलिए पाणिनि का पिता पाणिन नहीं, अपितु पणिन् ही है और इसी का दूसरा रूप पणिन अकारान्त है।

पतञ्जलि ने महाभाष्य (१।१।२०) में पाणिनि को 'दाक्षीपुत्र' कहा है। दाक्षी पद गोत्र प्रत्ययान्त 'दाक्षि' का स्त्रीलिङ्ग रूप है। इससे व्यक्त होता है कि पाणिनि की माता दक्ष-कुल की थी।

संग्रहकार व्याडि का एक नाम दाक्षायण है (महाभाष्य २।३।६६)। इसी दाक्षायण को काशिका (६।२।६९) के 'कुमारीदाक्षाः' उदाहरण में दाक्षि नाम से स्मरण किया गया है अतः दाक्षि और दाक्षायण दोनों ही नाम संग्रहकार व्याडि के हैं। अतः निश्चित है कि संग्रहकार व्याडि पाणिनि की माता का भाई और पाणिनि का मामा है। व्याडि पद का पाठ क्रौडचादिगुण (४।१।८०) में होने से व्याडि की भगिनी दाक्षी का नाम व्याडचा भी है। इसी नाम परम्परा के अनुसार दाक्षी के पिता अर्थात् पाणिनि के नाना का नाम व्यड है।

वेदार्थ दीपिका में छन्दः शास्त्र के प्रवक्ता पिङ्गल को पाणिनि का अनुज लिखा है। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा की शिक्षाप्रकाश नाम्नी व्याख्या के रचयिता का भी यही मत है।

आचार्य वर्ष और पाणिनि

पाणिनि के गुरु आचार्य वर्ष थे ।

अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत ।
तत्रैकः पाणिनिर्नाम जडबुद्धितरोऽभवत् ॥

(कथासारित्सागर १।४।२०)

'वर्ष' का अनुज 'उपवर्ष' था । एक उपवर्ष जैमिनीय सूत्रों का वृत्तिकार था । एक उपवर्ष धर्मशास्त्रों में स्मृत है । जैमिनीयसूत्रवृत्तिकार और धर्मशास्त्रों में स्मृत उपवर्ष एक ही हैं । अवन्तिसुन्दरीकथासार में वर्ष और उपवर्ष का उल्लेख है किन्तु पाणिनि का नहीं । कथासरित्सागर की कथाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं है । यदि कथासरित्सागर में स्मृत उपवर्ष भी जैमिनीयसूत्रवृत्तिकार और धर्मशास्त्रों में स्मृत उपवर्ष ही हो और उसी का भाई वर्ष हो तो उसे पाणिनि का गुरु माना जा सकता है किन्तु उस अवस्था में कथासरित्सागर का इन वर्ष और उपवर्ष को नन्दकालिक लिखना भ्रान्तिमूलक मानना होगा । कई आधुनिक विद्वान् भी पाणिनि का काल नन्द से प्राचीन मानते हैं । अतः 'वर्ष' आचार्य पाणिनि के गुरु थे, यह सन्देहास्पद है ।

आचार्य महेश्वर—अर्वाचीन वैयाकरण महेश्वर को पाणिनि का गुरु मानते हैं परन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है ।

अतः पाणिनि के गुरु का नाम सन्दिग्ध है ।

पाणिनि के शिष्य

कौत्स—महाभाष्य (३।२।१०८) में एक उदाहरण है—**उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्** । काषिका वृत्ति में इसी सूत्र पर दो उदाहरण और हैं—**अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्, उपशुश्रूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्** । इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि कोई कौत्स पाणिनि का शिष्य था ।

एक कौत्स निरुक्त (१।१५) में है उद्धृत है । गोभिलगृह्यसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, आयुर्वेदीय कश्यपसंहिता और सामवेदीय निदानसूत्र में भी किसी कौत्स का उल्लेख मिलता है । अथर्ववेद की शौनकीय चतुरध्यायी भी कौत्सकृत मानी जाती है । एक वरतन्तु शिष्य रघुवंश (५।१) में निर्दिष्ट है । पाणिनि शिष्य कौत्स इन सब से भिन्न है, क्योंकि रघुवंश के अतिरिक्त उक्त सभी ग्रंथ पाणिनि से पूर्वभावी हैं ।

डॉ० सत्यकाम वर्मा अपने संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' में (पृष्ठ १२७ पर) लिखते हैं—

'अतः मीमांसक की रीति से यास्क प्रोक्त कौत्स को पाणिनि का शिष्य सिद्ध करने से कोई महत्त्व र्ण उपलब्धि न होगी। यदि कौत्स नाम अनेक का नाम हो सकता है तब पाणिनीय कौत्स अन्यों से पृथक् ही क्यों न माना जाय ?'

वर्मा जी का उक्त लेख भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि उपर्युक्त सन्दर्भ में कहीं पर भी यास्कोद्धृत कौत्स को पाणिनि-शिष्य कौत्स नहीं लिखा गया है। निरुक्त, गोभिलगृह्यसूत्र आदिग्रन्थों में उद्धृत कौत्सों को, पाणिनि-शिष्य कौत्स से पृथक् माना गया है। स्पष्ट लिखा है—पाणिनि शिष्य कौत्स इनसे भिन्न है, क्योंकि रघुवंश के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों में कौत्स स्मृत है, वे सब पाणिनि से पूर्वभावी हैं। इतना स्पष्ट निर्देश होने पर भी वर्मा जी न जाने कैसे भ्रम में पड़ गये।

कात्यायन—नागेश के लघुशब्देन्दुशेखर से ध्वनित होता है कि वार्तिककार कात्यायन, पाणिनि का साक्षात् शिष्य है।

अनेक शिष्य—काशिका (६।२।१०४) के अनुसार पाणिनि के शिष्य दो विभागों में विभक्त थे— **पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः**। महाभाष्य (१।४।१) में भी लिखा है—**उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः, केचिदाकडारादेकासंज्ञा इति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति**। इससे भी विदित होता है कि पाणिनि के अनेक शिष्य थे और अन्होंने अपने शब्दानुशासन का भी अनेक वार प्रवचन किया था।

पाणिनि का देश

पाणिनि का एक नाम शालातुरीय है। इसकी व्युत्पत्ति वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि (पृष्ठ १) में इस प्रकार दिखायी है—

शलातुरो नाम ग्रामः, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः, तत्र भवान् पाणिनिः।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी (४।३।९३) में साक्षात् शलातुर पद पढ़ कर अभिजन अर्थ में शालातुरीय पद की सिद्धि दर्शायी है। भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण (४।३।२१०) में 'सलातुर' पद पढ़ा है।

इससे विदित होता है कि शलातुर ग्राम पाणिनि का अभिजन अर्थात् उनके पूर्वजों का वासस्थान था, स्वयं वे कहीं अन्यत्र रहते थे—

अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरूषितम्, निवासो नाम यत्र संप्रत्यु ग्रते।

(महाभाष्य ४।३।९०)

पुरातत्त्वविदों के मतानुसार पश्चिमोत्तरसीमाप्रान्तस्थ अटक समीपवर्ती वर्तमान 'लाहुर' ग्राम प्राचीन शलातुर है।

अष्टाध्यायी के 'उदक् च विपाशः' (४।२।७४), 'वाहीक ग्रामेभ्यश्च' (४।२।११७) इत्यादि सूत्रों तथा इनके महाभाष्य से प्रतीत होता है कि पाणिनि का वाहीक देश से विशेष परिचय था। अतः पाणिनि वाहीक देश या उसके अतिसमीप के निवासी रहे होंगे।

तपःस्थान—स्कन्दपुराण के अनुसार पाणिनि ने **गोपर्वत** पर तपस्या की थी और उसी के प्रभाव से वैयाकरणों में प्रमुखताप्त की थी।

सम्पन्नता—महाभाष्य (१।१।७३) में उदाहरण है 'ओदनपाणिनीयाः'। इससे विदित होता है कि पाणिनि अत्यन्त सम्पन्न कुल के थे। उनके यहाँ छात्रों को विद्या के साथ भोजन भी प्राप्त होता था। काशिका (६।२।६९) में वामन ने पूर्वपदान्तोदात्त 'ओदनपाणिनीयाः' यह उदाहरण निन्दार्थ दिया है। इसका अर्थ है—'ओदनप्रधानाः पाणिनीयाः' अर्थात् जो श्रद्धारहित केवल ओदनप्राप्ति के लिए पाणिनीय शास्त्र को पढ़ता है, वह इस प्रकार निन्दावचन को प्राप्त होता है।

डॉ० सत्यकाम वर्मा का कथन है कि इससे पाणिनि की समृद्धि या प्रदेशादि जैसी बातों में की अपेक्षा यह अधिक सिद्ध होता है कि पाणिनि के अनेक शिष्य पर्वतीय और प्राच्य इलाकों के अथवा दक्षिण के रहे होंगे। क्योंकि वहीं पर चावल का प्रयोग अधिक होता है (संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास, पृष्ठ १३१)।

मृत्यु—पञ्चतन्त्र में प्रसंगवश किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत श्लोक है—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दो ज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्,
अज्ञानावृत चेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥

इससे विदित होता है कि पाणिनि को सिंह ने मारा था। वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि पाणिनि की मृत्यु त्रयोदशी को हुई थी। मास और पक्ष का निश्चय न होने से पाणिनीय वैयाकरण प्रत्येक त्रयोदशी को अनध्याय करते हैं।

उपर्युक्त श्लोक के तृतीय पाद के अनुसार पाणिनि के अनुज छन्दःशास्त्र के प्रवक्ता पिंगल को समुद्र तट पर मगर ने निगल लिया था।

पाणिनि की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि उनके दोनों पाणिनि और पाणिन नाम गोत्र रूप में लोक में प्रसिद्ध हो गये। उनके वंशजों ने पुराने गोत्र नाम के स्थान पर इन नये नामों का व्यवहार करने में अपना अधिक गौरव समझा।

बौधायन श्रौत सूत्र प्रवराध्याय (३) तथा मत्स्यपुराण (१९७।१०) के गोत्र प्रकरण में पाणिनि गोत्र का निर्देश है तथा वायुपुराण (९१।९९) एवं हरिवंश (१।२७।४९) में पाणिन गोत्र स्मृत है।

पाणिनि का काल

पाश्चात्य विद्वानों ने पाणिनि का समय ७वीं शती ईसा पूर्व से लेकर ४ थी शती ईसा पूर्व अर्थात् ६५७ वि० पू० से २५८ वि० पू० तक माना है। पूर्व सीमा गोल्डस्टुकर की है और अन्तिम सीमा बैंवर और कीथ द्वारा स्वीकृत है। उसके लिए उन लोगों ने निम्न मुख्य प्रमाणों का उल्लेख किया है—

१. आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में लिखा है—महापद्मनन्द का मित्र एक पाणिनि नाम का माणव था।

२. कथासारित्सागर में पाणिनि को महाराज नन्द का समकालीन कहा है।

३. बौद्धभिक्षुओं के लिए प्रयुक्त श्रमण शब्द का निर्देश पाणिनि के **'कुमारः श्रमणादिभिः'** (२।१।७०) सूत्र में मिलता है।

४. बुद्धकालीन मंखलि गोसाल नाम काम के आचार्य के लिए प्रयुक्त-संस्कृत मस्करी शब्द का साधुत्व पाणिनि ने **'मस्करमस्करिणौ वेणुपरि-व्राजकयोः'** (६।१।१५४) सूत्र में दर्शाया है।

५. सिकन्दर को पराजित कर उसे वापस लौटने को वाध्य करने वाली क्षुद्रक मालवों की सेना का उल्लेख पाणिनि ने खण्डिकादिगण (४।२।४५) में पाठित 'क्षुद्रकमालवात् सेनासंज्ञायाम्' गणसूत्र में किया है, है, ऐसा बैंवर का मत है।

६. अष्टाध्यायी (४।१।४९) में यवन शब्द पठित है। उसके आधार पर कीथ ने लिखा कि पाणिनि सिकन्दर के भारत आक्रमण के पीछे हुआ।

७. काव्यमीमांसा में राजशेखर द्वारा उल्लिखित **'श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचि-पतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः** के अनुसार पाटलिपुत्र में होने वाली

शास्त्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिङ्गल, व्याडि, वररुचि और पतञ्जलि ने यशोलाभ प्राप्त किया था। पाटलिपुत्र की स्थापना महराज उदयी ने कुसुमपुर के नाम से की थी (वायुपुराण ६६।३१८)।

इन हेतुओं की संक्षेप में परीक्षा—

१. बौद्धग्रंथों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय व्यक्तिगत विशिष्ट नामों के स्थान पर प्रायः गोत्रनामों के व्यवहार का प्रचलन था। बौधायनश्रौतसूत्र प्रवराध्याय (३) तथा मत्स्यपुराण (१९७।१०) के गोत्रप्रकरण में निर्दिष्ट, पाणिनि भी एक गोत्र है अतः मञ्जुश्रीमूलकल्प में महापद्म के सखा रूप में उल्लिखित माणव पाणिनि को विना विशिष्ट विशेषण के, शास्त्रकार पाणिनि कैसे स्वीकार किया जा सकता है।

२. कथासरित्सागर के रचयिता ने भी इसी प्रकार बौद्धकालिक गोत्र नाम व्यवहार के कारण भ्रम-वश पाणिनि और वररुचि को नन्द का समकालीन लिख दिया है। इस भ्रान्ति की पुष्टि वार्तिककार वररुचि को (लम्बक १, तरङ्ग ४ में) कौशाम्बी निवासी लिखने से भी होती है। कौशाम्बी प्रयाग के निकट है। पतञ्जलि, वार्तिककार को स्पष्ट शब्दों में **दाक्षिणात्य** कहते हैं। अतः कथासरित्सागर की कथाओं के आधार पर किसी इतिहास की कल्पना चिन्त्य है।

३. यदि श्रमण शब्द का व्यवहार केवल बौद्ध साहित्य में ही और बौद्ध परिव्राजकों के लिए ही होता तो उसके आधार पर कथंचित् पाणिनि को बौद्धकाल में रखा जा सकता था। परन्तु श्रमण शब्द तो बुद्ध से सैकड़ों वर्ष पूर्व शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक में भी उपलब्ध होता है और सभी व्याख्याकारों ने श्रमण शब्द का अर्थ परिव्राट् सामान्य किया है।

'कुमारश्रमणः' में कुमार शब्द अकृतविवाह (कुँवारा) का वाचक है, जैसे 'वृद्धकुमारी' में कुमारी शब्द कुँवारी के लिए प्रयुक्त है (वृद्धकुमारी-न्याय, महाभाष्य (८।२।३) । अतः ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करने वाले परिव्राजक ही कुमारश्रमण कहाते हैं।

४. यदि अष्टाध्यायी में प्रयुक्त मस्करी शब्द को मंखलि शब्द का संस्कृत रूप मान भी लें तो मस्करिन् में प्रयुक्त मत्वर्थक इनि प्रत्यय का कोई अर्थ न होगा और न ही उसका मूलभूत वेणुवाचक मस्कर शब्द के साथ कोई सम्बन्ध होगा। इतना ही नहीं, यदि पाणिनि की दृष्टि में मस्करी शब्द मंखलिगोसाल का ही वाचक था तो मस्करी शब्द के अर्थ निर्देश के लिए पाणिनि ने सूत्र में सामान्य परिव्राजक पद का निर्देश क्यों किया ?

वस्तुतः मस्करी को मंखलि का संस्कृत रूप मानना ही भ्रान्तिमूलक है। महाभारत (शान्तिपर्व अ० १७७) में निर्दिष्ट मङ्कि ऋषि के कुल में उत्पन्न होने से ही मङ्किल का मंखलि अपभ्रंश बना है। अतएव भगवती सूत्र (१५) आदि में मंखलि को मंख का पुत्र कहना युक्त है। जैनागमों में गोसाल को मंखलिपुत्र भी कहा है।

५. बैंवर के मत की आलोचना वासुदेवशरण अग्रवाल ने ही (पाणिनि-कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४७६) भले प्रकार कर दी है।

६. 'यवनानी' शब्द पर लिखते हुए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने स्पष्ट लिखा है कि भारतीय, सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व भी यवन जाति से परिचित थे।

यवन जाति मूलतः अभारतीय नहीं है। यवन, महाराज ययाति के पुत्र के वंशज हैं। महाभारत (आदि पर्व, १३६।२) में स्पष्ट लिखा है—

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोस्तु यवनाः स्मृताः।

यही तुर्वसु की सन्तति बृहत्तर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर निवास करती थी। ब्राह्मणों के अदर्शन और धर्म क्रिया के लोप हो जाने से ये लोग म्लेच्छ बन गये। ये यहीं से प्रवास करके पश्चिम में गये, इन्हीं के यवन नाम पर उस देश का नाम यवन=यूनान पड़ा।

अतः किसी प्राचीन ग्रन्थ में यवन शब्द के प्रयोग मात्र से उसे सिकन्दर के आक्रमण से पीछे का बना हुआ कहना दुराग्रह मात्र है।

७. राजशेखर द्वारा उद्धृत अनुश्रुति अप्रमाण है, क्योंकि राजशेखर अतिअर्वाचीन ग्रन्थकार है। उस काल तक पहुँचते-पहुँचते अनुश्रुति का रूप ही परिवर्तित हो गया। उसके अनुसार तो पतञ्जलि भी पाणिनि का सम-कालीन बन जाता है।

अब शेष रह जाता है महाराज उदयी के द्वारा पाटलिपुत्र का बसाया जाना।

महाभाष्य (२।१।१) के 'कुतोभवान् पाटलिपुत्रात्' वचन की नागेशकृत व्याख्या से सन्देह होता है कि पाटलिपुत्र नाम कदाचित् अनेक नगरों का रहा हो। पं० सत्यव्रत सामाश्रमी ने महावंश नामक बौद्ध ग्रन्थ के आधार पर लिखा है—'शाक्यमुनि के जीवनकाल में अजातशत्रु ने सोन के किनारे पाटली ग्राम में दुर्ग निर्माण किया, उसे देख कर भगवान् बुद्ध ने भविष्य-वाणी की कि यह भविष्य में प्रधान नगर होगा (निरुक्तालोचन पृष्ठ ७१)।

महाराज अजातशत्रु उदयी का पूर्वज है। इससे स्पष्ट है कि उदयी के कुसुमपुर बसाने से पूर्व कोई पाटली ग्राम विद्यमान था।

वस्तुतः पाटलिपुत्र अत्यन्त प्राचीन नगर है। यह इन्द्रप्रस्थ के समान अनेक बार उजड़ा और बसा है। यह पाणिनि से पूर्व एक बार उजड़ चुका था। वर्धमान ने गणरत्न महोदधि (पृष्ठ ७१) में लिखा है—

पुरगा नाम काचित् राक्षसी तया भक्षितं पाटलिपुत्रम्, तस्या निवासः।

पाटलिपुत्र के उजड़ने की यह घटना पाणिनि से प्राचीन है, क्योंकि पाणिनि ने (८।४।४) में साक्षात् **पुरगावण** का उल्लेख किया है। सम्भव है, इसीलिए महाभारत आदि में पाटलिपुत्र का वर्णन नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र (कुसुमपुर) को उदयी ने नहीं बसाया था। वह प्राचीन नगर है और कई बार उजड़ा और बसा। भगवान् तथागत के समय पाटली ग्राम की विद्यमानता भी इसी तथ्य को पुष्ट करती है।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने गोल्डस्टूकर आदि के मतों का प्रत्याख्यान करके पाणिनि का समय नन्द के काल में ईसा पूर्व ४ थी शती माना है। अब इसकी विवेचना करते हैं—

१. पाणिनि ने **'निर्वाणोऽवाते'** (८।१।५०) सूत्र में निर्वाण पद का निर्देश किया है जिसका अर्थ 'शान्त होना' है। यदि पाणिनि तथागत बुद्ध से उत्तरकालीन होते तो वे बौद्ध साहित्य में प्रसिद्धतम निर्वाण पद के प्रसिद्ध मोक्ष अर्थ का निर्देश अवश्य करते अतः पाणिनि तथागत बुद्ध से पूर्ववर्ती हैं।

२. यह तो सर्वसम्मत है कि तथागत बुद्ध के काल में जनसाधारण की भाषा संस्कृत नहीं थी। उस समय जनसाधारण में पालि और प्राकृत भषाएँ ही व्यवहृत होती थीं। इसीलिए तथागत बुद्ध और महावीर स्वामी ने अपने मतों के प्रचार के लिए पालि और प्राकृत भाषाओं का आश्रय लिया। इसके विपरीत पाणिनीय अष्टाध्यायी में **मूलकपणः, शाकपणः, माञ्जिष्ठम्, काषायम्, लाक्षिकम्, प्रैयङ्गवीनम्, त्रैहेयम्** आदि प्रायशः दैनन्दिन के व्यवहारोपयोगी प्रयोगों के साधुत्व के उल्लेख से स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में संस्कृत लोकव्यवहार्य जनसाधारण की भाषा थी। कीथ ने भी उपर्युक्त आधार पर अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में स्वीकार किया है कि पाणिनि के समय संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी।

३. इतना ही नहीं, वैदिक भाषावत् लोकभाषा में भी जनसाधारण उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों का यथावत् व्यवहार करते थे। अष्टाध्यायी के वे सब स्वर-नियम और स्वरों की दृष्टि से प्रत्ययों में संबद्ध, अनुबन्ध जिनका सम्बन्ध केवल वैदिक भाषा के साथ ही नहीं है, इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। पुनरपि हम पाणिनि के दो ऐसे सूत्र उपस्थित करते हैं जिनका संबंध एक मात्र लोक भाषा से है—

(क) विभाषा भाषायाम् । (६।१।१८१)

इसके अनुसार भाषा अर्थात् लौकिक संस्कृत में पञ्चभिः सप्तभिः तिसृभिः चतसृभिः आदि प्रयोगों में विभक्ति तथा विभक्ति से पूर्व अच् को विकल्प से उदात्त बोला जाता था ।

(ख) उदक् च विपाशः । (४।२।७४)

इस सूत्र द्वारा विपाश=व्यास नदी के उत्तर कूल के लिए प्रयुक्त **दात्तः, गौप्तः** प्रयोगों के लिए अञ् प्रत्यय का विधान किया है । दक्षिण कूल के कूपों के लिए भी **दात्तः, गौप्तः** आदि पद ही प्रयुक्त होते हैं परन्तु उसमें अण् प्रत्यय होता है । ऐसा केवल स्वरभेद की दृष्टि से ही किया गया है । उत्तर कूल के वे प्रयोग आद्युदात्त प्रयुक्त होते थे अतः उनके लिए अञ् प्रत्यय का और दक्षिण कूल के वे ही प्रयोग अन्तोदात्त बोले जाते थे, अतः उनके लिए अण् प्रत्यय का विधान किया ।

कृष्णद्वैपायन के शिष्य-प्रशिष्यों के शाखा प्रवचन काल में स्वरोच्चारण में कुछ-कुछ शैथिल्य आने लग गया था (वैदिक स्वर मीमांसा पृ० ५१, ५२ द्वि० सं०) । अतः लोक भाषा में व्यवह्रियमाण स्वरों का यथावत् सूक्ष्मदृष्टि से विधान करने वाले आचार्य पाणिनि का काल अन्तिम शाखा प्रवचन काल से अनतिदूर ही होना चाहिए । अन्तिमशाखा प्रवचन काल भारतयुद्ध (३१०० वि० पू०) से अधिक से अधिक १०० वर्ष उत्तर तक है अतः पाणिनि काल भारतयुद्ध से २००० वर्ष से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता ।

४. पाणिनि के काल पर प्रकाश डालने वाला एक सूत्र है—

योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् । (२।१।५६)

इस सूत्र का अभिप्राय है कि यदि **पञ्चालाः, अङ्गाः, वङ्गाः, मगधाः** आदि देश वाची शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त पञ्चाल अङ्ग वङ्ग मगध नाम वाले क्षत्रिय हैं अर्थात् इन नाम वाले क्षत्रियों के निवास के कारण उस उस देश के ये नाम प्रसिद्ध हुए, ऐसा पूर्वाचार्यों का मत माना जाय तो इन नाम वाले क्षत्रियों के उस प्रदेश में अभाव हो जाने पर (अतएव उन उन क्षत्रियों का उन उन प्रदेशों से सम्बन्ध ही न रह जाने पर) उन उन क्षत्रियों के निवास के कारण उन उन देशों के लिए व्यवह्रियमाण पञ्चाल आदि शब्दों का व्यवहार भी समाप्त हो जाना चाहिए । परन्तु उन उन नाम वाले क्षत्रियों के नाश हो जाने पर भी तत्तत् प्रदेशों के लिए पञ्चाल आदि शब्दों का प्रयोग लोक में होता है । अतः इन देशवाची शब्दों को तत्तत् नाम वाले क्षत्रियों के निवास के कारण नहीं मानना चाहिए; अपितु इन्हें रूढ़ संज्ञा स्वीकार करना चाहिए ।

भारतीय इतिहास एवं प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ जिनकी ओर पाणिनि का संकेत है, इस बात के प्रमाण हैं कि **पञ्चालाः अङ्गाः वङ्गाः** आदि देश नाम तत्तत् क्षत्रियवंशों के निवास के कारण ही प्रसिद्ध हुए।

पाणिनि की उक्ति के आधार पर अब देखना चाहिए कि क्षत्रियों का बाहुल्येन उन्मूलन कब-कब हुआ। इतिहास बताता है कि क्षत्रियों का इस प्रकार उन्मूलन तीन बार हुआ। प्रथम बार जामदग्न्य परशुराम द्वारा, द्वितीय बार सर्वक्षत्रान्तकृत् भारतयुद्ध द्वारा, तृतीय बार सर्वक्षत्राकृतान्तकृत् नन्द द्वारा।

प्रथम बार की स्थिति की ओर पाणिनि का संकेत हो नहीं सकता क्योंकि पाणिनि निश्चय ही भारतयुद्ध काल के उत्तरवर्ती हैं। तृतीय बार सर्व क्षत्रों का विनाश नन्द ने किया था, ऐसा उसके सर्वक्षत्रान्तकृत् विशेषण से ही स्पष्ट है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल इसी नन्द काल में पाणिनि को मानते हैं। विचारना चाहिए कि पाणिनि के काल में ही नन्द ने पाञ्चालादि क्षत्रियों का उन्मूलन किया हो तो पाणिनि उसी काल में उक्तसूत्र की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि क्षत्रविनाश के समकाल ही तस्य निवासः आदि सम्बन्ध-ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता। उसके लिए कम से कम दो-तीन सौ वर्ष का काल चाहिए जिससे उन उन उन्मूलित क्षत्रियों का उन उन देश के साथ तस्य निवासः रूप सम्बन्धज्ञान बिल्कुल मिट जाय। ऐसी अवस्था में पाणिनि को नन्द से कम से कम २०० वर्ष पश्चात् मानना पड़ेगा जो पाश्चात्य विद्वानों को भी इष्ट नहीं हो सकता। कहा जा चुका है कि अष्टाध्यायी के अनुसार पाणिनि के काल में संस्कृत भाषा ही जनसाधारण की भाषा थी और उदात्तादि स्वरों का सूक्ष्म उच्चारण भी होता था। नन्द अथवा उससे उत्तरकाल में संस्कृत भाषा की वह स्थिति नहीं थी, उस समय जन साधारण में प्राकृत भाषाओं का ही बोलबाला था। अतः पाणिनि नन्द का समकालिक कदापि नहीं हो सकता।

अब रह जाता है द्वितीय बार का सर्वक्षत्रविनाश जो भारतयुद्ध द्वारा हुआ था। तदनुसार भारतयुद्ध के अनन्तर २००-३०० वर्ष के मध्य पाणिनि का समय माना जा सकता है। भारतयुद्ध से लगभग २५० वर्ष पश्चात् पञ्चाल आदि क्षत्रिय पुनः अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त करते हुए इतिहास में दिखायी देते हैं इसलिए पाणिनि का काल भारतयुद्ध से २०० वर्ष से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता। पाणिनि-शास्त्र के उपरिनिर्दिष्ट अन्तः-साक्ष्यों से भी इसी काल की पुष्टि होती है। इस काल तक संस्कृत भाषा

बौधायन आदि श्रौतसूत्रों की रचना तत्तत् शाखाओं के प्रवचन के कुछ अनन्तर हुई है। श्रौत, धर्म आदि सूत्रों के रचयिता प्रायः वे ही आचार्य हैं, जिन्होंने शाखाओं का प्रवचन किया था। प्रायः सभी शाखाओं का प्रवचन काल लगभग भारतयुद्ध से एक शताब्दी पूर्व से लेकर एक शताब्दी पश्चात् तक है। इस प्रकार से भी निश्चित होता है कि पाणिनि का काल भारतयुद्ध से लगभग २०० वर्ष पश्चात् है।

एक अन्य प्रमाण—युवानच्वाङ् ने अपने भारत भ्रमण में पाणिनि के प्रकरण में लिखा है—'ब्रह्मदेव और देवेन्द्र ने आवश्यकतानुसार कुछ नियम बनाये, परन्तु विद्यार्थियों को उनका ठीक प्रयोग करना नहीं आता था। जब मानवी जीवन १०० वर्ष की सीमा तक घट गया, तब पाणिनि का जन्म हुआ।'

आयुर्वेदीय चरक संहिता, भारतयुद्ध कालीन वैशम्पायन अपर नाम चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत है। उसमें ग्रन्थ संस्कार काल (भारतयुद्ध काल) में १०० वर्ष मानव जीवन सीमा कही है—**वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले** (शारीरस्थान ६।२६)

इस प्रकार पाणिनीय ग्रन्थ के अन्तः साक्ष्यों और अन्य प्राचीन प्रमाणभूत वाङ्मय के वाह्यसाक्ष्यों के आधार पर यह सर्वथा सुनिश्चित हो जाता है कि पाणिनि का काल लगभग भारतयुद्ध से २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् २९०० विक्रम पूर्व है। किसी भी अवस्था में पाणिनि भारतयुद्ध से ३०० वर्ष से अधिक उत्तरवर्ती नहीं हैं।

डॉ० सत्यकाम वर्मा ने अभी-अभी प्रकाशित अपने 'संस्कृत व्याकरण का उद्‌गम और विकास' ग्रन्थ में पाणिनि का काल पाश्चात्य इतिहास परम्परानुसार ही स्वीकार किया है। पाणिनि काल के निर्णय के लिए प्रस्तुत किये उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्यों पर उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत नहीं किये हैं।

पाणिनि की महत्ता

पाणिनि शब्दशास्त्र के परिज्ञाता तो थे ही, समस्त प्राचीन वाङ्मय में भी उनकी अप्रतिहत गति थी। वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त भूगोल, इतिहास, मुद्राशास्त्र और लोक व्यवहार आदि के भी वे अद्वितीय विद्वान् थे। पाणिनि आचार्य के प्रणीत सूत्रों में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं है—

प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किंपुनरियता सूत्रेण। (पतञ्जलि, महाभाष्य १।१।१)।

सूत्रकार पाणिनि की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। उन्होंने साधारण-से स्वर की भी उपेक्षा नहीं की है। **महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य** (जयादित्य, 'उदक् च विपाशः' सूत्र की वृत्ति)।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग लिखता है—ऋषि ने पूर्णमन से शब्द भण्डार से शब्द चुनने आरम्भ किये और १००० दोहों में सारी व्युत्पत्ति रची। प्रत्येक दोहा ३२ अक्षरों का था। इसमें प्राचीन तथा नवीन सम्पूर्ण लिखित ज्ञान समाप्त हो गया। शब्द और अक्षर विषयक कोई भी बात छूटने नहीं पायी। (ह्यूनसांग, वाटर्स का अनुवाद भाग १।)

ह्यूनसांग के लेख से यह न समझना चाहिए कि पाणिनीयग्रन्थ पहिले छन्दोबद्ध था। ग्रन्थ परिमाण दर्शाने की यह प्राचीन शैली है।

पाणिनि महान् वेदज्ञ थे। उन्होंने स्वर शास्त्र के सूक्ष्मविवेचन की दृष्टि से प्रत्येक प्रत्यय तथा आदेश के ञित्, नित्, चित् आदि अनुबन्धों पर विशेष ध्यान रखा है। इतना ही नहीं, उन्होंने केवल स्वर विशेष परिज्ञान के लिये ही लगभग ४०० सूत्रों की रचना की है।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी पाणिनीय व्याकरण की मुक्त कण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं-—

१. इङ्गलैण्ड का प्रो० मोनियर विलियम्स कहता है—

'संस्कृत व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है, जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रक्खा।'

२. जर्मन देशज प्रो० मैक्समूलर लिखता है—'हिन्दुओं के व्याकरण अन्वय की योग्यता संसार की किसी जाति के व्याकरण साहित्य से बढ़-बढ़ कर है।'

३. कोलब्रुक का मत है—'व्याकरण के नियम अत्यन्त सतर्कता से बनाये गये थे और उनकी शैली अत्यन्त प्रतिभापूर्ण थी।'

४. सर W. W. हण्टर कहता है—'संसार के व्याकरणों में पाणिनि का व्याकरण चोटी का है। उसकी वर्णशुद्धता, भाषा का धात्वन्य सिद्धान्त और प्रयोगविधियाँ अद्वितीय एवम् अपूर्व हैं।..................यह मानव-मस्तिष्क का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आविष्कार है।'

(उक्त चारों उद्धरण 'महान् भारत' पृष्ठ १४६, १५० से उद्धृत)

५. लेनिनग्राड के प्रो० टी० शेरवात्सकी ने पाणिनीय व्याकरण का कथन करते हुए उसे 'इन्सानी दिमाग की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक' बताया है।

(पं० जवाहरलाल नेहरू लिखित 'हिन्दुस्तान की कहानी' पृ० १३१)

पाणिनीय व्याकरण और माहेश्वर सम्प्रदाय

व्याकरण शास्त्र में दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। एक ऐन्द्र, दूसरा माहेश्वर या शैव। पाणिनीय व्याकरण का सम्बन्ध माहेश्वर सम्प्रदाय के साथ है। यह बात प्रत्याहारसूत्रों को माहेश्वर सूत्र कहने से ही स्पष्ट है।

क्या कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनीय व्याकरण का खण्डन करते हैं ?

महाभाष्य का यत्किंचित् अध्ययन करने वाले अर्वाचीन आर्ष-ज्ञानविहीन वैयाकरण कहते हैं कि कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनि के शतशः सूत्रों और सूत्रांशों का खण्डन करते हैं और इसी के आधार पर **यथोत्तरं मुनीनां प्रमाणम्** ऐसा वचन भी घढ़ लिया है। वस्तुतः अर्वाचीनों का यह मत सर्वथा अयुक्त है। यदि कात्यायन और पतञ्जलि, पाणिनि के व्याकरण में इतनी अशुद्धियाँ समझते तो न कात्यायन अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखते और न ही पतञ्जलि भाष्य और न भाष्यकार पतञ्जलि पाणिनीय व्याकरण के विषय में यह कहते कि इस शास्त्र में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं है (महाभाष्य १।१।१, तथा ६।१।७७)।

इससे स्पष्ट है कि कात्यायन और पतञ्जलि ने उन सूत्रों या सूत्रांशों का खण्डन नहीं किया, अपितु प्रकारान्तर से प्रयोग सिद्धि का निदर्शन मात्र कराया है। गणतन्त्रमहोदधि में वर्धमान ने इसी दृष्टि से लिखा है--

द्वितीयतृतीयेत्यादिसूत्रं बृहत्तन्त्रे व्यर्थम्। गणसमाश्रयणमेव श्रेयः।

(पृष्ठ ७६)

अर्थात् बृहत्तन्त्र (पाणिनीय तन्त्र) में द्वितीयतृतीय (२।२।३) सूत्र व्यर्थ है। उसका गणपाठ में आश्रयण करना अच्छा है।

कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा प्रदर्शित प्रकारान्तर निर्देश से उत्तरवर्ती चन्द्रगोमी प्रभृति आचार्यों ने बहुत लाभ उठाया है। यह उत्तरवर्ती व्याकरण ग्रन्थों की तुलना से स्पष्ट है।

महाराज समुद्रगुप्त तो मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि कात्यायन ने अपने वार्तिकों द्वारा पाणिनीय व्याकरण को पुष्ट किया था—

न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।

(कृष्ण चरित)

अतः स्पष्ट है कि आर्षज्ञान-विहीन अर्वाचीन वैयाकरणों का यह कहना कि पाणिनीय व्याकरण का कात्यायन और पतञ्जलि खण्डन करते हैं— सर्वथा अज्ञानमूलक है।

कतिपय आधुनिक भारतीयों द्वारा पाणिनि की आलोचना—जिस पाणिनीय व्याकरण की प्रशंसा पदवाक्यप्रमाणज्ञ पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में की है और अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी पाणिनि की सूक्ष्मदृष्टि का वर्णन करते नहीं अघाते, उन्हीं पाणिनि को कतिपय भारतीय विद्वान् अज्ञानी कहने में अपना गौरव समझते हैं।

बटकृष्णघोष कहते हैं—'पाणिनि प्रातिशाख्य को विना समझे नकल करता है' (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली भाग १०)।

पं० विश्वबन्धु शास्त्री ने भी अथर्व प्रातिशाख्य के आरम्भ में शुक्ल याजुषप्रातिशाख्य के एक सूत्र की पाणिनि के साथ तुलना करके लिखा है—'यहाँ पाणिनि के व्याकरण में न्यूनता रह गयी है।'

इन महानुभावों ने न प्रातिशाख्यों को समझा है और न ही पाणिनीय शास्त्र को। अपने ज्ञान के दर्प में ये पाणिनि को अज्ञ या अल्पज्ञ सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं; जबकि वास्तविकता यह है कि दोनों स्थानों पर पाणिनि के निर्देश में कोई दोष नहीं है।

पाणिनीय तन्त्र का आदि सूत्र

कैयट आदि वैयाकरणों का कथन है कि 'अथ शब्दानुशासनम्' वचन भाष्यकार का है। पाणिनीय तन्त्र का आरम्भ 'वृद्धिरादैच्' सूत्र से होता है। उनका यह कथन ठीक नहीं है। प्राचीन सूत्र ग्रन्थों की रचना शैली के अनुसार 'अथ शब्दानुशासनम्' वचन पाणिनीय ही प्रतीत होता है। महाभाष्य के प्रारम्भ में पतञ्जलि ने लिखा है—

अथेति शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।

इस वाक्य में **'प्रयुज्यते'** क्रिया का कर्ता यदि पाणिनि माना जाय तब तो इसकी उत्तर वाक्य से संगति ठीक लगती है; अन्यथा **'प्रयुज्यते'** क्रिया का कर्ता पतञ्जलि होगा और **'अधिकृतम्'** का पाणिनि, क्योंकि शास्त्ररचयिता पाणिनि ही है। विभिन्न कर्ता मानने से यहाँ एक वाक्यता नहीं बनती।

अन्य प्राचीन प्रमाण—

१. अष्टाध्यायी के कई हस्तलेखों का आरम्भ इसी सूत्र (अथ शब्दानुशासनम्) से होता है।

२. काशिका और भाषावृत्ति में पाणिनीय ग्रन्थ का आरम्भ इसी सूत्र से माना गया है; इसीलिए अन्य सूत्रों के समान ही इसकी भी व्याख्या की गयी है।

३. भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने लिखा है—'व्याकरण-शास्त्र का आरम्भ करते हुए भगवान् पाणिनि ने शास्त्र का प्रयोजन और नाम बताने के लिए 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र रचा है। (भाषावृत्त्यर्थ-विवृति)।

४. मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि इसे पाणिनीय सूत्र मानते हैं—

'सब पौरुषेय ग्रन्थों में भी ग्रन्थ के प्रयोजन का कथन नहीं होता। भगवान् पाणिनि ने अपने शास्त्र का प्रयोजन बिना कहे 'अथ शब्दानु-शासनम्' इत्यादि सूत्र समूह का आरम्भ किया है।' (मनुस्मृति टीका, १।१, पृष्ठ १)

५. न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि काशिका (३।४।२६) की व्याख्या में लिखते हैं—

'शब्दानुशासनप्रस्तावादेव हि शब्दस्येति सिद्धे शब्दग्रहणं यत्र शब्दपरो निर्देशस्तत्र स्वं रूपं गृह्यते, नार्थपर निर्देश इति ज्ञापनार्थम्।'

अर्थात् शब्दानुशासन के प्रस्ताव से ही शब्द का सम्बन्ध सिद्ध है। पुनः **'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'** (१।१।६८) सूत्र में शब्दग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि जहाँ शब्द प्रधान निर्देश होता है वहीं रूप ग्रहण होता है, अर्थ प्रधान में नहीं।

यहाँ न्यासकार को शब्दानुशासन प्रस्ताव से 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र ही अभिप्रेत है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र पाणिनीय ही है। इसी से स्वामी दयानन्द ने अपने अष्टाध्यायी-भाष्य के प्रारम्भ में लिखा है—

'इदं सूत्रं पाणिनीयमेव। प्राचीनलिखितपुस्तकेषु आदाविदमेवास्ति। दृश्यन्ते च सर्वेष्वार्षेषु ग्रन्थेष्वादौ प्रतिज्ञासूत्राणीदृशानि।'

कैयट आदि ग्रन्थकारों को जो भ्रान्ति हुई है वह 'वृद्धिरादैच्' सूत्र के 'मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' इस महाभाष्य के वचन से। और इसी के आधार पर अर्वाचीन वैयारकण प्रत्याहार सूत्रों को भी अपाणिनीय मानते हैं।

क्या प्रत्याहार सूत्र अपाणिनीय हैं ?

भट्टोजिदीक्षीत प्रभृति पाणिनीय वैयाकरणों का मत है कि प्रत्याहारसूत्र महेश्वर विरचित हैं (अर्थात् अपाणिनीय हैं)। (सिद्धान्त कौमुदी के प्रारम्भ में)।

यह मत सर्वथा अयुक्त है। इनको अपाणिनीय मानने में नन्दिकेश्वर कृत काशिका के अतिरिक्त कोई सुदृढ प्राचीन प्रमाण नहीं है, जबकि प्रत्याहारसूत्रों को पाणिनीय मानने में अनेक प्रमाण हैं। यथा—

१. **हयवरट्** (प्रत्याहार सूत्र ५) सूत्र पर महाभाष्यकार ने लिखा है—

एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते—यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशतिअचोऽक्षु हलो हल्षु।

महाभाष्य में आचार्य पद का व्यवहार केवल पाणिनि और कात्यायन दो के लिए हुआ है। यहाँ आचार्य पद का निर्देश कात्यायन के लिए नहीं है, अतः प्रत्याहार सूत्रों का रचयिता पाणिनि ही है।

२. **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) सूत्र के महाभाष्य में वृद्धि और आदैच् पद का साधुत्व प्रतिपादन करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—

कृतमनयोःसाधुत्वम्, कथम् ? वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृति पाठे, तस्मात् क्तिन् प्रत्ययः। आदैचोऽप्यक्षरसमाम्नाय उपदिष्टाः।

इस वाक्य में 'कृतम्' तथा 'उपदिष्टाः' दोनों क्रियाओं का प्रयोग बता रहा है कि वृध्धातु क्तिन् प्रत्यय और आदैच् प्रत्याहार इन सब का उपदेश करने वाला एक ही व्यक्ति है और वह है पाणिनि।

३. स्कन्दस्वामी ने निरुक्त (१।१) की टीका में प्रत्याहारसूत्रों को पाणिनीय कहा है—

नापि 'अ इ उ ण्' इति पाणिनीय प्रत्याहार समाम्नायवत्…।

४. आश्चर्यमञ्जरी का कर्त्ता कुलशेखर वर्मा प्रत्याहार सूत्रों को पाणिनीय मानता है—

'पाणिनिप्रत्याहार इव महाप्राणझषाश्लिष्टो झषालंकृतश्च— (समुद्रः)

५—८ पुरुषोत्तमदेव, सृष्टिधराचार्य, मेधातिथि और जयादित्य '**अथ शब्दानुशासनम्**' सूत्र को पाणिनीय मानते हैं, ऐसा कहा जा चुका है अतः उनके मत में प्रत्याहार सूत्र भी पाणिनीय हैं, यह स्वयं सिद्ध है।

१०—अष्टाध्यायी के अनेक प्राचीन हस्तलेखों में 'हल्' (प्रत्याहार-सूत्र १४) सूत्र के अनन्तर **'इति प्रत्याहार सूत्राणि'** इतना ही निर्देश मिलता है ।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि प्रत्याहार सूत्र पाणिनीय हैं ।

भ्रान्ति का कारण और उसका निवारण—प्रत्याहार सूत्र अपाणिनीय हैं, इस भ्रम का कारण साधारण है । **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) सूत्र पर भाष्यकार ने कहा है कि आचार्य पाणिनि मङ्गल के लिए शास्त्र के आदि में वृद्धि शब्द का प्रयोग करते हैं । इस पंक्ति में 'आदि' पद को देखकर अर्वाचीन वैयाकरण समझ बैठे कि पाणिनीय शास्त्र का प्रारम्भ **'वृद्धिरादैच्** सूत्र से होता है अर्थात् उससे पूर्व के 'अथशब्दानुशासनम्' और प्रत्याहारसूत्र ये सब अपाणिनीय हैं ।

इस पर विचार करने से पहिले आदि, मध्य और अन्त शब्द पर ध्यान देना आवश्यक है । महाभाष्यकार ने पाणिनीयशास्त्रान्तर्गत आदि, मध्य और अन्त के तीन मङ्गलों की ओर संकेत करते हुए **'भूवादयोधातवः'** सूत्र के वकारागम को शास्त्र का मध्यमङ्गल कहा है (महाभाष्य १।३।१)

यहाँ स्पष्ट है कि मध्य शब्द अपने मुख्यार्थ में प्रयुक्त नहीं कि 'भूवादयो धातवः' सूत्र ठीक शास्त्र के मध्य में नहीं है ।

इसी प्रकार काशिकाकार ने **'नोदात्तस्वरितोदयम्'** (८।४।६७) इत्यादि सूत्र की व्याख्या में लिखा है—**'उदात्तपरस्येति वक्तव्ये उदयग्रहणं मङ्गलार्थम् ।'**

यह शास्त्र के अन्त का मङ्गल है । यहाँ भी अन्त शब्द अपने मुख्यार्थ में प्रयुक्त नहीं है; क्योंकि 'नोदात्तस्वरितोदयम् सूत्र शास्त्र के ठीक अन्त में नहीं है; अन्यथा शास्त्र के अन्तिम सूत्र 'अ अ' को अपाणिनीय मानना होगा जब कि महाभाष्यकार ने 'अ अ' को पाणिनीय माना है इससे सिद्ध हुआ कि आदि, मध्य और अन्त शब्द सामीप्यादि सम्बन्ध द्वारा लक्षणार्थ में प्रयुक्त हुए हैं । आदि और अन्त का ऐसा लाक्षणिक प्रयोग प्राचीनग्रन्थों (निरुक्त समुच्चय आदि) में प्रायः उपलब्ध होता है ।

इसलिए पाणिनीय शास्त्र का प्रारम्भ 'अथ शब्दानुशासनम्' से समझना चाहिए और प्रत्याहार सूत्रों को भी पाणिनीय मानना चाहिए । यही युक्तियुक्त है ।

अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय का प्रारम्भ '**वृद्धिरादैच्**' सूत्र से होने पर भी 'अथ शब्दानुशासनम्' और प्रत्याहार सूत्र अध्याय विच्छेद से बहिर्भूत होने पर भी अष्टाध्यायी के अङ्ग और पाणिनि द्वारा ही प्रोक्त हैं; जैसे पाणिनीय और आपिशल शिक्षाओं में प्रथम स्थान प्रकरण से पूर्व पठित उपोद्घात रूप सूत्र, आठ प्रकरणों से बहिर्भूत होते हुए भी शिक्षा के अङ्ग हैं।

अष्टाध्यायी में पाठान्तर

विभिन्न ग्रन्थों का पारायण करने से विदित होता है कि पाणिनि के खिलग्रन्थों (धातुपाठ, गणपाठ, उणादि सूत्र और लिङ्गानुशासन) में ही नहीं, सूत्र पाठ में भी पर्याप्त पाठान्तर हो चुके हैं। इतना अवश्य है कि अन्य-ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें पाठान्तर स्वल्प हैं। उन पाठान्तरों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं।

१—कुछ पाठान्तर पाणिनि के स्वकीय प्रवचन भेद से उत्पन्न हुए हैं। यथा—

उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। केचिदाकडारादेका संज्ञा इति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति। (महाभाष्य१।४।१)

काशिका (६।२।१०४) के **पूर्वपाणिनीयाः, अपर पाणिनीयाः** इन उदाहरणों से भी स्पष्ट है कि पाणिनि ने बहुधा अष्टाध्यायी का प्रवचन किया था।

शुङ्गाशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति। ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौङ्गेय इति। द्वयमपि चेतत् प्रमाणम्—उभयथा सूत्रप्रणयनात्। (काशिका ४।१।११७)

२—वृत्तिकारों की व्याख्याओं के भेद से। यथा—

जरद्भिरित्यपि पाठः केनचिदाचार्येण बोधितः। (पदमञ्जरी २।१।६७, भाग १)

काण्डेविद्धिभ्य इत्यन्ते पठन्ति (पदमञ्जरी ४।१।८१, भाग २)

सम्भव है, ये पाठभेद भी आचार्य के प्रवचन भेद से ही हुए हों और वृत्तिविशेषों में सुरक्षित रहे हों।

३—लेखक आदि के प्रमाद से। यथा—

एवं चटकादैरगित्येतत् सूत्रमासीत्। इदानीं प्रमादात् चटकाया इति पाठः। (न्यास ४।१।१२८)

ग्रन्थकार के प्रवचन भेद से उत्पन्न पाठान्तर कम हैं। वृत्तिकारों के व्याख्या भेद और लेखक प्रमाद से हुए पाठान्तर अधिक हैं।

अष्टाध्यायी का त्रिविध पाठ

पतञ्जलि और जयादित्य जैसे प्रामाणिक आचार्यों के मतानुसार पाणिनि ने अपने शास्त्र का अनेक बार और अनेकधा प्रवचन किया था। इसकी पुष्टि काशिका (६।२।१०४) के **पूर्वपाणिनीयाः, अपर पाणिनीयाः** उदाहरणों से भी होती है। इससे मूल शास्त्र में कुछ भेद हो गया। आचार्य ने जिन शिष्यों को जैसा भी प्रवचन किया, उनकी शिष्य-परम्परा में वही पाठ प्रचलित रहा। इस प्रकार अष्टाध्यायी का त्रिविध पाठ है। वह प्राच्य, उदीच्य और दाक्षिणात्य नाम से विभक्त है।

१. प्राच्य पाठ—अष्टाध्यायी के जिस पाठ पर काशिका वृत्ति है, वह प्राच्य पाठ है।

२. उदीच्य पाठ—क्षीरस्वामी आदि कश्मीर देशीय विद्वानों से आश्रीयमाण पाठ, उदीच्य पाठ है।

३. दाक्षिणात्य पाठ—अष्टाध्यायी के जिस पाठ पर कात्यायन ने अपने वार्तिक लिखे हैं, वह दाक्षिणात्य पाठ है।

ये तीनों पाठ दो भागों में विभक्त हैं—वृद्ध पाठ और लघु पाठ।

वृद्ध पाठ—अष्टाध्यायी का प्राच्यपाठ वृद्ध पाठ है।

लघु पाठ—उदीच्य पाठ और दाक्षिणात्य पाठ, लघुपाठ हैं। उदीच्य और दाक्षिणात्य पाठों में अवान्तर भेद बहुत कम है।

इस प्रकार का पाठवैविध्य अनेक प्राचीन शास्त्रों में उपलब्ध होता है। किसी के वृद्ध और लघु दो पाठ हैं तो किसी के वृद्ध, मध्यम और लघु तीन पाठ हैं।

अष्टाध्यायी का बृहत् पाठ और सत्यकाम वर्मा

'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' ग्रन्थ के लेखक डा० सत्यकाम वर्मा का कहना है—'क्या अष्टाध्यायी का बृहत् पाठ स्वीकार करते ही पातञ्जल महाभाष्य का अधिकांश विचार निरर्थक नहीं रह जाता? और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जो बात कात्यायन और पतञ्जलि सदृश पाणिनि के निकटवर्ती वैयाकरणों को ज्ञात नहीं थी, उसे उनसे भी आठ नौ सदी बाद आने वाले वृत्तिकार जयादित्य वा वामन कैसे जान पाये?'

(पृष्ठ १४५)

डॉ० सत्यकाम वर्मा का उपर्युक्त लेख उनके स्वलेख के ही विपरीत है। वे इससे पूर्व पृष्ट १४४ पर लिखते हैं—'इन शिष्यों में से कुछ ने पहिले सूत्र पाठ को पढ़ा और प्रामाणिक माना होगा, जब कि कुछ ने दूसरे को।'

यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो उनकी पूर्व आपत्ति का समाधान स्वयं हो जाता है। कात्यायन उस सम्प्रदाय के अनुयायी थे जिसे हम लघुपाठ कहते है। उन्होंने उसी पाठ पर अपने वार्तिक रचे। भाष्यकार ने कात्यायन के वार्तिक पाठ पर ही भाष्य रचा। बृहत् पाठ अन्य परम्परा में सुरक्षित रहा। उस पर जयादित्य वा वामन ने अपनी वृत्ति लिखी।

दाक्षिणात्य पाठ और औदीच्य पाठ, लघु पाठ हैं, ऐसा हम लिख चुके हैं। दाक्षिणात्य होने के नाते उनकी परम्परा में लघु पाठ ही प्रचलित था।

पाणिनीय शास्त्र के नाम

पाणिनीय शास्त्र के चार नाम व्यवहृत उपलब्ध होते हैं—अष्टक, अष्टाध्यायी, शब्दानुशासन और वृत्तिसूत्र।

१. अष्टक, अष्टाध्यायी—पाणिनीय ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, अतः उसके अष्टक-और अष्टाध्यायी ये दो नाम प्रसिद्ध हुए; परन्तु इनमें अष्टाध्यायी नाम अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध है।

शब्दानुशासन—पाणिनीय ग्रन्थ का शब्दानुशासन नाम महाभाष्य के आरम्भ में मिलता है—······**शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्** (महाभाष्य प्रथमपंक्ति)

वृत्तिसूत्र—पाणिनीयग्रन्थ के लिए **वृत्तिसूत्र** पद का प्रयोग महाभाष्य आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'इत्सिंग की भारत यात्रा' (पृष्ठ २६८) में प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग ने भी इस नाम का निर्देश किया है।

नागेश के अनुसार वृत्तिसूत्र नाम पड़ने का कारण यह है कि पाणिनीय सूत्रों पर वृत्तियाँ हैं, वार्तिकों पर नहीं। अतः दोनों में भेद दर्शाने के लिए पाणिनीय सूत्रों को बृत्तिसूत्र कहा गया। (माहाभाष्य, २।१।१ का प्रदीप-विवरण)

नागेश का हेतु सर्वथा ठीक है। भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में दो स्थानों पर वार्तिक के लिए **भाष्यसूत्र** पद का व्यवहार किया है। इससे स्पष्ट है कि वार्तिकों पर भाष्यग्रन्थ ही लिखे गये, वृत्तियाँ नहीं लिखी गयीं। पाणिनीयसूत्रों पर वृत्तियाँ ही लिखी गयीं, उन पर सीधे भाष्य ग्रन्थों की रचना नहीं हुई।

अन्यकारण—वृत्तिसूत्र नाम का एक अन्य कारण भी सम्भव है। यास्क ने लिखा है —

संशयवत्यो वृत्तयो भवन्ति (२।१)

यहाँ वृत्ति का अर्थ व्याकरण शास्त्र है।

पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि (४।२२) की स्वोपज्ञ वृत्ति में लिखा है—

विशेषणं विशेष्येण इति वृत्तिः।

यहाँ 'विशेषणं विशेष्येण' जैनेन्द्र व्याकरण (१।३।५२) का सूत्र है। इस आधार पर वृत्ति सूत्र का अर्थ होगा व्याकरण सूत्र।

अपर कारण—पतञ्जलि के अनुसार वृत्ति शब्द का अर्थ है शास्त्र प्रवृत्ति। व्याकरणशास्त्रीय सुप्, कृत्, तिङ् आदि पाँच वृत्तियाँ प्रसिद्ध हैं। तदनुसार वृत्तिसूत्र का अर्थ होगा सुप् आदि वृत्तियों के शास्त्र प्रवृत्तियों के बोधक सूत्र।

मूलशास्त्र—गार्ग्य गोपाल यज्वा ने अपनी तैत्तिरीय प्राशिशाख्य की टीका में दो स्थानों पर पाणिनीय शास्त्र का निर्देश **मूलशास्त्र** के नाम से किया है। मूलशास्त्र कहने में उनका क्या अभिप्राय है, विदित नहीं होता। वे प्रातिशाख्यों को पाणिनीयमूलक समझकर यदि वैसा कहा हो तो यह उनकी भ्रान्ति है क्योंकि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पाणिनीय शास्त्र से निश्चित ही प्राचीन है।

अष्टिका—पाणिनीयाष्टक का एक नाम अष्टिका भी है।

(आष्टिका पाणिनीयाष्टाध्यायी। बाल मनोरमा, भाग १।

पाणिनीय व्याकरण की विशेषता

आचार्य चन्द्रगोमी अपने व्याकरण (२।२।६८) की स्वोपज्ञ वृत्ति में एक उदाहरण देते हैं—**पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्।**

काशिका (२।४।२१) में तथा सरस्वतीकण्ठाभरण और वामनीयलिङ्गानुशासन की वृत्तियों में **पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्** पाठ है।

इसका भाव यह है कि कालविषयक परिभाषाओं से रहित सर्वप्रथम पाणिनि ने ही बनाया। प्राचीन व्याकरणों में भूत, भविष्यत्, अनद्यतन आदि कालों की लिखित परिभाओं के लोकप्रसिद्ध होने के कारण पाणिनि ने उन्हें छोड़ दिया। पाणिनि ने **'कालोपसर्जने च तुल्यम्'** (१।२।५७) सूत्र से स्वयम् इस विषय को दर्शाया है। इस सूत्र का भाव यह है कि काल और उपसर्जन संज्ञाओं के अर्थ लोक-विज्ञान होने से शास्त्र में परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं।

इसके अतिरिक्त पाणिनीय व्याकरण में पूर्व व्याकरणों की अपेक्षा कई सूत्र अधिक हैं। जिन सूत्रों पर महाभाष्यकार ने आनर्थक्य की आशङ्का उठाकर उनकी प्रयत्नपूर्वक आवश्यकता दिखायी है, वे सूत्र निश्चय ही पाणिनि के स्वोपज्ञ हैं, वे सूत्र उससे पूर्वकालीन व्याकरण ग्रन्थों में नहीं थे।

पाणिनीय शास्त्र का मुख्य उपजीव्य

चतुर्थ अध्याय के आपिशलि प्रकरण में आपिशल और पाणिनीय व्याकरण की समानता दिखाते हुए सिद्ध किया जा चुका है कि पाणिनीय शास्त्र का मुख्य उपजीव्य आपिशल तन्त्र है। अतः पाठक इसके लिए उस अध्याय का उक्त प्रकरण देखें।

पाणिनीय व्याकरण पूर्व व्याकरण से संक्षिप्त

भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जाता है कि पूर्वग्रन्थ अधिक विस्तृत थे। उत्तरोत्तर उनका संक्षेप हुआ है। व्याकरण वाङ्मय में भी यही नियम दिखायी देता है। पाणिनीय व्याकरण, पूर्वव्याकरणों से संक्षिप्त है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१. पाणिनि ने **'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्'** (१।२।५६) और **'कालोपसर्जने च तुल्यम्'** इन सूत्रों से दर्शाया है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रधान प्रत्ययार्थवचन, काल तथा उपसर्जन आदि अनेक विषयों की परिभाषाएँ नहीं रची। प्राचीन व्याकरणों में इनका उल्लेख होने पर भी पाणिनि ने इनके लोक प्रसिद्ध होने से इन्हें छोड़ दिया। यही इनके व्याकरण की पूर्वव्याकरणों से उत्कृष्टता थी।

२. माधवीय धातुवृत्ति में **'ऋणोति ऋणोति तृणोति'** आदि प्रयोगों में धातु की उपधा को गुण का निषेध करने के लिए आपिशल व्याकरण के सूत्र उद्धृत हैं पाणिनीय व्याकरण में ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं होता।

३. चान्द्रवर्मण व्याकरण के अनुसार 'द्वय' पद की सर्वनाम संज्ञा होती थी। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार केवल जस् विभक्ति में इसकी सर्वनाम संज्ञा होती है' वह भी विकल्प से।

ऐसा लगता है कि संक्षिप्त होने के कारण पाणिनीय व्याकरण में कुछ नियम छूट गये हैं। महाभाष्यकार ने स्पष्ट लिखा है कि एक उदाहरण के लिए सूत्र नहीं रचे गये।

४. राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है—

तद्धि शास्त्रप्रायोवादो यदुत तद्धितमूढाः पाणिनीयाः। (अध्याय ६)

शास्त्रों में यह प्रायोवाद है कि पाणिनीय, तद्धित में मूढ़ होते हैं।

राजशेखर ने पाणिनीयों की तद्धितमूढ़ता के किसी कारण का उल्लेख नहीं किया है तथापि ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने वैसा इस आधार पर कहा है कि देखने में तो पाणिनि का तद्धित प्रकरण दो अध्याय घेरे हुए हैं

किन्तु वह इतना संक्षिप्त है कि प्राचीन आर्षग्रन्थों में प्रयुक्त सहस्रों तद्धित-प्रयोग उसके द्वारा गतार्थ नहीं होते ।

५. महाभारत के टीकाकार देवबोध का कहना है कि ऐन्द्रव्याकरण यदि समुद्र है तो पाणिनीय व्याकरण गोष्पद । अर्थात् ऐन्द्रतन्त्र की अपेक्षा पाणिनीय तन्त्र अत्यन्त संक्षिप्त है ।

६. पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों में लगभग १०० ऐसे प्रयोग हैं जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते । यथा—'**जनिकर्तुः**, **तत्प्रयोजकः**, **पुराण**, **सर्वनाम** और ग्रन्थवाची **ब्राह्मण** शब्द । अतएव महाभाष्यकार पाणिनि के अनेक सूत्रों में छान्दस या सौत्र कार्य मानते हैं । पाणिनि के 'जाम्बवती विजय' काव्य में भी बहुत से ऐसे प्रयोग हैं जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते । इसका एक मात्र कारण यही है कि पाणिनि ने इन ग्रन्थों में उस समय की व्यवहृत लोक भाषा का प्रयोग किया है, परन्तु उनका व्याकरण तत्कालीन भाषा का संक्षिप्त व्याकरण है । इसी से ये प्रयोग उनके व्याकरण से सिद्ध नहीं होते ।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि पाणिनि ने केवल प्राचीन वैयाकरणों का संक्षेप किया है, उसमें उनकी अपनी ऊहा का कुछ योगदान नहीं है । पाणिनि ने अपने व्याकरण में अनेक नये सूत्र भी रचे हैं जो प्राचीन व्याकरणों में नहीं थे । उनसे उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षणशक्ति का पता लगता है । लाघव के कारण कुछ नियमों का उल्लेख न होना स्वाभाविक है । उसे दोष मानना ठीक नहीं ।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध न होने वाले पद, केवल अपाणिनीय होने से अपशब्द नहीं कहे जा सकते । प्राचीन आर्षवाङ्मय में शतशः ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनीय व्याकरण से नहीं सिद्ध होते । अतएव महाभारत के टीकाकार ने लिखा है—

> न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः ।
> अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं नहि न विद्यते ॥
> यान्युज्जहार माहेन्द्रात् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
> पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥
>
> (महाभारत टीका के प्रारम्भ में)

अष्टाध्यायी संहिता पाठ में रची थी

पाणिनि ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी संहिता पाठ में रची थी । महाभाष्य (१।१।५०) में लिखा है—

यथा पुनरियमन्तरतमनिर्वृत्तिः, सा किं प्रकृतितो भवति—स्थानिन्यन्तरतमे षष्ठीति । आहोस्विदादेशतः—स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवतीति । कुतः पुनरियं विचारणा ? उभयथा हि तुल्या संहिता 'स्थानेऽन्तरतम उरण् रपरः' इति ।

महाभाष्यकार अन्यत्र कई स्थानों में प्राचीन वृत्तिकारों के सूत्रविच्छेद को अप्रामाणिक मानकर नये-नये सूत्र-विच्छेद दर्शाते हैं । यथा—

नैवं विज्ञायते—कञ्क्वरपो यञश्चेति । कथं तर्हि ? कञ्क्वरपोऽयञश्चेति । (महाभाष्य ४।१।१६)

इन प्रमाणों से विस्पष्ट है कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी संहितापाठ में रची थी ।

सूत्रपाठ एकश्रुतिस्वर में था

महाभाष्य के अध्ययन से विदित होता है कि अपना सूत्रपाठ पाणिनि ने एकश्रुतिस्वर (अर्थात् स्वरहीन रूप) में किया था । टीकाकार कहीं-कहीं स्वर-विशेष की सिद्धि के लिए विशिष्टस्वरयुक्त पाठ मानते हैं । कैयट ने कुछ प्राचीन वैयाकरणों के मत में अष्टाध्यायी में एकश्रुतिस्वर ही माना है:...

अन्ये त्वाहुः—एकश्रुत्या सूत्राणि पठ्यन्ते इति । (भाष्यप्रदीपोद्योत १।१।१)

नागेशभट्ट पाणिनि के सूत्रपाठ को सस्वर मानते हैं और अपने पक्ष में 'चतुरः शसि' (६।१।१६८) सूत्रस्थ महाभाष्य की **आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते'** इस उक्ति को उद्धृत करते हैं परन्तु यह उक्ति ही स्पष्ट बता रही है कि सूत्रपाठ सस्वर नहीं, एकश्रुति में था । अन्यथा महाभाष्यकार **'करिष्यते'** न लिखकर **'कृतम्'** पद का प्रयोग करते ।

यदि सूत्रपाठ पाणिनि ने सस्वर किया होता तो वे **'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः'** (७।१।७५) में साक्षात् उदात्त पद का निर्देश न करके 'अनङ्' के अकार को ही उदात्त पढ़ देते ।

पाणिनि के अन्य व्याकरण ग्रन्थ

पाणिनि ने अपने व्याकरण की पूर्ति के लिए निम्न ग्रन्थों का प्रवचन किया है ।

१. धातुपाठ, २. गणपाठ, ३. उणादि सूत्र, ४. लिङ्गानुशासन

ये चारों ग्रन्थ पाणिनीय शब्दानुशासन के परिशिष्ट हैं अतएव प्राचीन ग्रन्थकार इनका व्यवहार **'खिल'** शब्द से कहते हैं । इन ग्रन्थों का इतिहास अध्याय २० से २५ तक में लिखा गया है । वहाँ देखिए ।

५. अष्टाध्यायी की वृत्ति—पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन का बहुधा प्रवचन किया था। प्रवचनकाल में सूत्रार्थ परिज्ञान के लिए वृत्ति का निर्देश करना आवश्यक है। अपनी अष्टाध्यायी की कोई स्वोपज्ञ वृत्ति पाणिनि ने रची थी, इसमें अनेक प्रमाण हैं। इसका विशेष विवरण अध्याय १४ में देखिए।

पाणिनि के अन्य ग्रन्थ

१—शिक्षा

शब्दोच्चारण के परिज्ञान के लिए एक छोटा-सा सूत्रात्मक शिक्षाग्रन्थ पाणिनि ने बनाया था। इसके अनेक सूत्र व्याकरण के विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं। स्वामीदयानन्द द्वारा पाणिनि के मूल शिक्षाग्रन्थ का पुनरुद्धार कर इसे **'वर्णोच्चारण-शिक्षा'** के नाम से प्रकाशित किया जा चुका है। आचार्य चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण का आधार पाणिनीय व्याकरण को जैसे बनाया है वैसे हो अपने शिक्षासूत्रों का आधार भी पाणिनीय शिक्षासूत्रों को बनाया है। इस सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा और आपिशल शिक्षा में अत्यधिक समानता है। जैसे आपिशल व्याकरण के सूत्र, पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों से मिलते हैं और दोनों में आठ-आठ अध्याय हैं वैसे ही दोनों की शिक्षा के सूत्रों में भी समानता है और दोनों में आठ-आठ प्रकरण हैं।

शिक्षासूत्रों के दो पाठ—अष्टाध्यायी के समान पाणिनीय शिक्षा सूत्रों के भी लघु और वृद्ध दो पाठ हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस (खण्डित) हस्तलेख के आधार पर शिक्षा सूत्रों को प्रकाशित किया था वह लघु पाठ का था। दूसरा वृद्ध पाठ है जिसमें कुछ सूत्र और सूत्रांश अधिक हैं। सम्प्रति दोनों पाठ सम्पादित कर **शिक्षासूत्राणि** से प्रकाशित हो चुके हैं।

क्या पाणिनीय शिक्षा सूत्र कल्पित हैं—डॉ० मनोमोहन घोष एम० ए० ने कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सन् १९३८ में एक श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का संस्करण प्रकाशित किया है उसकी भूमिका में स्वामीदयानन्द द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षासूत्रों को कल्पित सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है जो सर्वथा निःसार है। पाणिनीय शिक्षासूत्र वास्तविक रूप में पाणिनीय हैं अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा उद्धृत हैं। पाणिनीय शिक्षा सूत्रों का एक नया कोश उपलब्ध हो जाने से अब सर्वथा प्रमाणित हो गया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षासूत्र वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं।

श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा—यह शिक्षा पाणिनि प्रोक्त नहीं है, इसका प्रथम श्लोक ही बता रहा है—

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयमतं यथा।

इस शिक्षा की शिक्षाप्रकाश नाम्नी टीका के अनुसार इस श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा की रचना पाणिनि के अनुज पिङ्गल ने की है।

श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के भी लघु और वृद्ध दो पाठ हैं। लघु, याजुष पाठ कहाता है उसमें ३५ श्लोक हैं और वृद्ध, आर्चपाठ कहाता है उसमें ६० श्लोक हैं।

२—जाम्बवती विजय

इसका दूसरा नाम **'पातालविजय'** है। इस महाकाव्य में श्रीकृष्ण द्वारा पाताल में जाकर जाम्बवती के विजय एवं उससे परिणय की कथा वर्णित है। इस काव्य को पाणिनि-कृत मानने में अनेक आधुनिक, पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने आपत्तियाँ की हैं। उन सब का सप्रमाण समाधान तीसवें अध्याय में विस्तार से किया गया है।

३—-द्विरूप कोश

लन्दन की इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में इसका एक हस्तलेख है। उसके अन्त में **'इति पणिनिमुनिना कृतं द्विरूपकोशं सम्पूर्णम्'** लिखा है

यह कोश वैयाकरण पाणिनि की ही कृति है या अन्य की, यह अज्ञात है।

पूर्व पाणिनीयम्

यह २४ सूत्रों का एक लघुग्रन्थ है। श्री पं० जीवराम कालिदास राजवैद्य ने इसका अन्वेषण और सम्पादन कर अभी-अभी कठियावाड़ से प्रकाशित किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ को पाणिनि विरचित सिद्ध करने का निष्फल प्रयत्न किया है। इसके एक हस्तलेख के प्रारम्भ में 'कात्यायन सूत्रम्' लिखा है। प्रतीत होता है कि ये सूत्र किसी अर्वाचीन कात्यायन विरचित हैं। इसके सम्पादक महोदय को 'पूर्व पाणिनीय' का शब्दार्थ ठीक न समझने के कारण पाणिनिकृत होने की भ्रान्ति हो गयी। वस्तुतः इसका अर्थ है—**'पाणिनीयस्य पूर्व एकदेशः पूर्वपाणिनीयम्'**—पाणिनीय शास्त्र का पूर्वभाग। पूर्वोत्तर भाग के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह एक ही व्यक्ति की रचना हो और समान काल की हो। विभिन्न रचयिता और विभिन्न काल की रचना होने पर भी पूर्वोत्तर भाग माने जाते हैं जैसे पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा।

काशिका, (६।२।१०४) के प्रत्युदाहरण में **'पूर्वपाणिनीयं शास्त्रम्'** का उल्लेख करती है। इससे इस शास्त्र की प्राचीनता सिद्ध होती है।

हरदत्त ने उक्त प्रत्युदाहरण की व्याख्या' **पाणिनीयशास्त्रं पूर्वं चिरन्तनमित्यर्थः'** की है। यह क्लिष्ट कल्पना है, सम्भवतः उन्हें इस ग्रन्थ का ज्ञान नहीं था।

(४।३।८८) में **शिशुक्रन्द** (बच्चों का रोना), **यमसभा**, द्वन्द्वसमास-**अग्निकाश्यप**, **श्येजकपोत** और **इन्द्रजनन** (इन्द्र की उत्पत्ति) तथा आदि शब्द से **'प्रद्युम्नागमन'** आदि विषयों के ग्रन्थों का निर्देश किया है। वार्तिककार ने **'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्'** और 'देवसुरादिभ्यः प्रतिषेधः' वार्तिकों से अनेक कृत ग्रन्थों की ओर संकेत किया है। पतञ्जलि ने प्रथम वार्तिक के उदाहरण **वासवदत्ता, सुमनोत्तरा** और प्रत्युदाहरण **'भैमरथी'** और द्वितीय वार्तिक के उदारण **'दैवासुरम्'**, **'राक्षोसुरम्'** दिये हैं।

श्लोक-काव्य—(१) **तित्तिरि-प्रोक्त श्लोक**—इन श्लोकों का उल्लेख महाभाष्य (४।२।६५) में है। (प्रोक्त होने के कारण इसकी गणना प्रोक्त विभाग में होनी चाहिए)।

(२) **चरक द्वार प्रोक्त (चारक) श्लोक**—इन श्लोकों का निर्देश काशिकावृत्ति (४।३।१०७) तथा अभिनव शाकटायन व्याकरण की चिन्तामणिवृत्ति (३।१।१७१) में मिलता है। चरक का वास्तविक नाम वैशम्पायन था। कुष्ठी (चरकी) हो जाने के कारण उसका चरक नाम प्रसिद्ध हो गया था। इसी वैशम्पायन का ज्येष्ठ भ्राता और शिष्य तित्तिर था।

(३) **उख प्रोक्त (औखीय) श्लोक**—इनका उल्लेख सायण की माधवीयाधातुवृत्ति में है।

(४) **पिप्पलाद प्रोक्त श्लोक**—इनका उल्लेख सरस्वतीकण्ठाभरण की हृदयहारिणी टीका में मिलता है।

(इन सभी श्लोककाव्यों की गणना, प्रोक्त होने के कारण प्रोक्तविभाग में होनी चाहिए)

(५) **वाल्मीकि द्वारा निर्मितश्लोक**—इन श्लोकों का निर्देश काशिका (२।४।२१) में मिलता है।

(६—९) **वाररुचश्लोक**, **हैकुपाद ग्रन्थ**, **भैकुराट ग्रन्थ**, **जालूक**—ये 'कृते ग्रन्थे' (४।३।११६) सूत्र के उदाहरण में काशिकाकार द्वारा निर्दिष्ट हैं। वाररुचश्लोक निश्चय ही पाणिनि से अर्वाचीन हैं, शेष के विषय में नहीं कह सकते। ये वररुचि, वार्तिककार कात्यायन ही हैं।

(१०) **वाररुच काव्य (स्वर्गारोहण)**—पतञ्जलि ने महाभाष्य (४।३।१०१) में **'वाररुचकाव्य'** का निर्देश किया है। इसका दूसरा नाम **'स्वर्गारोहण'** है जिसका निर्देश **समुद्रगुप्त** ने अपने कृष्णचरित की प्रस्तावनान्तर्गत मुनिकविवर्णन में किया है—

य: स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ॥

(११) **भ्राजसंज्ञकश्लोक**—इन श्लोकों का उल्लेख महाभाष्य के प्रथम आह्निक में है। कैयट आदि टीकाकारों के मतानुसार ये श्लोक कात्यायन-विरचित हैं।

(१२) **जाम्बवतीविजय**—इसका दूसरा नाम 'पातालविजय' है। यह पाणिनि-विरचित है। इसमें १८ सर्ग थे। इस काव्य के विषय में तीसवें अध्याय में विस्तार से लिखा गया है।

(१३) **महाभारत**—इस बृहत् काव्य का साक्षात् निर्देश पाणिनि ने (६।२।३८ में) किया है।

इनके अतिरिक्त कृतग्रन्थों में **अनुक्रमणीग्रन्थ**, ऋतुग्रन्थ और **व्याडिकृत संग्रह** का भी उल्लेख, सूत्रों में या गणपाठ में किया गया है।

५. व्याख्यान

पाणिनि की अष्टाध्यायी में (४।३।६६—७३ में) 'तस्य व्याख्यान:' का प्रकरण है। इस प्रकरण में अनेक व्याख्यान ग्रन्थों का निर्देश है।

काशिका वृत्ति में दिये गये उदाहरण—

सौपः, तैङः, षात्वणत्विकम्, नातानतिकम्। (४।३।६६—६७)

आग्निष्टोमिकः, वाजपेयिकः, राजसूयिकः, पाकयज्ञिकः, नावयज्ञिकः, पाञ्चौदनिकः, दाशौदनिकः।(४।३।६८)

पौरोडाशिकः, पुरोडाशिकः (४।३।७०)

ऐष्टिकः, पाशुकः, चातुर्होमिकः पाञ्चहोतृकः, ब्राह्मणिकः, आर्चिकः, प्राथमिकः, आध्वरिकः, पौरश्चरणिकः।

सूत्र ४।३।७३ में—ऋगयनादिगण पढ़ा है, जिसमें पाणिनि ने निम्न विषयों या शीर्षकों वाले व्याख्यान ग्रन्थों का निर्देश किया है—

ऋगयन, पदव्याख्यान, छन्दोमान,छन्दोविचिति, न्याय, पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तुविद्या, [न] क्षत्र विद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त, उपनिषद्, शिक्षा।

पाणिनीय व्याकरण के आधार पर ये सङ्कलितग्रन्थ तत्तद् विषय के उदाहरणमात्र हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे ग्रन्थ भी विद्यमान थे जिनका पाणिनीय व्याकरण में साक्षात् उल्लेख नहीं है। इसी से पाणिनि काल में संस्कृत-वाङ्मय की विशालता का अनुमान किया जा सकता है।

सप्तम अध्याय

संग्रहकार व्याडि (२६०० वि० पू०)

आचार्य व्याडि अपरनाम दाक्षायण ने संग्रह नाम का एक ग्रन्थ रचा था। वह पाणिनीय व्याकरण पर था, ऐसी पाणिनीय वैयाकरणों की धारणा है।[1] महराजसमुद्रगुप्त ने भी व्याडि को **दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुः'** लिखा है।[2] पतञ्जलि ने 'संग्रह' को दाक्षायण की कृति कहा है।[3] 'संग्रह' का लक्षण भरतमुनि के अनुसार यह है—

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।
निबन्धो यः शमासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥ (नाट्यशास्त्र ६।६)

चरक में पठनीय ग्रन्थों का वर्णन करते हुए **ससंग्रहम्** विशेषण दिया है। टीकाकारों ने संग्रह शब्द का अर्थ संक्षिप्त वचन किया है। पाणिनीय गणपाठ-(४।२६०) में भी संग्रह पद उपलब्ध होता है। उस 'संग्रह' शब्द से क्या अभिप्राय है, यह विचारणीय है।

परिचय

व्याडि नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। पुरुषोत्तमदेव ने 'त्रिकाण्डशेष' में व्याडि के विन्ध्यस्थ, नन्दिनीसुत और मेधावी तीन पर्याय लिखे हैं। आचार्य-हेमचन्द्र विन्ध्यस्थ का पाठान्तर विन्ध्यवासी और केशव विन्ध्यनिवासी लिखते हैं, तीनों का अर्थ एक ही है।

वैयाकरण संग्रहकार व्याडि का प्रसिद्धतम नाम दाक्षायण, उक्त पर्यायों में नहीं है। अतः प्रतीत होता है कि उक्त पर्याय प्राचीन व्याडि के नहीं हैं।

एक व्याडि कोशकार हैं। इनके कोश के अनेक उद्धरण कोशग्रन्थों की टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के निर्देशानुसार व्याडि के

---

१. संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः। महाभाष्य दीपिका, भर्तृहरिकृत, हस्तलेख पृष्ठ ३०।

२. कृष्णचरित, मुनिकविवर्णन, श्लोक १६।

३. शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः।

कोश में २४ बौद्धजातकों के नाम मिलते हैं।[1] अतः स्पष्ट है कि ये व्याडि महात्मा बुद्ध से उत्तरवर्ती हैं। प्रसिद्ध मुसलमान यात्री अल्बेरूनी ने एक रसज्ञ व्याडि का उल्लेख किया है।

प्राचीन व्याडि संग्रहग्रन्थ के रचयिता प्रसिद्ध वैयाकरण हैं। इनका उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य, महाभाष्य, काशिकावृत्ति और भाषावृत्ति आदि अनेक ग्रन्थों में है।

आचार्य व्याडि के अन्य प्रसिद्ध नाम

(१) **दाक्षायण**—व्याडि आचार्य, दाक्षायण नाम से प्रसिद्ध थे। व्याडि तथा दाक्षायण ये दोनों नाम संग्रहकार के ही हैं, ऐसा 'महाभाष्य तथा महाभाष्य प्रदीपोद्योत' से सिद्ध है—

शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः। (महाभाष्य २।३।६६)
संग्रहो व्यडिकृतो लक्षसंख्यो ग्रन्थः। (महाभाष्य प्रदीपोद्योत, निर्णय सागर संस्क०, पृष्ठ ५५)

(२) **दाक्षि**—वामन ने काशिका (६।२।६९) में इस नाम का उल्लेख किया है—

कुमारीदाक्षाः। कुमार्यादिलाभकामाः दाक्ष्यादिप्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयन्ते तच्छिष्यता वा प्रतिपद्यन्ते त एवं क्षिप्यन्ते।

मत्स्यपुराण में दाक्षि गोत्र का निर्देश मिलता है—

कपितरः स्वस्तितरो दाक्षिः शक्तिः पतञ्जलिः। (१९५।२५)

यद्यपि दाक्षि और दाक्षायण नमों में गोत्र ओर युवप्रत्यय के भेद से अर्थ की विभिन्नता प्रतीत होती है तथापि पाणिन और पाणिनि तथा काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि आदि के समान दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। इसकी पुष्टि काशिका (४।१।१७) के 'तत्र भवान् दाक्षायणः, दाक्षिर्वा' उदाहृण से होती है।

व्याडिपद का अर्थ—सायण ने अपनी धातुवृत्ति में व्याडि पद का अर्थ इस प्रकार किया है—

अडो वृश्चिकलाङ्गूलम्, तेन च तैक्ष्ण्यं लक्ष्यते, विशिष्टोऽडस्तैक्ष्ण्यमस्य व्यडः, तस्यापत्यं व्याडिः। अत इञ्, स्वागतादीतां चेति वृद्धिप्रतिषेधैजागमयोर्निषेधः।[2]

---

१. अभिधानचिन्तामणि, देवकाण्ड, श्लोक १४७ की टीका, पृष्ठ १०० और १०१।

२. पृष्ठ ८२, 'चौखम्बा संस्क०।

वंश—उपर्युक्त उद्धरण से व्याडि के पिता का नाम व्यड प्रतीत होता है। माता का नाम अज्ञात है। दाक्षि और दाक्षायण नामों से इस वंश के मूल पुरुष '**दक्ष**' विदित होता है। मत्स्यपुराण के अनुसार दाक्षि अङ्गिरा वंश के थे। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार दाक्षायण का जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ था। पाणिनि ने क्रौडयादिगण (४।१।८०) में व्याडि पद का निर्देश किया है। उसके अनुसार इनकी किसी बहिन का नाम 'व्याडया' प्रतीत होता है। दाक्षि और दाक्षायण के एक होने पर पणिनि की माता दाक्षी व्याडि की बहिन होगी और पाणिनि उनका भानजा।

देश—पुरुषोत्तम देव आदि ने व्याडि का पर्याय विन्ध्यस्थ, विन्ध्यवासी और विन्ध्यनिवासी लिखा है। तदनुसार व्याडि को विन्ध्यगिरि का निवासी होना चाहिए; किन्तु हम बता चुके हैं कि उक्त पर्याय संग्रहकार व्याडि के नहीं है।

काशिका (४।१।१६०) में दाक्षि को प्राग्देशीय लिखा है किन्तु काशिका (२।४।६०) में ही **प्राचामिति किम्—दाक्षि: पिता, दाक्षायण: पुत्र:**' लिखा है अर्थात् दाक्षि प्राग्देश से भिन्न देश के निवासी थे। काशिका के दोनों वचन परस्पर विरुद्ध हैं। हो सकता है, दो दाक्षि रहे हों।

पाणिनि पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के रहने वाले थे। उनके सम्बन्धी होने के कारण दाक्षायण भी उन्हीं के समीप के निवासी होंगे।

काशिका (४।२।१४२) में दाक्षिपलद, दाक्षिनगर, दाक्षिग्राम, दाक्षिह्लद, दाक्षिकन्था ग्रामों का उल्लेख है और काशिका के ही अनुसार ये ग्राम, वाहिक=सतलज और सिन्धु के मध्य थे। इन ग्रामों के नाम से प्रतीत होता है कि दाक्षायण कुल इन्हीं ग्रामों में निवास करता था।

व्याडि का वर्णन

समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित की प्रस्तावना के अन्तर्गत मुनिकविवर्णन में व्याडि का वर्णन करते हुए लिखा है—

संग्रहकार व्याडि दाक्षीपुत्र पाणिनि के व्याकरण के व्याख्याता, रसाचार्य और श्रेष्ठ मीमांसक थे। इन्होंने 'बलराम चरित 'लिखकर व्यास और भारत को जीत लिया था अर्थात् उनका 'बलरामचरित' 'भारत' से भी कहान् था।

कृष्णचरित के अतिरिक्त रसरत्नसमुच्चय के आरम्भ में वाग्भट्ट ने भी व्याडि का उल्लेख रसाचार्यों में किया है। रामराजा के रसरत्नप्रदीप में भी व्याडि का उल्लेख है। व्याडि को गरुडपुराण (पूर्वार्ध अ० ६६, श्लोक ३५–३७) में महाप्रभावसिद्ध अर्थात् रसशास्त्र का आचार्य कहा गया है।

लोक में किंवदन्ती है कि रस (पारद) के व्यावहार का उपज्ञाता बौद्ध विद्वान् नागार्जुन है। वस्तुतः यह मिथ्याभ्रम है। रसचिकित्सा भी औद्भिज-चिकित्सा के समान ही प्राचीन है। चरक और सुश्रुत में रसचिकित्सा के विशेष उल्लेख न मिलने का कारण है, उनका औद्भिज और शल्य चिकित्सा का प्रतिपादक ग्रन्थ होना। प्राचीन ग्रन्थकार अपने प्रतिपाद्य विषय में हस्त-क्षेप नहीं करते।

कृष्ण चरित में व्याडि को श्रेष्ठ मीमांसक (मीमांसकाग्रणी) कहा गया है। सम्भव है कि व्याडि ने मीमांसाशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा हो। जैमिनि आकृति को पदार्थ मानता है। महाभाष्य (१।२।६४) में व्याडि को द्रव्यपदार्थवादी लिखा है। इससे स्पष्ट है कि व्याडि द्रव्यपदार्थवादी मीमांसक रहे होंगे।

व्याडि का काल

गृहपति शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्यका प्रवचन भारतयुद्ध के लगभग १०० वर्ष पश्चात् किया था। उसमें उन्होंने अनेक स्थानों पर व्याडि का उल्लेख किया है। व्याडि (दाक्षायण) पाणिनि के मामा थे। शौनक, पाणिनि और व्याडि समकालिक हैं।[१] अतः व्याडि का काल भारतयुद्ध के पश्चात् १००-२०० वर्षों के मध्य है।

संग्रह का परिचय

अशेषशेमुषी सम्पन्न पतञ्जलि ने महाभाष्य (२।३।६६) में **'शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः'** वचन द्वारा दाक्षायण (व्याडि) की कृति 'संग्रह' की प्रामाणिकता एवम् उत्कृष्टता मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है। 'संग्रह' का कैसा स्वरूप था, यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है। विभिन्न ग्रन्थों में 'संग्रह' के विषय में लिखित उद्धरणों के आधार पर ही इस विषय में कुछ कहा जा सकता है। चान्द्र व्याकरण (४।१।६२) की वृत्ति में एक उदाहरण है **'पञ्चकः संग्रहः। 'अष्टकं पाणिनीयम्'** उदाहरण से इसकी तुलना करने पर विदित होता है कि 'संग्रह' में पाँच अध्याय थे। काव्यप्रदीय के टीकाकार और नागेश के वचनानुसार 'संग्रह' का परिमाण लक्षश्लोक था। महाभाष्य के 'संग्रहेतावत् प्राधान्येन परीक्षितम्' वचन की व्याख्या में भर्तृहरि ने लिखा है—

'चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)।'

---

१. देखिए—इसी ग्रन्थ का अध्याय ५; 'पाणिनि का काल' प्रकरण।

यदि भर्तृहरि का यह वचन ठीक है तो निस्सन्देह संग्रह का परिमाण लक्षश्लोक रहा होगा।

महाभाष्य (४।२।६०) में एक उदाहरण है—**सांग्रहसूत्रिकः**। इससे प्रतीत होता है कि संग्रह ग्रंथ सूत्रात्मक था। विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत संग्रह के वचन जो उपलब्ध होते हैं, उनकी संख्या २० से अधिक है। वे गद्य और पद्य दोनों रूप में हैं। इससे विदित होता है कि संग्रह में गद्य और पद्य दोनों थे।

महाभाष्य (१।१।१) के दो वचनों तथा भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत संग्रह के पाठों से विदित होता है कि 'संग्रह' वाक्यपदीय के समान मुख्यतः व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ था।

नागेश ने भाष्य प्रदीपोद्योत ४।३।३६ में लिखा है—

एवं च संग्रहादिषु तदुदाहरणमसंगतं स्यात्।

इससे प्रतीत होता है कि संग्रह में पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों के कहीं-कहीं उदाहरण भी दिये गये थे।

काशिका विवरण पञ्जिका (७।३।११) में न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने लिखा है—

श्वोभूतिव्याडिप्रभृतयः श्र्युकः कितीत्यत्र द्विककारनिर्देशेन हेतुना चर्त्वभूतो गकारः प्रश्लिष्टः इत्येवमाचक्षते।

सम्भव है, व्याडि ने श्र्युकः किति (७।३।११) सूत्र की व्याख्या संग्रह में की होगी। यह भी सम्भव हो सकता है कि उन्होंने अष्टाध्यायी की कोई व्याख्या लिखी हो। इसकी पुष्टि व्याडि के लिए समुद्रगुप्त द्वारा 'कृष्ण-चरित' में उक्त '**दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुः**' पद से भी होती है।

अन्यग्रन्थ—व्याडि ने 'संग्रह' के अतिरिक्त व्याकरणशास्त्र, बलचरित (काव्य), परिभाषा-पाठ, लिङ्गानुशासन, विकृतिवल्ली (ऋग्वेद का एक परिशिष्ट) और कोश की रचना की थी।

—

अष्टम अध्याय

अष्टाध्यायी के वार्त्तिककार

(२८०० वि० पू०)

वार्तिक नाम से व्यवहृत ग्रन्थों के दो प्रकार हैं। एक वार्तिक वे हैं जिनकी रचना व्यारकण के सूत्रों पर हुई और उन वार्तिकों पर भाष्य रचे गये। इसी से कात्यायन के वार्तिकों को भाष्य सूत्र भी कहते हैं। यह प्रकार केवल व्याकरणशास्त्र में मिलता है। दूसरे वार्तिक ग्रन्थ वे हैं, जो भाष्यों पर रचे गये। जैसे न्याय भाष्य वार्तिक, शाबर भाष्य पर कुमारिल के श्लोक वार्तिक, तन्त्र वार्तिक, शंकर के बृहदारण्यक आदि भाष्यों पर सुरेश्वराचार्य के वार्तिक ग्रन्थ आदि।

वार्तिक का लक्षण है—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥ (पराशर उपपुराण)

वैयाकरणीय वार्तिक पद का अर्थ—वैयाकरण निकाय में 'व्याकरण-शास्त्र की प्रवृत्ति' के लिए वृत्ति शब्द का व्यवहार होता है।

शास्त्र प्रवृत्ति की वास्तविक प्रतीति केवल सूत्रों से नहीं होती। उसके लिए सूत्रव्याख्यान अपेक्षित होता है। इसलिए सूत्रों के लघु व्याख्यान ग्रन्थ, जिनमें पदच्छेद, विभक्ति, अनुवृत्ति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण आदि द्वारा सूत्रों का तात्पर्य व्यक्त किया जाता है, को भी वृत्ति कहते हैं। वृत्ति शब्द के इसी अर्थ के प्रकाश में 'वार्तिक' पद का अर्थ होगा **'वृत्तेर्व्याख्यानं वार्तिकम्**। जो वृत्ति का व्याख्यान हो वह 'वार्तिक' कहाता है।

वैयाकरणीय वार्तिकों की विवेचना से भी यही बात व्यक्त होती है कि वार्तिकों की मीमांसा का आधारभूत विषय, वृति अर्थात् शास्त्र प्रवृत्ति के निर्देशक ग्रन्थ हैं।

वार्तिकों के लिए व्याकरण-वाङ्मय में वाक्य, व्याख्यानसूत्र, भाष्यसूत्र, अनुतन्त्र, अनुस्मृति शब्दों का भी व्यवहार होता है। वार्तिकों को वाक्य सम्भवतः इसलिए कहते हैं कि सूत्रों में क्रिया-पद का प्रयोग नहीं होता अतः

उनमें वाक्यत्व लक्षण व्याप्त नहीं होता। वार्तिकों में प्रायः क्रिया पद भी प्रयुक्त होता है अतः उनमें वाक्यत्व का लक्षण भले प्रकार उत्पन्न हो जाता है अर्थात् वार्तिक संक्षिप्त प्रवचन न होकर वाक्य के रूप में विस्तृत है। इसी प्रकार वार्तिकों पर भाष्यरूपी व्याख्यानग्रन्थ लिखे जाने के कारण उनको व्याख्यान सूत्र भी कहते हैं।

व्याख्यानसूत्र पद का प्रयोग केवल कैयट के महाभाष्यप्रदीप में उपलब्ध होता है।

इन्हीं सूत्रों पर भाष्यग्रन्थ लिखे गये हैं, अथवा ये ही वाक्यरूप सूत्र भाष्यग्रन्थों के मूल भूत आधार हैं अतः इन्हें भाष्य सूत्र भी कहते हैं। वार्तिकों के लिए भाष्य सूत्र पद का प्रयोग भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका और स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में मिलता है। हर्षवर्धन कृत लिङ्गानुशासन टीका में वार्तिक पद का अर्थ ही भाष्य सूत्र लिखा है।

तन्त्र अथवा स्मृति अर्थात् पाणिनीय शास्त्र का अनुगमन करने के कारण वार्तिकों को अनुतन्त्र और अनुस्मृति भी कहते हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में वार्तिकों को 'अनुतन्त्र' नाम से उद्धृत किया है। सायण ने धातुवृत्ति में 'अनुस्मृति' शब्द का व्यवहार किया है।

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर अनेक अचार्यों ने वार्तिकग्रन्थ रचे थे, जो इस समय अनुपलब्ध हैं। बहुत से ग्रन्थकारों के नाम भी अज्ञात हैं। ऐसे आचार्यों के वचनों को महाभाष्य में 'अपर आहुः' निर्देशपूर्वक उल्लिखित किया गया है। वे वार्तिक प्रायः पूर्वाचार्यों के हैं। पतञ्जलि ने कहीं-कहीं महाभाष्य में वार्तिककारों के नामों का निर्देश किया है किन्तु बहुत कम। महाभाष्य में जिनके नाम उपलब्ध होते हैं, वे हैं—

१. कात्य या कात्यायन, २. भारद्वाज, ३. सुनाग, ४. क्रोष्टा, ५. बाडव।

इनके अतिरिक्त महाभाष्य की टीकाओं से दो वार्तिककारों के नाम विदित होते हैं—

६. व्याघ्रभूति ७. वैयाघ्रपद्य

कात्यायन

पाणिनीय व्याकरण पर रचे वार्तिकों में कात्यायन के ही वार्तिक को अधिक प्रसिद्धि मिली है। महाभाष्य में प्रायः इन्हीं के वार्तिकों का व्याख्यान है।

कात्यायन के अनेक नाम—पुरुषोत्तम देव ने अपने त्रिकाण्डशेष में कात्यायन के ५ नामान्तर लिखे हैं—१. **कात्य**, २. **कात्यायन**, ३. **पुनर्वसु**, ४. **मेधाजित्**, ५. **वररुचि**।

१. **कात्य**—यह गोत्र प्रत्ययान्त नाम है। महाभाष्य (३।२।३) में वार्तिककार के लिए इस नाम का उल्लेख मिलता है। बौधायन श्रौत (७।७) में भी 'कात्य' स्मृत है।

२. **कात्यायन**—यह युवप्रत्ययान्त नाम है। पूज्य व्यक्ति के सम्मान के लिए उसे युवप्रत्ययान्त नाम से स्मरण करते हैं। इस नाम का उल्लेख महाभाष्य (३।२।११८) में है।

३. **पुनर्वसु**, ४. **मेधाजित्**—भाषावृत्ति (४।३।३४) में पुनर्वसु को वररुचि का पर्याय (पुनर्वसुर्वररुचिः) लिखा है। मेधाजित् नाम का प्रयोग अन्यत्र देखने में नहीं आता है। ये दोनों नाम सन्दिग्ध हैं। सम्भवतः ये उत्तरकालीन कात्यायन वररुचि के नाम रहे होंगे।

५. **वररुचि**—समुद्रगुप्त के मतानुसार वररुचि, वार्तिककार कात्यायन ही है।

प्राचीन वाङ्मय में अनेक कत्यायनों का उल्लेख मिलता है। एक कात्यायन कौशिक है, दूसरा आङ्गिरस है, तीसरा भार्गव है और चौथा द्व्यामुष्यायण है। एक कात्यायन चरक सूत्रस्थान (१।१०) में स्मृत है। यह शालाक्यतन्त्र का रचयिता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी एक कात्यायन स्मृत है।

स्कन्दपुराण के अनुसार एक कात्यायन, याज्ञवल्क्य के पुत्र हैं। इन्होंने वेदसूत्र की रचना की थी। ये ही, कात्यायन-संहिता, कात्यायन-शतपथ, कात्यायन-श्रौत-गृह्यसूत्र और प्रतिशाख्य के कर्ता हैं। ये ही, शुल्क यजुर्वेद के आङ्गिरसायन की कात्यायन शाखा के प्रवर्तक हैं। कात्यायन शाखा का प्रचार विन्ध्य के दक्षिण में महाराष्ट्र आदि प्रदेश में रहा है। स्कन्दपुराण में इन्हीं कात्यायन के वररुचि नामक पुत्र का भी उल्लेख है। यही **याज्ञवल्क्य का पौत्र** और **कात्यायन का पुत्र**, **वररुचि कात्यायन** अष्टाध्यायी का वार्तिकार है इसमें निम्न हेतु हैं—

१. काशिकाकार ने **'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'** सूत्र पर आख्यानों के आधार पर शतपथ ब्राह्मण को अचिरकालकृत लिखा है परन्तु वार्तिककार ने **'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वाद्'** में याज्ञवल्क्यप्रोक्त शतपथ ब्राह्मण को अन्य ब्राह्मणों का समकालिक कहा है। इससे प्रतीत होता है कि वार्तिकार का याज्ञवल्क्य के साथ कोई विशेष सम्बन्ध था। अतएव

उन्होंने तुल्यकाल हेतुत्व से शतपथ को पुराणप्रोक्त सिद्ध करने का यत्न किया है।

२. महाभाष्य से विदित होता है कि **कात्यायन** दाक्षिणात्य थे। कात्यायन शाखा का अध्ययन भी प्रायः महाराष्ट्र में रहा है।

३. शुल्कयजुः प्रतिशाख्य के अनेक सूत्र कात्यायनीय वार्तिकों से समानता रखते हैं। यह समानता भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को पुष्ट करती है।

४. वाजसनेय प्रतिशाख्य में एकसूत्र है—**पूर्वो द्वन्द्वेष्ववायुषु** (२।१२७) इसमें **अवायुषु पद द्वन्द्वेषु** का विशेषण है। इसका अभिप्राय है कि जिस द्वन्द्व में वायु पूर्व पदस्थ या उत्तर पदस्थ हो उसके पूर्वपद को दीर्घ नहीं होता। जैसे—**इन्द्रवायुभ्याम् त्वा।** वाजसनेयसंहिता में पूर्वपदस्थ वायु का उदाहरण नहीं मिलता, परन्तु मै० सं० (३।१५।११) में **वायुसवितृभ्याम्** में भी दीर्घत्वा भाव देखा जाता है वार्तिककार ने भी वाजसनेय प्रातिशाख्य के अनुसार **उभयत्र वायोः प्रतिषेधो वक्तव्यः**' (महाभाष्य ६।३।२६) कहा है। महाभाष्य में उदाहरण दिये गये हैं—**अग्निवायू और वाय्वग्नी।**

जैसे वहाँ वायु पूर्वपद का उदाहरण नहीं मिलता वैसे ही भाष्यस्थ उदाहरण **'वाय्वग्नी' में** भी प्रतिषेध का कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि वायु को दीर्घ हो जाने पर भी सन्धि का रूप यही होता। दोनों सूत्रों में पूर्व पदस्थ पायु को दीर्घ का प्रतिषेध कहना समान रूप से व्यर्थ है। हाँ, पूर्वप्रदर्शित **वायुसवितृभ्याम्** उदाहरणान्तर में दोनों की उपयोगिता हो सकती है। अतः स्पष्ट है कि प्रातिशाख्य के अनुकरण पर वार्तिक रचा गया है।

५. पाणिनि जहाँ समासाभाव अथवा एक पदत्वाभाव अर्थात् स्वतन्त्र अनेक पद मानकर कार्य का विधान करते हैं, वहाँ वार्तिककार शुक्लयजुः प्रतिशाख्य के समान समासवत् अथवा एकपदवत् मानकर कार्यविधान करते हैं। यथा—

(क) पाणिनि **तिङि चोदात्तवति** (८।१।७१) गति और तिङ् पदों को पृथक्-पृथक् दो पद मान कर गति को अनुदात्तविधान करते हैं, वहाँ कात्यायन **उदात्तगतिमता च तिङा** (२।२।१८) वार्तिक द्वारा समास का विधान करते हैं।

(ख) पाणिनि **सर्वस्य द्वे, अनुदात्तं च** (८।१।१-२) द्वारा द्विर्वचन में दोनों को स्वतन्त्र पद मानते हैं, परन्तु कात्यायन अव्यय के द्विर्वचन में अव्यय **अव्ययमव्ययेन** (२।२।१८) वर्तिक द्वारा समास का विधान करते हैं।

(ग) पाणिनि इव शब्द के प्रयोग में दोनों को स्वतन्त्र पद मानते हैं और इव को **चादयोऽनुदात्ताः** नियम के अनुसार अनुदात्त स्वीकार करते हैं, परन्तु कात्यायन **इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च** (२।२।१८) वार्तिक द्वारा उसके समास का विधान करते हैं और पूर्वपद प्रकृति स्वर का विधान कर **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६।१।१५८) नियम से इव को अनुदात्त मानते हैं।

६. सायण ने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में स्पष्ट रूप से वार्तिककार का नाम वररुचि लिखा है—

तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषों **वररुचिना वार्तिककारेण** दर्शितः—रक्षोहागमलघ्वसन्देहाःप्रयोजनम् (षडङ्गप्रकरण, पृष्ठ २६, पूना संस्करण)

पाणिनि का शिष्य—नागेशभट्ट के लघुशब्देन्दुशेखर से ध्वनित होता है कि वार्तिककार कात्याययन पाणिनि के साक्षात् शिष्य हैं।

देश—'यथालौकिकवैदिकेषु' वार्तिक की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार लिखते हैं—**प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। यथा लोके वेदे च प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेषु प्रयुञ्जते** (महाभाष्य १।१।१)

इससे विदित होता है कि वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य थे।

कथासरित्सागर में वार्तिककार कात्यायन को कौशाम्बी का निवासी लिखा है। वह प्रमाणभूत पतञ्जलि के वचन के विरुद्ध होने से अप्रमाण है। सम्भव है, उत्तरकालीन वररुचि कात्यायन कौशाम्बी का निवासी हो। नाम-सदृश्य से कथासरित्सागर के निर्देश में भूल हुई होगी।

स्कन्दपुराण (नागरखण्ड १७४।५५) के अनुसार याज्ञवल्क्य का आश्रम आनर्त (गुजरात) में था। सम्भव है, याज्ञवल्क्य के मिथिला चले जाने पर उनके पुत्र कात्यायन महाराष्ट्र की ओर चले गये हों और कात्यायन के पुत्र वररुचि कात्यायन दक्षिण में ही रहता रहा हो।

अन्य प्रमाण—पाणिनीय सूत्र पाठ के दक्षिणात्य, औदीच्य और प्राच्य तीन प्रकार के पाठ थे। प्राच्य पाठ वृद्ध पाठ है और दाक्षिणात्य एवं औदीच्य लघु पाठ हैं, यद्यपि दोनों में कुछ अन्तर भी है। पाणिनीय सूत्रपाठ के लघु-वृद्ध पाठों की तुलना से स्पष्ट है कि काल्यायन के वार्तिक अष्टाध्यायी के लघुपाठ पर आश्रित है। अतः वार्तिककार दाक्षिणात्य ही सिद्ध होते हैं।

वार्तिककार का काल

वार्तिककार कात्यायन याज्ञवल्क्य के पौत्र थे, अतः पाणिनि से कुछ उत्तरवर्ती होंगे और यदि वे पाणिनि के साक्षात् शिष्य हों, जैसा कि पूर्व

लिख चुके हैं तो पाणिनि के समकालीन होंगे। अतः वार्तिककार कात्यान का काल विक्रम से लगभग २६००—३०००वर्ष पूर्व है।

अनेक आधुनिक ऐतिहासिक **'वहीनरस्येद् वचनम्'** (महाभाष्य ७।३।१), वार्तिक में 'वहीनर' शब्द देख कर वार्तिककार कात्यायन को उदयन पुत्र वहीनर से अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु यह मत सर्वथा अयुक्त है। वैहीनरि अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति है। इसका उल्लेख बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवराध्याय (३) में मिलता है। वहाँ उसे भृगुवंश्य कहा है। मत्स्यपुराण (१६४।१६), में भी भृगुवंश्य वैहीनरि का उल्लेख है। वहाँ उसका अपना नाम 'विरूपाक्ष' लिखा है।

महाभाष्यकार ने उपर्युक्त वार्तिक की व्याख्या में लिखा है—

कुणरवाडवस्त्वाह—नैव वहीनरः, कस्तर्हि ? विहीनर एषः। विहीनो नरः कामभोगाभ्याम्। विहीनरस्यापत्यं वैहीनरिः।

अर्थात् वैहीनरि की प्रकृति, वहीनर नहीं, विहीनर है। कामभोग से रहित=विहीनर का पुत्र वैहीनरि है।

उपर्युक्त वार्तिक में निर्दिष्ट वहीनर, उदयनपुत्र नहीं हो सकता है, क्योंकि उदयनपुत्र वहीनर के पतञ्जलि से पूर्ववर्त्ती होने के कारण निश्चय ही उन्हें उदयनपुत्र का वास्तविक नाम ज्ञात रहा होगा। ऐसी अवस्था में वे कुणरवाडव की व्युत्पत्ति को कभी स्वीकार न करते। कुणरवाडव के मतानुसार वैहीनरि का पिता ऋषि था, राजा नहीं। एक ही वैहीनरि पद की व्युत्पत्ति वार्तिकार ने 'वहीनर' पद से और कुणरवाडव ने 'विहीनर' पद से दर्शायी है। इससे प्रतीत होता है कि वहीनर और विहीनर दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। वहीनर वास्तविक नाम था और विहीनर उपर्युक्त निर्देशानुसार औपाधिक। जिस प्रकार व्यासपुत्रशुक के लिए वैयासकि पद का सम्बन्ध वार्तिककार ने व्यास से जोड़ कर अकङ् का विधान किया उसी प्रकार वैहीनरि का भी वहीनर से सम्बन्ध व्यक्त करके इत्व का विधान किया। परन्तु जैसे पतञ्जलि ने वैयासकि की मूल प्रकृति **व्यासक** बतायी उसी प्रकार कुणरवाडव ने भी वैहीनरि की मूल प्रकृति विहीनर है, इस ओर संकेत किया।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि वार्तिककार कात्यायन और कुणरवाडव दोनों उदयन पुत्र वहीनर से अर्वाचीन नहीं हो सकते।

वररुचि कात्यायन का वर्तिक पाठ

कात्यायन का वार्तिक पाठ, पाणिनीय व्याकरण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अङ्ग है। इसके विना पाणिनीय व्याकरण अधूरा रहता है पतञ्जलि

का महाभाष्य कात्यायनीय वार्तिकों के आधार पर ही रचा गया है। कात्यायन का वार्तिकपाठ सम्प्रति स्वतन्त्ररूप में उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य से भी कात्यायन के वार्तिकों की निश्चत संख्या की प्रतीति नहीं होती क्योंकि उसमें बहुत स्थलों पर अन्य वर्तिककारों के वचन भी प्रायः नामनिर्देश के विना संगृहीत हैं।

प्रथम वार्तिक—आधुनिक वैयाकरण **'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे'** को कात्यायन का प्रथम वार्तिक समझते हैं। यह उनकी भूल है और इस भूल का कारण है, महाभाष्य के निम्न वचन में प्रयुक्त आदि पद को मुख्यार्थ का वाचक समझ बैठना—

माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्द-मादितः प्रयुङ्क्ते।

महाभाष्य के इस प्रकार के अनेक उद्धरणों में आदि, मध्य और अन्त शब्द मुख्यार्थ में नहीं अपितु सामीप्यादि सम्बन्ध द्वारा लक्षणार्थ में प्रयुक्त हुए है, यह ज्ञातव्य है। यहाँ भी 'आदि' पद मुख्यार्थ का वाचक नहीं है। कात्यायन का प्रथम वार्तिक, उक्त वार्तिक से पूर्व पाठित **'रक्षोहागमलध्व-सन्देहाः प्रयोजनम्'** है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१. सायण ने ऋग्भाष्य की भूमिका में लिखा है—

तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम् इति। एतानि रक्षादीनि प्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि।

अर्थात् वररुचि (कात्यानन) ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन **'रक्षो-हागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्'** वार्तिक में दर्शाये हैं।

२. व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का अन्याख्यान करके पतञ्जलि ने लिखा—

एवं विप्रनिपन्नबुद्धिभ्योऽध्योऽयेतृभ्यः सुहृद् भूत्वाऽऽचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे, इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणम् इति।

यहाँ आचार्यपद निश्चय ही कात्यायन का वाचक है 'इदंशास्त्रम्' का अर्थ प्रयोजनान्वाख्यान शास्त्र ही है। कैयट ने भी लिखा हैं—

इदंशास्त्रमिति-प्रोजनान्वाख्यानमित्यर्थः। (महाभाष्यप्रदीप,१।१।१)

३. महाभाष्य के इस प्रकरण की तुलना **क्ङिति च'** (१।१।५) सूत्र के माहाभाष्य से करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि रक्षादि पाँच प्रयोजन वार्तिक-

कार कथित है, और 'इमानि च भूयः' वाक्य-निर्दिष्ट तेरह प्रयोजन भाष्यकार द्वारा प्रतिपादित है। इसलिए कात्यायन के वार्तिक पाठ का आरम्भ—**रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्**' से ही होता है।

डॉ० सत्याकाम वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव एवं विकास' में पृष्ठ १८० पर लिखा है—'परम्परा से कात्यायन प्रणीत रूप में मान्य '**सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे**' पर श्री मीमांसक जी आपत्ति उठाते हैं कि यह वार्तिक कात्यायन का नहीं है और '**यथा लौकिकवैदिकेषु**' को वे कात्यायन का प्रथम वार्तिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।''

मीमांसक जी के ग्रन्थ का उक्त प्रकरण देखने स्पष्ट ज्ञात होता है कि वहाँ मीमांसक जी ने '**सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे**' वार्तिक कात्यायन का नहीं है—ऐसा कहीं नहीं लिखा है। उन्होंने इतना ही निर्देश किया है कि 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' कात्यायन का **प्रथम** वार्तिक नहीं है। अपितु उससे पूर्व पठित '**रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्**' प्रथम वार्तिक है। '**यथा लौकिकवैदिकेषु**' वार्तिक को मीमांसक जी ने कहीं भी प्रथम वार्तिक सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया है। श्री वर्मा जी के ग्रन्थ में कई स्थलों पर मीमांसक जी के नाम से इस प्रकार की मिथ्या बातें लिखी मिलती हैं।

महाभाष्यस्थ वार्तिक

यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि महाभाष्य में प्रधानतया कात्यायन के वार्तिकों का उल्लेख है, तथापि उसमें अन्य वार्तिककारों के भी वार्तिक उद्धृत हैं। कुछ वार्तिकों के रचयिताओं के नाम महाभाष्य से विदित हो जाते हैं, अनेक वार्तिकों के रचयिताओं के नाम महाभाष्य में नहीं लिखे गये हैं। इन सब वार्तिकों के अतिरिक्त महाभाष्य में ऐसे वचनों का भी संग्रह है जो वार्तिक प्रतीत होते हैं परन्तु वार्तिक नहीं हैं। पतञ्जलि ने अन्य व्याकरणों से उन-उन नियमों का संग्रह किया है, कहीं उन पूर्वाचार्यों के शब्दों में और कहीं कुछ शब्दान्तर से।

कात्यायन की अन्य कृतियाँ

१. स्वर्गारोहण काव्य—महाभाष्य में वाररुच काव्य का उल्लेख मिलता है। यह तो सर्वविदित ही है कि वररुचि कात्यायन गोत्र के होने से कात्यायन भी कहे जाते हैं। महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित के मुनिकविवर्णन में वररुचि और कात्यायन नाम से एक ही व्यक्ति का स्मरण करते हुए वार्तिककार और 'स्वर्गारोहण' काव्य का कर्ता कहा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ॥

न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरित वार्तिकैर्यः ।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः ॥

इनके 'स्वर्गारोहण' काव्य का उल्लेख जल्हणकृत सूक्तिमुक्तावली में भी मिलता है । उसमें राजशेखर के नाम से निम्न श्लोक उद्धृत है—

यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह ।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः (स्वर्गारोहणप्रियः) ॥

वररुचि के अनेक श्लोक शार्ङ्गधर पद्धति, सदुक्तिकर्णामृत और सुभाषितमुक्तावली आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं ।

२. **भ्राजसंज्ञक श्लोक**—इन श्लोकों का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है । कैयट आदि टीकाकारों का मत है कि ये श्लोक वार्तिककार कात्यायन के रचे हैं । ये श्लोक इस समय अप्राप्य हैं ।

३. **छन्दःशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र**—कात्यायन ने कोई छन्दःशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र का ग्रन्थ भी लिखा था । अभिनवगुप्त ने भरतनाट्यशास्त्र की टीका में लिखा है—

यथोक्तं कात्यायनेन—
वीरस्य भुजदण्डानां वर्णने स्रग्धरा भवेत् ।
नायिकावर्णनं कार्यं वसन्ततिलकादिकम् ।
शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे ॥

४. **स्मृति**—षड्गुरुशिष्य ने कात्यायन स्मृति और भ्राजसंज्ञक श्लोकों का कर्त्ता वार्तिककार को माना है ।[1] सम्प्रति उपलब्ध कात्यायन स्मृति अर्वाचीन प्रतीत होती है । इसका मूल कोई प्राचीन कात्यायन स्मृति रही होगी ।

५. **सामुद्रिक ग्रन्थ**—रामायण की विभिन्न टीकाओं में कात्यायन के सामुद्रिकशास्त्र सम्बन्धी उद्धृत वचन मिलते हैं । इससे विदित होता है कि वररुचि कात्यायन ने सामुद्रिकशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ रचा था ।

६ **उभयसारिकाभाण**—मद्रास से प्रकाशित चतुर्भाणी में वररुचिमुनिकृत 'उभयसारिका' नामक एक भाण छपा है । '**प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः**' नियम

---

१. स्मृतेश्चकर्ता श्लोकानां भ्राजनाम्नां च कारकः । निदान सूत्र की भूमिका पृष्ठ २७ पर उद्धृत ।

के अनुसार वार्तिककार वररुचि की कृति में लक्षित प्रयोगों का बाहुल्य होना चाहिए। इसमें लक्षित प्रयोग अत्यल्प हैं, अन्य प्रयोगों का बाहुल्य है। अतः यह वार्तिककार वररुचि की कृति नहीं प्रतीत होती। 'अन्यप्रयोगलक्ष्य-जीवन्या' के अनुसार इसका रचयिता कोई औदीच्य कवि है। सम्भव है, यह विक्रमसमकालिक वररुचि कवि की कृति हो।

आफ्रेक्ट कृत बृहत् हस्तलेख-सूचीपत्र में कात्यायन और वररुचि के नाम से अनेक ग्रन्थ उद्धृत हैं। उनमें से कितने ग्रन्थ वार्तिककार कात्यायन कृत हैं, यह अभी निश्चेतव्य है। उनमें अधिक ग्रन्थ विक्रमकालीन वररुचिकृत प्रतीत होते हैं।

२. भारद्वाज

भारद्वाज के वार्तिकों का महाभाष्य में अनेकत्र उल्लेख मिलता है। इन वार्तिकों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि भारद्वाजीय वार्तिक पाणिनि की अष्टाध्यायी पर ही रचे गये थे। भारद्वाजीय और कात्यायनीय वार्तिकों की परस्पर तुलना करने से विदित होता है कि भारद्वाजीय वार्तिक, कात्यायनीय वार्तिकों से कुछ विस्तृत थे। इन भारद्वाजीय वार्तिकों का रचयिता कौन भारद्वाज है, यह ज्ञात नहीं है।

३. सुनाग

महाभाष्य में बहुत्र सौनाग वार्तिक उद्धृत हैं। हरदत्त के लेखानुसार इन वार्तिकों के रचयिता का नाम सुनाग था।[1] कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप (२।२।१८) से विदित होता है कि सुनाग आचार्य कात्यायन से अर्वाचीन हैं।[2]

महाभाष्य (४।३।११५) से प्रतीत होता है कि सौनाग वार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी पर रचे गये थे। पतञ्जलि लिखते हैं—**'इह हि सौनागाः पठन्ति—सुमनसामकृतप्रसंगः।'** इस पर कैयट लिखते हैं—**पाणिनीयलक्षणे दोषोद्भावनमेतत्।**

इसी प्रकार पतञ्जलि ने **'ओमाङोश्च'** सूत्रस्थ चकार का प्रत्याख्यान करके लिखा है— **एवं हि सौनागाः पठन्ति—चोऽनर्थकोऽधिकाराद्वेः।**

श्री पं० गुरुपदहालदार ने सुनाग को पाणिनि से पूर्ववर्ती माना है। उनका मत चिन्त्य है। उन्होंने सुनाग को नागवंशीय लिखा है जो सम्भवतः नाम-सादृश्यमूलक है।

---

१. सुनागस्याचार्यस्य शिष्याः सौनागाः। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ७६१।
२. कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः।

सौनाग वार्तिक, कात्यायनीय वार्तिकों से अत्यधिक विस्तृत थे, ऐसा महाभाष्य से विदित होता है। महाभाष्य में अनेक स्थानों पर **'अत्यल्पमिद-मुच्यते'** लिखकर कात्यायनीय वार्तिकों से विस्तृत वार्तिक उद्धृत हैं। महाभाष्य (३।२।५६ तथा ४।१।८७) में ऐसे वार्तिकों को सौनागों का वार्तिक कहा है। विस्तृत होने के ही कारण वैयाकरण-निकाय में सौनाग वार्तिक महा-वार्तिक नाम से प्रसिद्ध हैं। महाभाष्य (४।२।६५) में महावार्तिक के अध्येताओं के लिए प्रयुज्यमान **माहावार्तिक** पद का निर्देश मिलता है। महाभाष्य (२।१।५१) में पठित एक वार्तिक, शृङ्गारप्रकाश (पृष्ठ २६) में महा-वार्तिककार के नाम से उद्धृत है।

महाभाष्य के अतिरिक्त भर्तृहरि की महाभाष्य टीका, काशिका, भाषा-वृत्ति, क्षीरतरङ्गिणी और धातुवृत्ति आदि अनेक ग्रन्थों में सौनागों के मत उद्धृत हैं।

४. क्रोष्टा

इस आचार्य के वार्तिक का उल्लेख महाभाष्य (१।१।३) में मिलता है। उससे यह भी विदित होता है कि क्रोष्ट्रीय वार्तिक पाणिनि की अष्टायायी पर ही थे। क्रोष्ट्रीय वार्तिकों का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

५. बाडव

महाभाष्य (८।२।१०६) में लिखा है—**अनिष्टिज्ञो बाडवः पठति।** नागेशभट्ट ने इस पर महाभाष्यप्रदीपोद्योत में लिखा है—**सिद्धं त्विदितोरिति वार्तिकं बाडवस्य।**

इससे अधिक इस वार्तिककार के सम्बन्ध में ज्ञात नहीं है।

महाभाष्य (३।२।१४ तथा ७।३।१) में कुणरवाडव के मत उद्धृत हैं। **'पदेषु पदैकदेशान्'** नियम से बाडव और कुणरवाडव दोनों एक हैं अथवा दोनों भिन्न-भिन्न हैं, यह विचारणीय है।

६. व्याघ्रभूति

महाभाष्य में व्याघ्रभूति का साक्षात् उल्लेख नहीं है। महाभाष्य (२।४।३६) में उद्धृत **'जग्धिविधिर्ल्यपि'** इत्यादि एक श्लोक वार्तिक है जिसे कैयट व्याघ्रभूतिरचित मानते हैं।

काशिका में उद्धृत एक श्लोक को कातन्त्रवृत्तिपञ्जिकाकार त्रिलोचन-दास ने व्याघ्रभूति के नाम से उद्धृत किया है—

तथा च व्याघ्रभूतिः—सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तमिति।

सुपद्ममकरन्दकार भी इसे व्याघ्रभूति का वचन मानते हैं, जब कि न्यासकार इसे आगम वचन लिखते हैं।

काशिका (७।२।१०) में उद्धृत अनिट् कारिकाएँ भी व्याघ्रभूति विरचित मानी जाती हैं। पं० गुरुपदहालदार के मतानुसार व्याघ्रभूति आचार्य पाणिनि के साक्षात् शिष्य थे।

७. वैयाघ्रपद्य

आचार्य वैयाघ्रपद्य का नाम उदाहरण रूप में महाभाष्य में बहुधा उद्धृत है। वैयाघ्रपद्य का परिचय व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ता के रूप में तृतीय अध्याय में दिया जा चुका है।

काशिका (८।२।१) पर '**शुष्किका शुष्कजङ्घा च**' एक कारिका उद्धृत है जिसे भट्टोजिदीक्षित ने (शब्दकौस्तुभ १।१।५६ में) वैयाघ्रपद्य-विरचित वार्तिक लिखा है। यदि भट्टोजिदीक्षित का मत ठीक हो और उक्त कारिका अष्टाध्यायी (८।२।१) का प्रयोजन-निदर्शक वार्तिक ही हो, तो निश्चय ही ये वैयाघ्रपद्य व्याकरणकार वैयाघ्रपद्य से भिन्न और पाणिनि से अर्वाचीन होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कारिका वैयाघ्रपद्य के व्याकरण की है, परन्तु पाणिनीय सूत्र के साथ भी संगत होने से प्राचीन वैयाकरणों ने इसका सम्बन्ध 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) सूत्र से जोड़ दिया। महाभाष्य में यह कारिका नहीं है। अथवा दो वैयाघ्रपद्य मानने होंगे—एक व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता और दूसरा वार्तिककार।

महाभाष्य में स्मृत अन्य वैयाकरण

उपर्युक्त वार्तिककारों के अतिरिक्त निम्न वैयाकरणों के मत महाभाष्य में उद्धृत हैं :—

१. गोनर्दीय, २. गोणिकापुत्र, ३. सौर्य भगवान्, ४. कुणरवाडव, ५. भवन्तः ?

१. गोनर्दीय

गोनर्दीय आचार्य के मत महाभाष्य में चार स्थलों पर उद्धृत हैं। गोनर्दीय नाम देशनिमित्तक है। इससे विदित होता है कि गोनर्दीय आचार्य गोनर्द देश के निवासी थे। इनका वास्तविक नाम क्या था, यह अज्ञात है।

वर्तमान गोण्डा जिला (उत्तर प्रदेश) सम्भवत: प्राचीन गोनर्द है। काशिका (१।१।७५) में गोनर्द को प्राच्य देश लिखा है। कुछ लोग गोनर्द को काश्मीर में मानते हैं। काश्मीर के प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ राजतरङ्गिणी में गोनर्द नामक तीन राजाओं का उल्लेख है। सम्भव है किसी गोनर्द राजा के सम्बन्ध से काश्मीर का कोई प्रान्त भी गोनर्द नाम से प्रसिद्ध रहा हो किन्तु गोनर्दीय आचार्य प्राच्य गोनर्द के निवासी थे। ऐसा मानने पर ही गोनर्द शब्द को **'एङ प्राचां देशे'** सूत्र से वृद्ध संज्ञा होकर 'वृद्धाच्छः' सूत्र से छ=(ईय) प्रत्यय सम्भव है।

गोनर्दीय और पतञ्जलि

भर्तृहरि, कैयट, राजशेखर आदि गोनर्दीय को पतञ्जलि का पर्याय मानते हैं। वैजयन्ती-कोषकार ने भी इस नाम को पतञ्जलि का पर्याय लिखा है। किसी गोनर्दीय आचार्य का मत वात्स्यायन कामसूत्र में मिलता है। डॉ० कीलहार्न गोनर्दीय आचार्य को पतञ्जलि से भिन्न मानते हैं।

महाभारतान्तर्गत शिवसहस्रनाम में शिव को गोनर्द भी कहा गया है। यदि यह सिद्ध हो जाय कि पतञ्जलि शैवसम्प्रदाय के आचार्य थे तो पतञ्जलि के लिए गोनर्दीय शब्द का व्यवहार सम्भव है और गोनर्द शब्द से **'वा नामधेयस्य'** (१।१।७३) वार्तिक से वृद्धसंज्ञा होकर छ प्रत्यय होकर गोनर्दीय शब्द उपपन्न हो सकता है। परन्तु महाभाष्य में उनके शैव सम्प्रदाय का आचार्य होने का किंचिन्मात्र भी संकेत उपलब्ध नहीं है। अत: गोनर्दीय आचार्य महाभाष्यकार पतञ्जलि से सर्वथा भिन्न हैं।

यदि कोशकारों के वचन को प्रामाणिक माना जाय तो गोनर्दीय, महाभाष्यकार पतञ्जलि न होकर निदान सूत्रकार पतञ्जलि ही हो सकता है। नाम साम्य के कारण कैयट आदि को भ्रम हो गया।

२. गोणिकापुत्र

गोणिकापुत्र आचार्य का मत महाभाष्य (१।४।५१) में उद्धृत है–**उभयथा गोणिकापुत्र इति**' इस पर नागेश लिखते हैं–**गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः**। 'आहुः' पद बता रहा है कि नागेश स्वयम् इस मत को नहीं मानते। वात्स्यायन कामसूत्र में गोणिकापुत्र का भी उल्लेख मिलता है। कोशकारों ने पतञ्जलि के पर्यायों में इस नाम को नहीं पढ़ा है अत: निश्चय ही गोणिकापुत्र आचार्य पतञ्जलि से भिन्न हैं।

३. सौर्य भगवान्

महाभाष्य में केवल एक स्थल पर इनका मत उद्धृत है। कैयट इन्हें **'सौर्य'** नामक नगर का निवासी कहते हैं। 'सौर्य' नगर का उल्लेख काशिका (२।४।७) में है। इनके नाम के साथ भगवान् शब्द का प्रयोग इनकी प्रामाणिकता का द्योतक है। पतञ्जलि के लेख से विदित होता कि ये आचार्य बाडव से अर्वाचीन हैं।

४. कुणरवाडव

कुणरवाडव अचार्य का मत महाभाष्य में दो स्थलों पर उद्धृत है। कुणरवाडव और बाडव दोनों एक हैं या भिन्न-भिन्न, यह निरूपेतव्य है।

५. भवन्तः ?

महाभाष्य (३।१।८) में लिखा है—**इह भवन्तस्त्वाहुः—न भवितव्यमिति।** यहाँ पतञ्जलि ने 'भवन्तः' पद से किस आचार्य या आचार्यों का स्मरण किया है, यह अज्ञात है।

इनके अतिरिक्त 'अन्ये', 'अपरे' आदि शब्दों से भी अनेक अचार्यों के मत उद्धृत हैं जिनके नाम अज्ञात हैं।

नवम अध्याय

वार्तिकों के भाष्यकार

जिस ग्रन्थ में सूत्रार्थ, सूत्रानुसारी वाक्यों (वार्तिकों) तथा अपने पदों का व्याख्यान किया जाता है, उसे भाष्य कहते हैं—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्वविदो विदुः ॥
(विष्णुधर्मोत्तर, तृतीय खण्ड, चतुर्थाध्याय)।

महाभाष्य से पूर्व अनेक भाष्यग्रन्थ

महाभाष्य से पूर्व, वार्तिकों पर अनेक भाष्यग्रन्थ लिखे गये थे—ऐसा महाभाष्य के अवलोकन से विदित होता है तथा अन्य प्रमाण भी हैं—

१. महाभाष्य में दो स्थानों पर लिखा है—**उक्तो भावभेदो भाष्ये** (३।३।१९॥ ३।४।६७॥) इस पर कैयट आदि टीकाकार लिखते हैं कि यहाँ 'भाष्य' पद से **'सार्वधातुके यक्'** (३।१।६७) सूत्र के महाभाष्य की ओर संकेत करते हैं, परन्तु उक्त वाक्य की तुलना **'संग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्, संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे'** इत्यादि महाभाष्यस्थ वचनों से की जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य में 'संग्रह' के समान किसी प्राचीन भाष्यग्रन्थ की ओर पतञ्जलि का संकेत है। अन्यथा पतञ्जलि अपनी शैली के अनुसार **'उक्तो भावभेदो भाष्ये'** न लिखकर **'उक्तम्'** शब्द से संकेत करते ।

२. भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की (२।४२) की स्वोपज्ञव्याख्या में भाष्य के नाम से एक लम्बा पाठ उद्धृत किया है जो पातञ्जल महाभाष्य में नहीं मिलता है। अतः स्पष्ट है कि भर्तृहरि को वहाँ 'भाष्य' पद से कोई प्राचीन भाष्यग्रन्थ अभिप्रेत है ।

३. क्षरीतरङ्गिणी में क्षीरस्वामी ने लिखा है—**भाष्ये नत्वं नेष्यते** ।, किन्तु यह मत महाभाष्य में नहीं मिलता ।

४. महाभाष्य शब्द में **'महत्'** विशेषण इस बात का द्योतक है कि उससे पूर्व कोई भाष्यग्रन्थ विद्यमान था। अन्यथा **'महत्'** विशेषण व्यर्थ है ।

५. वार्तिकों पर सीधे भाष्यग्रन्थ लिखे जाने के कारण वार्तिकों को 'भाष्यसूत्र' कहते हैं। वार्तिकों के लिए व्यवहृत 'भाष्यसूत्र' नाम इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि वार्तिकों पर अनेक भाष्यग्रन्थ रचे गये थे।

अनेक भाष्यकार

महाभाष्य में अनेक स्थलों पर 'अपर आह' लिखकर वार्तिकों की दो-दो, तीन-तीन विभिन्न व्याख्याएँ उद्धृत की गयी हैं। इससे व्यक्त होता है कि महाभाष्य से पूर्व वर्तिकों पर अनेक व्याख्याएँ लिखी जा चुकी थीं। केवल कात्यायन के वार्तिक पाठ पर कम से कम तीन व्याख्याएँ महाभाष्य से पूर्व अवश्य विद्यमान थीं। इसी प्रकार भारद्वाज, सुनाग आदि के वार्तिकों पर भी अनेक भाष्यग्रन्थ लिखे गये होंगे। ये प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ सम्प्रति सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। इन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम तक का भी पता नहीं है। भर्तृहरि भी अनेक भाष्यों और भाष्य प्रणेताओं की सूचना देते हैं—

सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः। (वाक्यपदीय, ब्रह्म-काण्ड, २३)

महाभाष्य की रचना के अनन्तर भी कई विद्वानों ने वार्तिकों पर व्याख्याएँ लिखीं। उनमें से केवल तीन व्याख्याकारों का ज्ञान है।

१. हेलाराज

हेलाराज ने वार्तिक पाठ पर 'वार्तिकोन्मेष' नाम्नी एक व्याख्या लिखी थी, ऐसा उनकी वाक्यपदीय की टीका से विदित होता है। हेलाराज का विशेष वर्णन उनतीसवें अध्याय में देखिए।

२. राघवसूरि

राघवसूरि ने वार्तिकों की 'अर्थप्रकाशिका' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इनका काल अज्ञात है।

३. राजरुद्र

राजरुद्र ने काशिका वृत्ति में उद्धृत श्लोक वार्तिकों की व्याख्या लिखी है। इनका भी काल अज्ञात है।

दसवाँ अध्याय

महाभाष्यकार पतञ्जलि (२००० वि० पू०)

महाभाष्यकार पतञ्जलि का महाभाष्य उनकी एक उच्चतम कृति है जो अपनी महत्ता के कारण अद्वितीय है। यह पाणिनीय व्याकरण की वह उत्कृष्ट-तम व्याख्या है जो व्याकरण जैसे दुरूह एवं शुष्क समझे जाने वाले विषय को सरस रूप में हृदयङ्गम कराने में पूर्ण सफल सिद्ध हुई है। उसकी भाषा की सरलता एवं प्राञ्जलता पर सभी विद्वान् मुग्ध हो उसके रचना-सौष्ठव की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। पाणिनीय व्याकरण के इस प्रामाणिक ग्रन्थ के सम्मुख सभी वैयाकर नतमस्तक हैं। यह केवल व्याकरण सम्प्रदाय में ही नहीं, अपितु सकल संस्कृत वाङ्मय में अपने ढङ्ग का एक अद्भुत ग्रन्थ है।

परिचय

नामान्तर—विभिन्न ग्रन्थों में पतञ्जलि को **गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृत, शेषराज, शेषाहि, चूर्णिकार** और पदकार नामों से स्मरण किया है।

गोनर्दीय—यादव प्रकाश आदि कोशकारों ने इस नाम को पतञ्जलि का पर्याय लिखा है। महाभाष्य में चार स्थलों पर 'गोनर्दीय' आचार्य के मत उद्धृत हैं। भर्तृ हरि और कैयट आदि टीकाकारों के मत में यहाँ गोनर्दीय का अर्थ पतञ्जलि है। किसी गोनर्दीय आचार्य का मत वात्स्यायन कामसूत्र में भी मिलता है।

डॉ० कीलहार्न का मत है कि गोनर्दीय और महाभाष्यकार पतञ्जलि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

गोनर्दीय शब्द में विद्यमान तद्धित प्रत्यय स्पष्ट है कि गोनर्दीय आचार्य गोनर्द का निवासी है। गोनर्द देश वर्तमान गोण्डा जिले के आसपास का प्रदेश है। एक गोनर्द काश्मीर में भी है। परन्तु गोनर्दीय को पतञ्जलि का पर्याय मानने पर उन्हें प्राग्देशवासी मानना होगा क्योंकि गोनर्दीय पद में गोनर्द की **'एङ्प्राचां देशे'** से वृद्ध संज्ञा होकर छ प्रत्यय होता है। गोनर्द शिव का नाम है, उससे भी गोनर्दीय शब्द उपपन्न हो सकता है परन्तु महाभाष्यकार के शैव होने का कोई संकेत कहीं से नहीं मिलता। अतः गोनर्दीय, महाभाष्यकार

पतञ्जलि से भिन्न व्यक्ति है। महाभाष्यकार प्राच्यदेशान्तर्गत गोनर्द के नहीं हैं, वे कश्मीर के हैं।

महाभाष्य (३।२।११४) में **अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः, तत्र सक्तून् पास्यामः'** इत्यादि उदाहरणों में **असकृत् कश्मीरगमन** का उल्लेख मिलता है। इन उदाहरणों के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि पतञ्जलि की जन्म भूमि कश्मीर थी। महाभाष्य (३।२।१२३) से प्रतीत होता है कि पतञ्जलि अधिकतर पाटलिपुत्र में रहते थे। महाभाष्य के विविध निर्देशों से यह भी व्यक्त होता है कि पतञ्जलि मथुरा, साकेत, कौशाम्बी और पाटलिपुत्र आदि से भली भाँति परिचित थे। अतः पतञ्जलि की जन्मभूमि सन्दिग्ध है फिर भी कश्मीर के राजा अभिमन्यु और जयापीड के द्वारा महाभाष्य का पुनः पुनः उद्धार कराया जाना व्यक्त करता है कि पतञ्जलि का कश्मीर से कोई विशिष्ट सम्बन्ध था।

(डॉ० सत्यकाम वर्मा अपने 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' ग्रन्थ में बेवर और गोल्डस्टुकर के मत को समीचीन मानते हुए महाभाष्य (३।२।११४) के कश्मीर सम्बन्धी उद्धरण के आधार पर पाश्चात्यमतानुसार महाभाष्यकार को कश्मीर का अस्थायी निवासी और पाटलिपुत्र में सुदीर्घनिवास एवं व्याकरण की पूर्वीय शाखा से निकट परिचय के आधार अर प्राची से सम्बद्ध मानकर महाभाष्यकार और गोनर्दीय को अभिन्न कहते हैं)।[१]

गोणिकापुत्र—पतञ्जलि ने महाभाष्य (१।४।५१) में लिखा है—**उभयथा गोणिकापुत्र इति**। इस पर नागेश लिखते हैं—**गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः**। 'आहुः' पद से प्रतीत होता है कि यद्यपि अनेक प्राचीन टीकाकार गोणिकापुत्र का अर्थ यहाँ पतञ्जलि समझते थे किन्तु नागेश स्वयं इस मत को नहीं मानते हैं। गोणिकापुत्र का पुत्र भी पतञ्जलि से भिन्न व्यक्ति है। कोशकारों ने भी पतञ्जलि के पर्यायों में इस नाम को नहीं पढ़ा है।

(डॉ० सत्यकाम वर्मा 'गोणिकापुत्र' नाम भी अन्य आचार्यों के कथनानुसार पतञ्जलि के लिए ही व्यवहृत हुआ मानते हैं)।[२]

नागनाथ—कैयट ने महाभाष्य (४।२।६३) की व्याख्या में पतञ्जलि के लिए नागनाथ नाम का प्रयोग किया है।

---

१. पृष्ठ १६३-१६४। २. वही पृष्ठ १६४।

अहिपति––चक्रपाणि ने चरकटीका के प्रारम्भ में अहिपति नाम से पतञ्जलि को नमस्कार किया है।

शेषराज—अमरचन्द्र सूरि ने हैम-बृद्वृत्त्यवचूर्णि में महाभाष्य का एक पाठ शेषराज के नाम से उद्धृत किया है।

शेषाहि–– बल्लभदेव ने शिशुपालवध (२।११२) की टीका में पतञ्जलि को शेषाहि नाम से स्मरण किया है।

चूर्णिकार—भर्तृहरि ने महाभाष्य दीपिका में तीन बार चूर्णिकार पद से पतञ्जलि का उल्लेख किया है। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में महाभाष्य (१।४।२१) का वचन चूर्णिकार के नाम से उद्धृत है। स्कन्द-स्वामी ने निरुक्त (३।१६) की व्याख्या में चूर्णिकार के नाम से महाभाष्य (१।१।५७) का पाठ उद्धृत किया है।

क्षीरस्वमी ने अमर टीका में चूर्णि और भाष्य को पर्याय माना है।[१] **इत्सिंग** ने महाभाष्य का नाम 'चूर्णि' बताया है।

पदकार––आचार्य पतञ्जलि के लिए 'पदकार' पद का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। स्कन्दस्वामी, उव्वट, आत्मानन्द, भामह और क्षीर-स्वामी आदि ने इसी नाम से पतञ्जलि को स्मरण किया है।

इन नामों क अतिरक्त **अनुपदकार** और पदशेषकार नाम भी पतञ्जलि के लिए विभिन्न ग्रन्थों में प्रयुक्त मिलते हैं।

पतञ्जलि को पदकार क्यों कहते हैं? इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। महाभाष्य में पाणिनीय सूत्रों के प्रायः प्रत्येक पद पर विचार किया है। सम्भव है, इसलिए महाभाष्यकार को पदकार कहा जाता हो। बल्लभदेव ने शिशुपालवध के अनुत्सूत्रपदन्यासा इत्यादि (२।११२) श्लोक की व्याख्या में लिखा है—**पदं शेषाहिविरचितं भाष्यम्।** किन्तु 'पद' का अर्थ उन्होंने पतञ्जलिविरचित भाष्य किस आधार पर किया, यह अज्ञात है।

अनेक पतञ्जलि

पतञ्जलि कृत तीन ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं––सामवेदीय निदानसूत्र, योगसूत्र और महाभाष्य।

इनके अतिरिक्त सामवेद की पातञ्जलशाखा का भी निर्देश कई ग्रन्थों में मिलता है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में एक पतञ्जलि का मत उद्धृत है।

---

१. भाष्यं चूर्णिः ।३।५।३१ ।। पृष्ठ ३५३ ।

सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में पतञ्जलि के सांख्यसिद्धान्त-विषयक अनेक मत उद्धृत हैं। आयुर्वेद की चरकसंहिता भी पतञ्जलि द्वारा परिष्कृत मानी जाती है। समुद्रगुप्त के कृष्णचरित के अनुसार पतञ्जलि ने चरक में कुछ धर्माविरुद्धयोगों का सन्निवेश किया।

चक्रपाणि, पुण्यराज और भोजदेव आदि, महाभाष्य योगसूत्र और चरक संहिता इन तीनों का कर्ता एक मानते हैं।

मैक्समूलर द्वारा उद्धृत षड्गुरुशिष्य के '**योगाचार्यः स्वयंकर्ता योगशास्त्र निदानयोः**' पाठ के अनुसार योगदर्शन और निदानसूत्र का कर्ता एक व्यक्ति है।

महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित की प्रस्तावना में लिखा है—'महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि ने चरक में धर्मानुकूल कुछ योगों का सन्निवेश किया और योग-विभूति-निदर्शक योगव्याख्यानभूत 'महानन्द काव्य रचा।'

समुद्रगुप्त के इस वर्णन से स्पष्ट है कि चक्रपाणि आदि ग्रन्थकारों का लेख सर्वथा काल्पनिक नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का चरकसंहिता और योगदर्शन के साथ कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

पातञ्जलशाखा, निदान सूत्र और योगदर्शन का रचयिता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति है, यह अति प्राचीन ऋषि है। आङ्गिरस पतञ्जलि का उल्लेख मत्स्यपुराण (१९५।१५) में मिलता है। पाणिनि ने **उपकादिगण** (२।४।६९) में पतञ्जलि पद पढ़ा है। महाभाष्यकार इनसे भिन्न और अर्वाचीन हैं।

महाभाष्यकार का काल

पतञ्जलि का इतिवृत्त अन्धकारावृत है। पतञ्जलि के कालनिर्णय में महाभाष्य में उपलब्ध सहायक सामग्री इस प्रकार है—

१. अनुशोणं पाटलिपुत्रम्।(२।१।१५ ॥)

२. जेयो वृषलः। (१।१।५० ॥)

३. काण्डीभूतं वृषलकुलम्। कुडचीभूतं वृषलकुलम्। (६।३।६१ ॥)

४. मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। (५।३।९९ ॥)

५. अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्। (३।२।१११)

६. पुष्यमित्रसभा, चन्द्रगुप्तसभा। (१।१।६८ ॥)

७. महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणवाः। एष प्रयोग उपपन्नो भवति (७।२।२३ ॥)

८. इह पुष्यमित्रं याजयामः । (३।२।१२३ ॥)

९. पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति । (३।१।२६ ॥)

१०. यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत् । यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत् । (३।३।१४७ ॥)

इन उद्धरणों से निम्न परिणाम निकलते हैं—

१. प्रथम उद्धरण में पाटलिपुत्र का उल्लेख है । इसका नाम महाभाष्य में अनेक बार आया है । वायुपुराण (९९।३१८) के अनुसार महाराज उदयी ने गंगा के दक्षिण कूल पर कुसुमपुर बसाया था । आधुनिक ऐतिहासिकों का मत है कि कुसुमपुर पाटलिपुत्र का ही नामान्तर है । अतः उनके मत में **महाभाष्यकार महाराज उदयी से अर्वाचीन हैं ।**

२. संख्या २, ३ में वृषल और वृषलकुल का निर्देश है । संख्या २ में वृषल को 'जीतने योग्य' कहा है और संख्या ३ में किसी महान् वृषलकुल के, कुड्य के समान अति संकीर्ण होने का संकेत है । यह वृषलकुल मौर्यकुल है । मुद्राराक्षस में चाणक्य चन्द्रगुप्त को प्रायः 'वृषल' नाम में संबोधित करता है ।

वृषल शब्द का अर्थ—आज-कल लोग वृषल शब्द का अर्थ समझते हैं शूद्र । विश्वप्रकाशकोश में **'वृषलः कथिते शूद्रे चन्द्रगुप्ते च वाजिनि'** लिखा है । अर्थात् वृषल का अर्थ शूद्र, चन्द्रगुप्त और अश्व है ।

वस्तुतः वृषल शब्द 'देवानां प्रियः' के समान द्व्यर्थक है । उसका एक अर्थ पापी और दूसरा धर्मात्मा है । अर्वाचीन ग्रन्थकारों ने मौर्य चन्द्रगुप्त के लिए वृषल शब्द का प्रयोग देख कर 'मुरा' नाम्नी शूद्रा से चन्द्रगुप्त के उत्पन्न होने की कल्पना की है । यह अयुक्त है । मौर्य क्षत्रिय वंश था । व्याकरण के अनुसार मुरा की सन्तति मौरेय कहलायेगी, मौर्य नहीं ।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि महाभाष्य के संख्या २, ३ के उद्धरणों में मौर्य वृहद्रथ समकालिक मौर्यकुल की हीनता का उल्लेख है । संख्या ४ के उद्धरण में स्पष्ट मौर्य शब्द का उल्लेख है । अतः **महाभाष्यकार मौर्यकुल के अनन्तर हुए होंगे ।**

३. संख्या ५ के उद्धरण में अयोध्या और माध्यमिका[1] नगरी पर किसी यवन के आक्रमण का उल्लेख है । गार्गी संहिता के अनुसार इस यवन राज का नाम धर्ममीत था । व्याकरण के नियमानुसार 'अरुणत्' शब्द के प्रयोगकर्ता **भाष्यकार को यवनराज धर्ममीत का समकालिक होना चाहिए ।**

१. यह चित्तौड़गढ़ से ६ मील पूर्वोत्तर दिशा में है । सम्प्रति 'नगरी' नाम से प्रसिद्ध है ।

४. संख्या ६–९ चार उद्धरणों में पुष्यमित्र का उल्लेख है। कई विद्वानों का मत है कि संख्या ८ के उद्धरण में महाभाष्यकार के पुष्यमित्रीय अश्वमेध का ऋत्विक् होने का संकेत है। संख्या १० से इसकी पुष्टि होती है। इसमें क्षत्रिय को यज्ञ कराने की निन्दा की है। पतञ्जलि का यजमान पुष्यमित्र ब्राह्मण वंश का था।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर लोग कह सकते हैं (और कहते भी हैं) कि महाभाष्यकार पतञ्जलि शुङ्गवंश्य महाराज पुष्यमित्र का समकालीन है। पाश्चात्य तथा तदनुयायी भारतीय ऐतिहासिक पुष्यमित्र का काल विक्रम से लगभग १५० वर्ष पूर्व मानते हैं। परन्तु अनेक प्रमाणों से यह मत युक्त नहीं प्रतीत होता। भारतीय पौराणिक कालगणनानुसार पुष्यमित्र का काल विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्व बैठता है।

बाह्य साक्ष्य—आचार्य भर्तृहरि और कल्हण के लेखानुसार चन्द्राचार्य ने विलुप्तप्राय महाभाष्य का पुनरुद्धार किया था। कल्हण के ही लेखानुसार चन्द्राचार्य कश्मीर के नृपति अभिमन्यु के समकालीन हैं। महाराज अभिमन्यु को पाश्चात्य विद्वान् ४२३ ईसा पूर्व से लेकर ५०० ईसा पश्चात् तक विविध कालों में मानते हैं। कल्हण के मतानुसार अभिमन्यु का काल विक्रम से कम से कम १००० वर्ष पूर्व है। भारतीय कालगणना के अनुसार यही काल ठीक है। अतः चन्द्राचार्य का भी काल निश्चित रूप से कम से कम विक्रम से १००० वर्ष पूर्व है। महाभाष्यकार को इससे और भी बहुत पूर्व होना चाहिए।

इस प्रकार महाभाष्यकार को महाराज पुष्यमित्र का समकालीन मान लेने पर भी वे भारतीय गणनानुसार विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्ववर्ती अवश्य हैं।

महाभाष्यकार को पुष्यमित्र का समकालीन मानने में एक कठिनाई भी है। वायुपुराण के अनुसार महाराज उदयी ने गङ्गा के दक्षिणकूल पर कुसुमपुर नगर बसाया था। वही कालान्तर में पाटलिपुत्र के नाम से विख्यात हुआ, ऐसा आधुनिक ऐतिहासिकों का मत है। महाभाष्य (२।१।१५) में लिखा है—**अनुशोणं पाटलिपुत्रम्**। गङ्गा के दक्षिणकूल पर स्थिति होने से ही अनुशोण स्थिति उपपन्न हो सकती है। मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त के समय पाटलिपुत्र की स्थिति अनुगङ्ग कही है, यह अनुगङ्ग स्थिति उत्तरकूल पर थी और इस समय भी ऐसी ही है। यदि महाभाष्यकार को शुङ्गकाल में माना जाये तो उनका पाटलिपुत्र को अनुशोण लिखना उपपन्न नहीं हो सकता।

अनेक पाटलिपुत्र—महाभाष्य (२।१।१) के **'कुतो भवान् पाटलिपुत्रात्'** वचन की व्याख्या में नागेश लिखते हैं—**कस्माद् पाटलिपुत्राद् भवानागत इत्यर्थः, अनेकत्वात् पाटलिपुत्रस्य, तदवयवानां वा प्रश्नः।** इससे सन्देह होता है कि पाटलिपुत्र नाम कदाचित् अनेक नगरों का रहा हो।

पाटलिपुत्र का अनेक बार बसना—पं० सत्यव्रती सामश्रयी के लेखानुसार अजातशत्रु ने शाक्यमुनि के जीवनकाल में सोन के किनारे पाटली ग्राम में दुर्ग निर्माण किया जिसके लिए भगवान् बुद्ध ने भविष्य में प्रधान नगर के होने की भविष्यवाणी की थी। महाराज अजातशत्रु उदयी के पूर्वज हैं। इससे स्पष्ट है कि उदयी द्वारा कुसुमपुर बसाये जाने से पूर्व कोई पाटली ग्राम विद्यमान था।

वस्तुतः पाटलिपुत्र अत्यन्त प्राचीन नगर है। इन्द्रप्रस्थ के समान वह अनेक बार उजड़ा और बसा। पाणिनि से पूर्व भी एक बार वह उजड़ चुका था। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में इसका उल्लेख किया है—

पुरगा नाम काचिद् राक्षसी तया भक्षितं पाटलिपुत्रम्, तस्या निवासः।

अर्थात् किसी पुरगा नाम की राक्षसी ने पाटलिपुत्र को उजाड़ दिया था। यह घटना पाणिनि से प्राचीन है, क्योंकि पाणिनि ने (८।४।४) में **पुरगावण** का साक्षात् उल्लेख किया है। सम्भवतः महाभारत आदि में इसी से पाटलिपुत्र का वर्णन नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र प्राचीन नगर है। वह कई बार उजड़ा और बसा। उसे महाराज उदयी ने नहीं बसाया था। अतः महाभाष्य में पाटलिपुत्र का उल्लेख होने मात्र से महाभाष्यकार उदयी से अर्वाचीन नहीं हो सकते।

महाभाष्यकार पतञ्जलि का शुद्ध एवं निर्भ्रान्त वास्तविक काल

महाभाष्य के उपरिलिखित उद्धरणों पर सूक्ष्म विचार करने से निम्न विशेष परिणाम निकलते हैं—

१. महाभाष्य में कहीं भी पुष्यमित्र का शुङ्ग या राजा विशेषण नहीं मिलता और न कहीं पुष्यमित्र के अश्वमेध करने का ही संकेत है। अतः पुष्यमित्र नाम भी निस्सन्देह देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुमित्र आदि के समान ही सामान्य पद के रूप में ही व्यवहृत हुआ है, शुङ्गवंश्य राजा पुष्यमित्र के लिए नहीं।

२. **'इह पुष्यमित्रं याजयामः'** वाक्य में यदि 'इह' पद से पाटलिपुत्र का निर्देश माना जाये तो उससे उत्तरवर्ती 'इह अधीमहे' वाक्य से मानना होगा

और बढ़ाया जा सकता है। इसी नियम के अनुसार भाष्यकार के शब्दों से यही अभिप्राय निकलता है कि भाष्यकार के समय सामान्य आयु ६० वर्ष की और चिरजीवी १०० वर्ष तक भी जीते थे। इस प्रकार चरक के आयुर्विज्ञान के नियमानुसार **महाभाष्यकार पतञ्जलि का काल २००० वि० पू० होना** चाहिए। उससे उत्तरवर्ती नहीं माना जा सकता।

यदि यह २००० वि० पू० काल न भी माना जाय, और महाभाष्यकार को शुङ्गवंश्य पुष्यमित्र का समकालीन ही मान लिया जाय तो भी वे विक्रम पूर्व १२०० वर्ष से उत्तरवर्ती नहीं हो सकते। पाश्चात्य विद्वानों का पुष्य-मित्र को १५० वर्ष ईसा पूर्व रखना, सर्वथा सत्य भारतीय ऐतिहासिक काल-गणना के विपरीत है।

महाभाष्य की रचना शैली

महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का ग्रन्थ होते हुए भी अन्य व्याकरणग्रन्थों के सदृश शुष्क और एकाङ्गी नहीं है। इसमें व्याकरण जैसे क्लिष्ट और शुष्क विषय को अत्यन्त सरल और सरस ढंग से हृदयंगम कराया है। इसकी भाषा लम्बे-लम्बे समासों से रहित, छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त, अत्यन्त सरल, प्राञ्जल और सरस है। इसकी विषय-प्रतिपादन-शैली अत्यन्त उत्कृष्ट है। अपनी भाषा की सरलता, प्राञ्जलता, स्वाभाविकता और विषयप्रतिपादन की शैली की उत्कृष्टता आदि के दृष्टि से यह ग्रन्थ समस्त संस्कृत वाङ्मय में अद्वितीय एवम् अदर्शभूत है।

महाभाष्य की महत्ता

महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। अर्वाचीन वैयाकरण जहाँ सूत्र, वार्तिक और महाभाष्य में परस्पर विरोध समझते हैं, वहाँ महाभाष्य को ही प्रामाणिक मानते हैं। महामुनि पतञ्जलि ने अपने काल में विद्यमान, पाणिनीय और अन्य प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों की महती राशि का सार पाणिनीय व्याकरण के व्याख्यानमिष से महाभाष्य में संगृहीत कर दिया। इसके सूक्ष्म पर्यालोचन से विदित होता है कि यह केवल व्याकरण शास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है, अपितु समस्त विद्याओं का आकर ग्रन्थ है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इसकी महत्ता व्यक्त करते हुए लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्यनिबन्धने॥

महाभाष्य का अनेक बार लुप्त होना

इस अत्यन्त प्राचीन पातञ्जल महाभाष्य ग्रन्थ के पठन-पाठन का इतने सुदीर्घकाल में अनेक बार उच्छेद हुआ। इतिहास से विदित होता है कि महाभाष्य का उच्छेद कम से कम तीन बार अवश्य हुआ।

प्रथम बार—भर्तृहरि के वाक्यपदीय (२।४८७—४८६) से विदित है कि बैजि, सौभव और हर्यक्ष आदि शुष्क तार्किकों ने इस 'संग्रह' के कुञ्जीरूप' महाभाष्य ग्रन्थ का प्रचार नष्ट कर दिया था। चन्द्राचार्य ने महान् परिश्रम करके दक्षिण के किसी पार्वत्य प्रदेश से एक हस्तलेख प्राप्त कर उसका पुनः प्रचार किया। कल्हण के लेखानुसार चन्द्राचार्य ने महाराज अभिमन्यु के आदेश से महाभाष्य का उद्धार किया।

द्वितीय बार—कल्हण की राजतरङ्गिणी से विदित होता है कि विक्रम की आठवीं शताब्दी में पुनः महाभाष्य उच्छिन्न हो गया था। इस बार भी कश्मीर के ही महाराज जयापीड ने देशान्तर से क्षीर नामक शब्दविद्योपाध्याय को बुलाकर महाभाष्य का पुनः प्रचार कराया।

ये महाभाष्य के उद्धारक 'क्षीर', क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोशटीका आदि के रचयिता वैयाकरण क्षीरस्वामी से भिन्न हैं।

तृतीय बार—विक्रम की १८ वीं और १६ वीं शताब्दी में सिद्धान्त कौमुदी और लघुशब्देन्दुशेखर आदि अर्वाचीन ग्रन्थों का अत्यधिक प्रचार होने के कारण महाभाष्य का पठन-पाठन प्रायः लुप्त हो गया था। वैयाकारणों की धारणा बन गयी थी—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

इस बार महाभाष्य का उद्धार दण्डी स्वामी विरजानन्द और उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। श्री स्वामी विरजानन्द ने तत्कालीन पण्डितों की पूर्वोक्त धारणा के विपरीत घोषणा की थी—

अष्टाध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
ततोऽन्यत् पुस्तकं यत्तु तत्सर्वं धूर्तचेष्टितम्॥

आज भारतवर्ष में जहाँ कहीं थोड़ा बहुत महाभाष्य का पठन-पाठन उपलब्ध होता है, उसका श्रेय इन्हीं दोनों गुरु, शिष्यों को है।

महाभाष्य का पाठ अव्यवस्थित

महाभाष्य का पाठ जो सम्प्रति उपलब्ध होता है, वह अव्यवस्थित एवं अनेक स्थलों पर खण्डित है। इसका कारण महाभाष्य का अनेक बार उच्छेद होना है। भर्तृहरि, कैयट और नागेश आदि टीकाकार अनेक स्थलों पर

पाठान्तर उद्धृत करते हैं। नागेश कई स्थलों पर महाभाष्य के अपपाठों का निदर्शन कराते हैं। अनेक स्थलों पर महाभाष्य का पाठ पूर्वापर व्यस्त हो गया है। टीकाकारों ने कहीं-कहीं उसका निर्देश किया है, कई स्थल बिना निर्देश किये छोड़ दिये हैं। इसी प्रकार अनेक स्थलों पर माहभाष्य के पाठ नष्ट हो गये हैं।

अन्य ग्रन्थ

महाभाष्य के अतिरिक्त पतञ्जलि के नाम से निदानसूत्र और योगदर्शन दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इन दोनों ग्रन्थों का रचयिता कोई अत्यन्त प्राचीन पतञ्जलि नामक ऋषि हैं। पाणिनि ने (२।४।६९) के उपकादिगण में पतञ्जलि पद पढ़ा है। आङ्गिरसपतञ्जलि का उल्लेख मत्स्यपुराण (१९५।२५) में मिलता है।

१. महानन्द काव्य—महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित में भाष्यकार पतञ्जलि को **'महानन्द'** या **'महानन्द काव्य'** का रचयिता लिखा है। इस काव्य के मिष से पतञ्जलि ने इस काव्य में योग की व्याख्या की थी। इस 'महानन्द' काव्य का मगधसम्राट महानन्द से कोई सम्बन्ध नहीं था।

२. चरक का परिष्कार—चक्रपाणि, पुण्यराज और भोजदेव आदि अनेक ग्रन्थकार पतञ्जलि को चरकसंहिता का प्रतिसंस्कारक मानते हैं। समुद्रगुप्त-कृत कृष्ण चरित से भी प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने चरक-संहिता में कुछ धर्माविरुद्ध योगों का सन्निवेश किया था। चरकसंहिता के प्रत्येक स्थान के अन्त में लिखा है—**'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते।'**

श्री पं० गुरुपदहालदार ने 'वृद्धत्रयी' में लिखा है—पतञ्जलि ने आयुर्वेदीय चरक-संहिता पर कोई वार्तिक ग्रन्थ लिखा था। (पृष्ठ २९–३१) उन्होंने रस-रसायन-धातु-व्यापार-विषयक पतञ्जलि के कई वचन भी उद्धृत किये हैं। इस वार्तिक के कर्ता महाभाष्यकार पतञ्जलि ही हैं।

३. सिद्धान्त सारावली—यह वैद्यकग्रन्थ है। इसके रचयिता महाभाष्यकार पतञ्जलि हैं, ऐसा पं० गुरुपदहालदार ने भी ('वृद्धत्रयी' पृष्ठ २९) में लिखा है।

४. कोष—कोष-ग्रन्थों की अनेक टीकाओं में वासुकि, शेष, फणीन्द्र फणिपति आदि नामों से किसी कोष-ग्रन्थ के उद्धरण मिलते हैं। ये सब नाम पर्याय हैं। इससे प्रतीत होता है कि पतञ्जलि ने कोई कोष-ग्रन्थ भी रचा था। इनके अतिरिक्त सेश्वर सांख्य, लोहशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि को भी उनकी कृतियाँ माना जाता है किन्तु इनमें कौन-कौन सा ग्रन्थ महाभाष्यकार पतञ्जलि-कृत है, कहा नहीं जा सकता।

एकादश अध्याय

महाभाष्य के टीकाकार

भर्तृहरिविरचित महाभाष्य की टीका (महाभाष्यदीपिका) सम्प्रति उपलब्ध टीकाओं में प्रमुख है। इसका जितना भाग इस समय उपलब्ध है, उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि उससे पूर्व भी महाभाष्य पर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी थीं। भर्तृहरि ने अपनी टीका में 'अन्ये', 'अपरे', 'केचित्' आदि शब्दों द्वारा अनेक प्राचीन टीकाओं के पाठ उद्धृत किये हैं। परन्तु टीकाकारों के नाम अज्ञात होने से उनका वर्णन सम्भव नहीं है। भर्तृहरि की टीका के अवलोकन से पता चलता है कि उससे पूर्व कम से कम तीन टीकाएँ अवश्य हुई थीं।

१. भर्तृहरि (वि० सं० ४०० से पूर्व)

भर्तृहरि वैयाकरणनिकाय में महत्त्व की दृष्टि से पतञ्जलि के समकक्ष माने जाते हैं। कहना तो यह चाहिए कि इनकी 'महाभाष्यदीपिका' अपने पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है, न सही; इनका 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ ही इन्हें सबसे भिन्न और सर्वातिशायी सिद्ध करने में समर्थ है।

परिचय

भर्तृहरि ने भी अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों के समान ही अपने किसी ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया है अतः इनके विषय में अन्य साक्ष्यों के आधार पर ही कुछ कहा जा सकता है।

पुण्यराज ने भर्तृहरि के गुरु का नाम 'वसुरात' लिखा है।

चीनी यात्री इत्सिंग ने भर्तृहरि को बौद्ध लिखा है। यह इत्सिंग की भूल है। वाक्यपदीय और महाभाष्य-टीका के पर्यनुशीलन से स्पष्ट विदित होता है कि भर्तृहरि वैदिकधर्मी थे, बौद्ध मतावलम्बी नहीं। इत्सिंग का ऐसा कथन भागवृत्तिकार विमलमति उपनाम भर्तृहरि के लिए उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि वे एक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार हैं।

काल

भर्तृहरि का काल अभी तक विवादास्पद है। कई विद्वान् इत्सिंग के लेख 'उस (भर्तृहरि) की मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए' के अनुसार भर्तृहरि

का काल विक्रम की सप्तम शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानते हैं। किन्तु इत्सिग का ज्ञान कहाँ तक तथ्य पर आधारित है, या कहाँ तक उसने जनश्रुति के आधार पर लिख दिया है, इस बात की परीक्षा बिना किये इत्सिग के भर्तृहरि-विषयक लेख को प्रामाणिक मानना युक्त नहीं है। इस तथ्य की परीक्षा के लिए हमें अन्य प्रमाण देखने होंगे।

'भर्तृहरि महाराज विक्रमादित्य के सहोदर भ्राता हैं' इस जनश्रुति में भी कोई विशिष्ट प्रमाण नहीं है। इसलिये भर्तृहरि के काल-निर्णय के साधक अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं :—

१. काशिका (४।३।८८) में **"शब्दार्थसम्बन्धीयं प्रकरणं वाक्यपदीयम्"** उदाहरण दिया है। काशिका की रचना वि० सं० ६८०–७०१ के मध्य हुई थी।

कन्नड पञ्चतन्त्र के अनुसार जयादित्य और वामन गुप्तवंशीय विक्रमाङ्क साहसाङ्क के समकालीन हैं। यह गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय है। पाश्चात्य मतानुसार इसका काल वि० सं० ४३७–४७० तक माना जाता है। फिर भी उक्त उद्धरण से इतना तो स्पष्ट ही है कि **वाक्यपदीय की रचना काशिका से पूर्व हो चुकी थी।**

२. काशिका से प्राचीन है कातन्त्रव्याकरण की दुर्गसिंहकृत वृत्ति। धातुवृत्तिकार सायण के मतानुसार वामन ने काशिका (७।४।९३) में दुर्ग वृत्ति का प्रत्याख्यान किया है, अतः काशिका की अपेक्षा दुर्गसिंहकृत वृत्ति की प्राचीनता स्पष्ट सिद्ध है।

दुर्गसिंह ने कातन्त्र (१।१।९) की वृत्ति में भर्तृहरि के वाक्यपदीय (३।८।१) कारिका उद्धृत की है। अतः भर्तृहरि, काशिकाकारों (जयादित्य और वामन) से पूर्ववर्त्ती दुर्गसिंह से भी पूर्ववर्त्ती सिद्ध होते हैं।

३. शतपथ ब्राह्मण के व्याख्याता हरिस्वामी ने प्रथम काण्ड की व्याख्या में वाक्यपदीय की प्रथम कारिका का उत्तरार्द्ध ('जगतो यतः अन्तिम अंश छोड़कर) उद्धृत किया है।

हरिस्वामी ने उक्त ग्रन्थ के प्रथम काण्ड की व्याख्या के अन्त में लिखा है—

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम्॥
यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

द्वितीय श्लोक के अनुसार कलि संवत् ३७४० अर्थात् वि० सं० ६६५ में हरिस्वामी ने शतपथ प्रथम काण्ड की रचना की। सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे ने '३०४७ कलि संवत्' अर्थ किया है। इससे दोनों श्लोकों में भी हो जाता है, अन्यथा ३७४० कलि संवत् में अवन्तिनाथ किसी विक्रम की सत्ता इतिहास से सिद्ध न होने के कारण द्वितीय श्लोक की पूर्व श्लोक से संगति ठीक नहीं बैठती। यदि ३०४७ अर्थ को ठीक न मानें तब भी इतना तो स्पष्ट सिद्ध है कि भर्तृहरि हरिस्वामी से पूर्ववर्ती हैं।

४. हरिस्वामी ने शतपथ की व्याख्या में प्रभाकर मतानुयायियों का मत उद्धृत किया है। प्रभाकर के गुरु कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक (१।३।८) में वाक्यपदीय की कारिका (१।१३) उद्धृत कर उसका खण्डन किया है। इससे सिद्ध होता है कि हरिस्वामी से पूर्ववर्ती प्रभाकर, उससे पूर्ववर्ती कुमारिलभट्ट और उससे प्राचीन भर्तृहरि हैं।

५. हरिस्वामी के गुरू स्कन्दस्वामी ने निरुक्तभाष्य में वाक्यपदीय की अनेक कारिकाओं को उद्धृत किया है। इससे सिद्ध है कि वाक्यपदीय की रचना निरुक्त भाष्य से पूर्व हो चुकी थी।

६. स्कन्द के सहयोगी महेश्वर ने निरुक्त टीका (८।२) में कुमारिलकृत श्लोक वार्तिक का एक श्लोक उद्धृत किया है। इससे भी स्पष्ट है कि भर्तृहरि संवत् ६६५ से बहुत पूर्ववर्ती हैं। आधुनिक ऐतिहासिकों का निश्चित किया कुमारिल का काल विक्रम की आठवीं शताब्दी अशुद्ध है। यह भी प्रमाण संख्या ४ और ६ से स्पष्ट है।

७. वाग्भट्ट के साक्षात् शिष्य इन्दु ने अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरतन्त्र अ० ५० की टीका में लिखा है—

पदार्थयोजनास्तु व्युत्पन्नानां प्रसिद्धा एवेत्यत आचार्येण नोक्ताः। तासु च तत्र भवतो हरेः श्लोकौ—

> **संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।**
> **अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥**
> **सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।**
> **शाब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥**

अनयोरर्थः······।

अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरतन्त्र अ० ४६ के पलाण्डुरसायन प्रकरण के दो श्लोकों के आधार पर अनेक ऐतिहासिक वाग्भट्ट को चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में मानते हैं जिसे ही भगवद्दत्त जी ने विक्रम संवत् प्रवर्तक सिद्ध किया है। उक्त ग्रंथ की इन्दुटीका के सम्पादक ने भूमिका में लिखा है—जर्मन विद्वान् वाग्भट्ट को ईसा

की द्वितीय शताब्दी में मानते हैं। इन्दु के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भर्तृहरि किसी प्रकार वि० सं० ४०० से अर्वाचीन नहीं हैं।

८. पं० रामकृष्ण कवि भर्तृहरि कृत 'जैमिनीय मीमांसा वृत्ति' को शबर-स्वामी के मीमांसा भाष्य से प्राचीन बताते हैं। महाभाष्यदीपिका में उल्लिखित मीमांसक मत प्रायः शाबर मतों से नहीं मिलते, इस बात से भी शबरस्वामी से भर्तृहरि की प्राचीनता पुष्ट होती है।

इन सब प्रमाणों पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि भर्तृहरि निश्चय ही अत्यन्त प्राचीन ग्रंथकार हैं। इत्सिंग के वचनानुसार इन्हें विक्रम की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानना सर्वथा अयुक्त है। इत्सिंग को पढ़ने से प्रतीत होता है कि उसने भर्तृहरि का कोई ग्रन्थ नहीं देखा था। उसका दिया हुए परिचय अत्यन्त भ्रमपूर्ण है।

अनेक भर्तृहरि

महावैयाकरण भर्तृहरि 'महाभाष्य' के टीकाकार, 'वाक्यपदीय' के कर्ता, 'भट्टिकाव्य' के कवि और 'भागवृत्ति' के वृत्तिकारके साथ कतिपय अन्य कृतियों के भी लेखक माने जाते हैं। इन मान्यताओं पर विचार करने पर प्रतीत होता है कि कम से कम तीन भर्तृहरि अवश्य हुए हैं। उनका ठीक-ठीक विभाग ज्ञात न होने से इतिहास में अनेक उलझनें पड़ी हैं। विक्रमादित्य, सातवाहन, कालिदास और भोज आदि के विषय में भी ऐसी अनेक उलझनें हैं। भर्तृहरि नाम का एक व्यक्ति हुआ है या अनेक, इस विषय पर विचार करने के लिए भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों पर पहिले विचार करना आवश्यक है।

संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरिविरचित निम्न ग्रंथ प्रसिद्ध हैं:—

१. महाभाष्य-दीपिका।
२. वाक्यपदीय—तीनों काण्ड।
३. वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ वृत्ति—प्रथम और द्वितीय काण्ड।
४. नीतिशतक, शृङ्गारशतक और वैराग्यशतक।
५. जैमिनीय मीमांसा वृत्ति।
६. वेदान्तसूत्रवृति।
७. शब्दधातुसमीक्षा।
८. भट्टिकाव्य।
९. भागवृत्ति।

इनमें से प्रथम तीन ग्रंथों की परस्पर तुलना करने से विदित हो जाता है कि इन तीनों का कर्ता एक ही व्यक्ति है और वह है महावैयाकरण भर्तृहरि। वाक्यपदीय की रचना वि० सं० ४०० से अर्वाचीन नहीं है, यह सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है अतः वही काल महाभाष्यदीपिका की रचना का भी है।

शतकत्रय (नीति, शृङ्गार, वैराग्य)—इनका रचयिता कौन सा भर्तृहरि है—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जैनग्रन्थकार वर्धमानसूरि गणरत्नमहोदधि में लिखते हैं—

वार्त्तैव वार्त्तम्। यथा—हरिराकुमारमखिलाभिधानवित् स्वजनस्य वार्तामन्वयुङ्क्त सः।

यदि वर्धमान सूरि के उक्त लेख द्वारा नीतिशतक के **'यां चिन्तयामि मयि सा सततं विरक्ता'** श्लोक की ओर संकेत हो सकने की कल्पना ठीक हो, तो नीतिशतक आद्य भर्तृहरिकृत होना चाहिए, क्योंकि इसमें हरि का विशेषण **'अखिलाभिधानवित्'** लिखा है। वर्धमानसूरि ने अन्यत्र भी आद्य भर्तृहरि के लिए **'वेदविदामलंकारभूतः'** **'प्रमाणितशब्दशास्त्रः'** आदि विशेषण प्रयुक्त किये हैं।

जैमिनीय मीमांसा वृत्ति—पण्डित रामकृष्ण कवि की सूचना है कि भर्तृहरिकृत इस वृत्ति के कुछ भाग उपलब्ध हुए हैं, वे शबर से पहिले के हैं। तदनुसार यह वृत्ति आद्य भर्तृहरि विरचित होगी।

वेदान्तसूत्रवृत्ति—यह वृत्ति अनुपलब्ध है। यामुनाचार्य ने अपने 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थ में वेदान्तसूत्र के अन्य व्याख्याताओं के साथ आद्य भर्तृहरि का भी उल्लेख किया है। इससे आद्यभर्तृहरिकृत वेदान्तसूत्रवृत्ति की कुछ सम्भावना प्रतीत होती है।

शब्दधातुसमीक्षा—आद्यभर्तृहरि के नाम से इस ग्रन्थ का उल्लेख श्री पं० माधव कृष्ण शर्मा ने अपने **'भर्तृहरि नाट ए बौद्धिस्ट'** नामक लेख में किया है। यह लेख 'दि पूना ओरियण्टलिस्ट' पत्रिका अप्रैल सन् १९४० में छपा है।

अब बचते हैं दो ग्रन्थ—भट्टिकाव्य और भागवृत्ति।

भट्टिकाव्य—जयमङ्गला टीकाकार के अनुसार ग्रन्थकार का नाम भट्टिस्वामी है। मल्लिनाथ आदि अन्य टीकाकारों तथा पञ्चपादी उणादिवृत्तिकार श्वेतवनवासी के अनुसार भट्टिकाव्य भर्तृहरिविरचित है। ये दोनों मत ठीक हैं। ग्रन्थकार का अपना नाम भट्टिस्वामी है और असा-

धारण वैयाकरण होने के कारण औपाधिक भर्तृहरि के नाम से विख्यात हुआ। अतः भट्टिकाव्य का कर्त्ता आद्यभर्तृहरि (वाक्यपदीयकार) नहीं है।

भागवृत्ति—भाषावृत्ति के टीकाकार सृष्टिधराचार्य ने लिखा है—'भर्तृहरि ने श्रीधर सेन की आज्ञा से भागवृत्ति की रचना की। कातन्त्र-परिशिष्ट के रचयिता श्रीपतिदत्त भागवृत्ति के कर्ता का नाम विमलमति लिखते हैं। श्रीपतिदत्त सृष्टिधर की अपेक्षा प्राचीन हैं अतः उनका मत प्रामाणिक माना जाना चाहिए। भागवृत्ति की रचना काशिका के बाद हुई है और वाक्यपदीय काशिका से बहुत पूर्व की रचना है, अतः भागवृत्तिकार भर्तृहरि, वाक्यपदीयकार से भिन्न हैं।

भट्टिकार और भागवृत्तिकार में भेद—भट्टिकार और भागवृत्तिकार दोनों का नाम यदि भर्तृहरि मान लें, तब भी दोनों ग्रन्थों का रचयिता एक नहीं हो सकता। इस विभिन्नता में निम्न हेतु हैं—

१. पुरुषोत्तमदेव भाषावृत्ति (२।४।७४) में भागवृत्ति का खण्डन करते हैं और अपने पक्ष की सिद्धि में भट्टिकाव्य का प्रमाण उपस्थित करते हैं।

२. भाषावृत्ति (५।२।११२) के अनुसार विदित होता है कि भागवृत्तिकार भट्टिकाव्य के छन्दोभङ्ग दोष का समाधान करते हैं।

३. भागवृत्ति के उपलब्ध उद्धरण भागवृत्तिकार को महाभाष्यानुसारी व्यक्त करते हैं जब कि भट्टिकाव्य के अनेक प्रयोग महाभाष्य के विपरीत हैं।

अतः स्पष्ट है, भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के कर्ता भिन्न-भिन्न हैं।

महाभाष्यदीपिका का परिचय

महाभाष्यदीपिका आचार्य भर्तृहरि की लिखी हुई, महाभाष्य की एक विस्तृत और प्रौढ़ व्याख्या है। इसके उद्धरण अनेक व्याकरण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

परिमाण—इत्सिग ने दीपिका का परिमाण २५००० श्लोक लिखा है; किन्तु उससे यह नहीं विदित होता है कि भर्तृहरि ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी थी, या कुछ भाग पर। वर्धमान ने लिखा है—

भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्त्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।

इसी प्रकार प्रकीर्णकाण्ड की व्याख्या की समाप्ति पर हेलाराज ने भी लिखा है—

त्रैलोक्यगामिनि येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता।
तस्मै समस्तविद्याश्रीकान्ताय हरये नमः॥

यह प्रमाण सन्दिग्ध है, क्योंकि त्रिपदी पद त्रिकाण्डी का विशेषण भी हो सकता है।

महाभाष्य दीपिका के सम्प्रति उपलब्ध परिमाण को देखते हुए २५००० श्लोक परिमाण तीन पाद से अधिक का नहीं हो ससता। डॉ० कीलहार्न का भी यही मत है।

व्याकरण के ग्रन्थों में अनेक ऐसे उद्धरण उपलब्ध होते हैं जिनसे यह निश्चित ज्ञान होता है कि भर्तृहरि का सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर कोई ग्रन्थ अवश्य था। उन्होंने अष्टाध्यायी पर कोई वृत्ति लिखी हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। ऐसी अवस्था में वे उद्धरण महाभाष्यदीपिका के ही हैं—ऐसा ही मानना ठीक है। अतः इसमें किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए कि भर्तृहरि ने अपनी व्याख्या महाभाष्य के प्रारम्भिक तीन पादों पर ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण महाभाष्य पर लिखी थी। इत्सिंग के काल में 'महाभाष्यदीपिका' का जितना अंश उपलब्ध था, उसने उतने ही ग्रन्थ का परिमाण लिखा। वर्धमान के काल में उसके केवल तीन पाद ही शेष रह गये होंगे। सम्प्रति उसका एक पाद भी पूर्ण उपलब्ध नहीं होता।

'महाभाष्यदीपिका' सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध न होने से हम अवश्य भर्तृहरि की देन के एक बड़े अंश से वञ्चित रह गये तथापि उसका जितना अंश उपलब्ध होता है, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसका बचा हुआ अंश भी वाक्यपदीय के समान ही कई ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डालता है जिनमें भर्तृहरि की मौलिकता निहित है। उससे स्पष्ट विदित होता है कि महाभाष्य की टीका के व्याज से भर्तृहरि व्याकरण के क्षेत्र में एक निश्चित देन देने के लिए 'महाभाष्य' की टीका-रचना में प्रवृत्त हुए थे।

हर्ष का विषय है कि प्रथम चार आह्निक तक का प्रकाशन श्री वी० स्वामिनाथन् के सम्पादकत्व में हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से हो गया है। एक दूसरा संस्करण श्री पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर के सम्पादकत्व में भण्डारक ओरियण्टलरिसर्च इन्स्टीटयूट पूना से प्रकाशित हुआ है जिसमें पूरा उपलब्ध अंश छपा है।

भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ तथा उसकी स्वोपज्ञटीका पर उनतीसवें अध्याय में विचार किया जायगा। पाठक उसे वहीं देखें।

२. कैयट (सं० ११०० वि० से पूर्व)

कैयट ने महाभाष्य की 'प्रदीप' नाम्नी एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी है। महाभाष्य पर उपलब्ध टीकाओं में भर्तृहरि की महाभाष्यदीपिका के अनन्तर यही सबसे प्राचीन टीका है।

परिचय

कैयटकृत 'महाभाष्यप्रदीप' के प्रत्येक अध्याय के अन्त में उपलब्ध वाक्य के अनुसार कैयट के पिता का नाम 'जैयट उपाध्याय' था।

मम्मटकृत काव्यप्रकाश की 'सुधासागर' नाम्नी टीका में भीमसेन ने कैयट और उव्वट को मम्मट का अनुज लिखा है जब कि स्वयम् उव्वट ने यजुर्वेद भाष्य के अन्त में अपने पिता का नाम 'वज्रट' लिखा है; अतः भीमसेन का लेख अशुद्ध है। सम्भव है कि कैयट, उव्वट और मम्मट नामों में पाये जाने वाले सादृश्य के कारण भीमसेन को वैसा भ्रम हो गया हो।

कैयट ने निस्सन्देह अपने अनेक शिष्यों के लिए महाभाष्य का प्रवचन किया होगा। उनमें से केवल एक शिष्य का नाम ज्ञात है, वे हैं 'उद्योतकर'। ये 'उद्योतकर', न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर से भिन्न हैं। कैयट-शिष्य उद्योतकर ने भी व्याकरण पर कोई ग्रन्थ रचा था। चन्दसागरसूरि ने उसके कुछ उद्धरण हैमबृहद्वृत्ति की टीका में उद्धृत किये हैं।

कैयट के गुरु का नाम 'महेश्वर' था। (वेल्वाल्कर, सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर) कैयट कश्मीर के निवासी थे, यह निर्विवाद है।

आनन्दवर्धनाचार्यकृत 'देवीशतक' की एक कैयट कृत व्याख्या मिलती है। व्याख्या का लेखन काल कलि सवत् ४०७८ अर्थात् विक्रम संवत् १०३४ है। इस प्रकार यद्यपि इनका भी काल प्रदीपकार कैयटकाल के आस-पास है किन्तु इन्होंने उक्त व्याख्या में अपने पिता का नाम 'चन्द्रादित्य' लिखा है। अतः निस्सन्देह ये कैयट, प्रदीपकार कैयट से भिन्न हैं।

काल

१. सर्वानन्द ने अमरकोष की टीका सर्वस्वनाम्नी व्याख्या में मैत्रेयरक्षित-विरचित 'धातुप्रदीप' का उल्लेख किया है। टीकासर्वस्व' की रचना सं० १२१६ में हुई है।

२. वही मैत्रेयरक्षित कैयट का नामोल्लेख अपने तन्त्रप्रदीप (१।२।१) में करते हैं। मैत्रेयरक्षित ने ही 'धर्मकीर्ति' और तद्रचित रूपावतार की भी चर्चा की है।

३. धर्मकीर्ति ने अपने रूपावतार में पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख किया है।

४. हरदत्त अपनी पदमंजरी में कैयट के अनेक वचनों को कैयट का नाम-निर्देश न कर 'अन्ये', 'अपरः' या 'आहच' आदि शब्दों से करते हैं। इससे

कैयट की हरदत्त से प्राचीनता सिद्ध होती है। हरदत्त का कैयटानुसारी होना भाषाव्याख्याप्रपंचकार ने भी सिद्ध किया है।

पदमञ्जरी (५।२।१०) में एक उल्लिखित वचन, महाभाष्यप्रदीप (५।२।१०) में 'अन्ये' शब्दनिर्देश द्वारा उद्धृत है। इससे कहा जा सकता है—कैयट और हरदत्त में कौन प्राचीन है, यह सन्दिग्ध है। किन्तु जैसा पहिले कह चुके हैं, कैयट हरदत्त से प्राचीन हैं। हो सकता है कि कैयट ने महाभाष्यप्रदीप (५।२।१०) में उद्धृत वचन को किसी अन्य ग्रन्थ से लिया हो और हरदत्त ने उसी मत को प्रमाण मान कर 'पदमञ्जरी (५।२।१०) में स्वीकार किया हो।

यदि सर्वानन्द से लेकर हरदत्त तक, एक दूसरे को उद्धृत करने वाले ग्रन्थकारों में कम से कम २५ वर्ष का ही अन्तर मानें तो भी कैयट का काल इस प्रकार ११ वीं शती वि० का उत्तरार्द्ध होगा। अर्थात्—

सर्वानन्द— { टीकासर्वस्व १२१६ वि० सं०
{ धातुप्रदीपपटीका १२६१ वि० सं०

मैत्रेयरक्षित—धातुप्रदीप ११६६ वि० सं०

धर्मकीर्ति—रूपावतार ११४१ वि० सं०

हरदत्त—पदमञ्जरी १११६ वि० सं०

कैयट—महाभाष्यप्रदीप १०६१ वि० सं०

अतः कैयट का काल अधिक से अधिक विक्रम की ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

महाभाष्यप्रदीप

कैयटकृत महाभाष्य की टीका **'प्रदीप'**, '[illegible]' और **'[illegible]प्रदीप'** इन विभिन्न तीन नामों से व्यवहृत होती है। कैयट ने अपनी टीका के प्रारम्भ में लिखा है कि मैंने यह व्याख्या [illegible] सारभूत ग्रन्थ सेतु के आश्रय से रची है। यहाँ 'सार' शब्द के निर्देश से स्पष्ट है कि कैयट का अभिप्राय भर्तृहरिविरचित 'वाक्यपदीय' और 'प्रकीर्ण काण्ड' से है।

कैयट ने सम्पूर्ण प्रदीप में केवल एक स्थान पर 'विस्तरेण भर्तृहरिणा प्रदर्शित ऊहः' (भर्तृहरि ने [दीपिका में] ऊह' पर अधिक विचार किया है) कह कर महाभाष्यदीपिका की ओर संकेत किया है, उसका पाठ कहीं पर उद्धृत नहीं किया; जब कि 'वाक्यपदीय' और 'प्रकीर्णकाण्ड' के शतशः उद्धरण 'महाभाष्यप्रदीप' में उद्धृत किये हैं। इस टीका से कैयट का व्याकरण-विषयक प्रौढ़ पाण्डित्य स्पष्ट विदित होता है। कैयट ने संक्षेप में—

थोड़े से शब्दों में महाभाष्य के भावों और अभिप्रायों को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है और उसमें वे सफल हुए हैं। महाभाष्य जैसे दुरूह ग्रन्थ को समझने का एक मात्र आधार आजकल कैयट का 'महाभाष्य-प्रदीप' ग्रन्थ ही है। इसके विना महाभाष्य पूर्णतया समझ में नहीं आ सकता। महाभाष्य के पठन-पाठन के प्रचार में इस टीका का महत्त्वपूर्ण योग रहा। अतः पाणिनीय सम्प्रदाय में 'महाभाष्य प्रदीय' का बड़ा महत्त्व एवम् समादर है।

'महाभाष्यप्रदीप' के महत्त्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इस पर लगभग १५ आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं। उन आचार्यटीकाकारों का वर्णन बारहवें अध्याय में किया जायगा।

३. ज्येष्ठकलश (सं० १०८५—११३५ वि०)

ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य पर कोई टीका लिखी थी, ऐसी ऐतिहासिकों में प्रसिद्धि है। (कृष्णमाचार्यकृत हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर)

गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज (अधुना वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) काशी से प्रकाशित 'विक्रमाङ्क देवचरित' के सम्पादक पं० मुरारीलाल शास्त्री नागर ने उसकी भूमिका (पृष्ठ ११) में अपना मत व्यक्त किया है कि ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य पर कोई टीका नहीं रची। विल्हण का लेख है—

महाभाष्यव्याख्यामखिलजनवन्द्यां विदधतः,
सदा यस्यच्छात्रैस्तिलकितमभूत् प्राङ्गणमपपि।

यहाँ 'विदधतः' वर्तमान काल का निर्देश और छात्रों से शोभित प्राङ्गण का वर्णन होने से यही प्रतीत होता है कि ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य की टीका नहीं रची थी, अपितु उक्त श्लोक में उसके महाभाष्य के प्रवचन में अत्यन्त पटु होने का उल्लेख किया है। फिर भी ऐतिहासिकों को इस पर अनुसन्धान करना चाहिए।

परिचय

ज्येष्ठकलश कौशिक गोत्र के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम राज-कलश था। पत्नी का नाम नागदेवी था। ज्येष्ठकलश के तीन पुत्र विल्हण, इष्टराम और आनन्द सभी विद्वान् और कवि थे। विल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेव चरित' नामक महाकाव्य रचा है। उसके अठारहवें सर्ग में अपने वंश का विस्तार से परिचय दिया है।

देश—ज्येष्ठकलश कश्मीर में 'प्रवरपुर' के पास 'कोनमुख' ग्राम के निवासी थे। वे मूलतः मध्यदेशीय ब्राह्मण थे।

काल

ज्येष्ठकलश के पुत्र विल्हण का आश्रयदाता दक्षिण देश के कल्याणी का चालुक्यवंशी षष्ठ विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल था। इस विक्रमादित्य का काल वि० सं० ११३३–११८४ माना जाता है। अतः विल्हण के पिता ज्येष्ठकलश का काल वि० सं० १०८४–११३४ तक रहा होगा।

४. मैत्रेयरक्षित

बौद्ध वैयाकरणों में विशिष्ट स्थान रखने वाले मैत्रेयरक्षित को सीरदेव ने परिभाषा वृत्ति में बहुशः उद्धृत किया है। कतिपय उद्धरणों में 'भाष्य-व्याख्यान' और 'भाष्यटीका' शब्दों का निर्देश होने से प्रतीत होता है कि मैत्रेयरक्षित ने महाभाष्यकी कोई टीका रची थी।

मैत्रेयरक्षित द्वारा विरचित न्यास की '**तन्त्रप्रदीप** नाम्नी महती टीका, धातुप्रदीप और दुर्घटवृत्ति नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

मैत्रेयरक्षित सम्भवतः वङ्ग देश के निवासी थे। 'धातुप्रदीप्र' का आनुमानिक रचनाकाल संवत् ११६५ है अतः मैत्रेयरक्षित का काल संवत् ११४५–११७५ वि० के आस-पास माना जा सकता है।

५. पुरुषोत्तमदेव (सं० १२०० वि०)

वङ्गप्रान्तीय वैयाकरणों में प्रामाणिक माने जाने वाले पुरुषोत्तमदेव ने महाभाष्य पर 'प्राणपणा' नाम की एक लघुवृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति की व्याख्या की टीका करने वाले मणिकण्ठ इसका नाम 'प्राणपणित' लिखते हैं।

पुरुषोत्तमदेव को 'देव' नाम से भी स्मरण किया गया है।

पुरुषोत्तमदेव वंगीय थे। ऐसी सूचना उनके प्रत्याहार पाठ में 'वश' और 'पुनर्बश' पाठ से मिलती है। क्योंकि वंग प्रान्त में 'ब' और 'व' का उच्चारण समान अर्थात् पवर्गीय 'ब' होता है। अतएव पुरुषोत्तमदेव ने उच्चारणजन्य पुनरुक्तदोष परिहारार्थ 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया है।

पुरुषोत्तमदेव अपने बौद्ध होने की भी स्वयं सूचना देते हैं। महाभाष्य और अष्टाध्यायी की व्याख्याओं के मङ्गलश्लोक में 'बुद्ध' को नमस्कार करते हुए और भाषावृत्ति के बीच-बीच में बौद्ध चिन्तन और बुद्ध आदि के प्रति आदरभाव सूचित करते हुए पुरुषोत्तमदेव सात्विक गर्व का अनुभव करते हुए-से प्रतीत होते हैं।

काल

भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने सूचित किया है कि राजा लक्ष्मणसेन की आज्ञा से पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृति की रचना की थी।

अनेक विद्वान् लक्ष्मणसेन का राज्यकालरम्भ वि० सं० ११७४ के लगभग मानते हैं। पुरुषोत्तमदेव का लगभग यही काल अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है। जैसे—

(१) शरणदेव द्वारा संवत् १२३० में विरचित दुर्घटवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव और उसकी भाषावृत्ति अनेक स्थानों पर उद्धृत है। अत: पुरुषोत्तमदेव सं० १२३० से पुर्वभावी हैं, यह निश्चित है।

(२) सर्वानन्द द्वारा संवत् १२१६ में विरचित 'अमरटीकासर्वस्व' में अनेकत्र पुरुषोत्तमदेव और उनके भाषावृत्ति आदि ग्रन्थ उद्धृत हैं। अत: पुरुषोत्तमदेव ने अपने ग्रन्थ सं० १२१६ से पूर्व अवश्य रच लिए थे।

अन्य व्याकरण ग्रन्थ

(१) कुण्डली-व्याख्यान, (२) कारक-कारिका (३) भाषावृत्ति (४) दुर्घटवृत्ति (५) परिभाषावृत्ति (६) ज्ञापक-समुच्चय (७) उणावृत्ति (८) कारकचक्र।

(१) **कुण्डली-व्याख्यान का परिचय**—श्रुतपाल नामक वैयाकरण ने 'कुण्डली' नामक एक व्याकरण ग्रन्थ लिखा था। श्रुतपाल के व्याकरण-विषयक अनेक मत भाषावृत्ति, ललितपरिभाषा, कातन्त्रवृत्तिटीका, जैन-शाकटायन की अमोघावृत्ति में मिलते हैं। उसी 'कुण्डली' व्याकरणग्रन्थ का व्याख्यान पुरुषोत्तमदेव ने किया था। 'कुण्डली' ग्रन्थ का महत्व शंकर के शब्दों में—

फणिभाष्येऽत्र दुर्गत्वं कज्जटेन (कैयटेन) प्रकाशितम्।
श्रुतपालस्य राद्धान्तः कुण्डल्यां कुण्डलायते॥

कुण्डली-व्याख्यान के उपक्रम में पुरुषोत्तमदेव की प्रतिज्ञा—

कुण्डलीसप्तके येऽर्था दुर्बोध्याः फणिभाषिताः।
ते सर्वे प्रतिपाद्यन्ते साधुशब्देन भाषया।
यदि दुष्प्रयोगशाली स्यां फणिभक्ष्यो भवाम्यहम्॥

(२) **कारक-कारिका**—इसमें कारक का विवेचन है। यह इसके नाम से ही स्पष्ट है। शेष ग्रन्थों का परिचय यथा प्रकरण आगे किया जायगा।

अन्य कृतियाँ—उपर्युक्त व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त पुरुषोत्तमदेव ने निम्न ग्रन्थ रचे थे—

(१) त्रिकाण्डशेष (अमरकोष-परिशिष्ट)।

(२) हारावली-कोष।

ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

(३) **वर्णदेशना ।**

पुरुषोत्तमदेवकृत महाभाष्यलघुवृत्ति की एक व्याख्या किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने लिखी है, जिसका नाम है **'भाष्यव्याख्यानप्रपञ्च'**। इसका केवल प्रथमाध्याय का प्रथमाध्याय उपलब्ध है। इसका लेखनकाल शकाब्द १७०२ है। उसी महाभाष्यलघुवृत्ति की एक और व्याख्या शङ्कर नामक पण्डित ने लिखी है। उसका कुछ अंश उपलब्ध हुआ है। इस शङ्करकृत व्याख्या की टीका मणिकण्ठ ने की है। उसका भी कुछ अंश उपलब्ध हुआ है।

६. धनेश्वर (सं० १२५०-१३०० वि०)

महावैयाकरण बोपदेव के गुरु धनेश्वर ने महाभाष्य की 'चिन्तामणि' नाम्नी टीका लिखी है। आचार्य धनेश्वर का 'धनेश' भी नामान्तर है। इनका एक **'प्रक्रियारत्नमणि'** नामक ग्रन्थ भी है। बेल्वेल्कर उसका नाम 'प्रकियामणि' लिखते हैं।

बोपदेव का काल विक्रम की तेरहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है, अतः धनेश्वर का काल विक्रम की तेरहवीं शती का मध्य भाग होगा।

७. शेषनारायण (सं० १५००—१५५० वि०)

इनकी महाभाष्य पर 'सूक्तिरत्नाकर' नाम्नी एक प्रौढ़ व्याख्या मिलती है। इनके पिता का नाम वासुदेव दीक्षित और पितामह का नाम अनन्त दीक्षित था। यह परिचय स्वयं शेषनारायण द्वारा 'श्रौतसर्वस्व' के अन्त में दिया गया है। अतः आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में शेषनारायण के पिता का नाम 'कृष्णसूरि' जो लिखा है, वह अशुद्ध है। कृष्णसूरि तो शेषनारायण का पुत्र है। हो सकता है 'सूक्तिरत्नाकर में' उपलब्ध परिचयात्मक श्लोक में 'कृष्णसूरिरतोऽभवद्' का 'कृष्णसूरिर्तोऽभवद्' अशुद्ध पाठ किसी हस्तलेख में देखने से आफ्रेक्ट से यह भूल हो गयी होगी।

'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ ६५४ में पं० कृष्णमाचार्य ने शेषनारायण को शेषकृष्ण का पुत्र और वीरेश्वर का भाई लिखा है, वह भी अशुद्ध है।

काल

शेष वंश की वंशावली के आधार पर शेषनारायण, शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर के समकालीन या कुछ पूर्ववर्ती हैं। वीरेश्वरशिष्य विट्ठलकृत 'प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद' का सं० १५३६ वि० का एक हस्तलेख उपलब्ध है।

अतः निश्चय यह सं० १५३६ वि० से पूर्व रचा गया होगा। इसलिए वीरेश्वर का जन्म सं० १५१० के अनन्तर नहीं हो सकता। यही काल शेषनारायण का भी होना चाहिए।

८. विष्णुमित्र (सं० १६०० वि०)

'विष्णुमित्र' नामक किसी वैयाकरण ने महाभाष्य पर **क्षीरोदर'** नामक टिप्पण लिखा था, ऐसा शिवरामेन्द्र सरस्वती विरचित महाभाष्य टीका और भट्टोजिदीक्षित के शब्दकौस्तुभ से विदित होता है। विष्णुमित्र का काल अज्ञात है। भट्टोजिदीक्षित के शब्दकौस्तुभ में स्मृत होने के आधार पर विष्णुमित्र का काल १६०० वि० सं० के आस पास कहा जा सकता है।

एक विष्णुमित्र ऋक्प्रातिशाख्यकार' है। यह उव्वट से प्राचीन है। यदि महाभाष्यटिप्पण का भी रचयिता यही विष्णुमित्र हो तो यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन होगा।

९. नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १६००—१६७५ वि०)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने महाभाष्य की 'भाष्यतत्त्वविवेक' नाम्नी व्याख्या लिखी है। व्याकरण पर इनके लिखे निम्न ग्रन्थ भी हैं—

१. पाणिनीयदीपिका, २. परिभाषावृत्ति, ३. सिद्धान्तकौमुदी की सुखबोधिनी टीका, ४. तत्त्वबोधिनीव्याख्यान गूढार्थदीपिका।

इन्होंने सिद्धान्त कौमुदी की सुखबोधिनी टीका के प्रारम्भ में स्वयम् अपना परिचय दिया है। जिससे ज्ञात होता है कि ये (नीलकण्ठ), रामचन्द्र के पौत्र और वरदेश्वर के पुत्र थे। नीलकण्ठ ने तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती से विद्याध्ययन किया था।

काल

ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने भटोजिदीक्षित के बहुत जोर दबाव डालने पर उनकी सिद्धान्तकौमुदी की टीका लिखी है—काशी की इस किंवदन्ती के अनुसार उक्त दोनों आचार्य लगभग समकालीन सिद्ध होते हैं। पण्डित जगन्नाथ के पिता पेरंभट्ट ने भी इन्हीं ज्ञानेन्द्रभिक्षु से वेदान्तशास्त्र पढ़ा था। अतः नीलकण्ठ काल वि० सं० १६००—१६७५ के मध्य होना चाहिए।

१०. शेषविष्णु (सं० १६००–१६५० वि०)

शेषविष्णुविरचित **'महाभाष्य प्रकाशिका'** का एक हस्तलेख उपलब्ध होता है। उसमें महाभाष्य के केवल दो प्रारम्भिक आह्निक ही हैं।

शेषविष्णु, वैयाकरण शेषकुल से सम्बद्ध हैं। ये महादेवसूरि के पुत्र थे। इनकी वंशपरम्परा के आधार पर इनका काल १६००–१६५० वि० के मध्य होना चाहिए।

११. तिरुमल यज्वा (सं० १५५० वि० के लगभग)

तिरुमल यज्वा ने महाभाष्य की 'अनुपदा' व्याख्या लिखी है।

तिरुमल यज्वा का उनके दर्शपौर्णमासभाष्य के अन्त में जो पाठ मिलता है, उसमें अपने को 'मल्लय' का पुत्र कहा है और पिता के लिए **'राघवसोमयाजिवंशावतंस'** विशेषण पद का प्रयोग किया है। इसी प्रकार का अन्नम्भट्ट ने भी **'प्रतीपोद्योतन'** के प्रत्येक आह्निक के अन्त में परिचयात्मक पाठ दिया है। उसके अनुसार 'अन्नम्भट्ट, राघवसोमयाजिकुलावतंस तिरुमलाचार्य के पुत्र थे। अतः तिरुमल यज्वा का काल सं० १५५० वि० के आस-पास होगा।

१२. शिवरामेन्द्र सरस्वती (सं० १६००–१६७५ वि०)

शिवरामेन्द्र सरस्वतीकृत **'महाभाष्यरत्नाकर'** नाम की टीका का एक हस्तलेख 'सरस्वती भवन पुस्तकालय' काशी में विद्यमान है। यह टीका छात्रों के लिए अत्यन्त सरल एवम् उपयोगी है। ग्रन्थकार ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है। इनकी सिद्धान्त कौमुदी की रत्नाकर टीका का उल्लेख आफ़ेक्ट के बृहत्सूचीपत्र में है। अतः इनका काल सं० १६००–१६७५ तक होगा।

१३. गोपालकृष्ण शास्त्री (सं० १६५०–१७०० वि०)

अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र में गोपालकृष्ण शास्त्री कृत **'शाब्दिकचिन्तामणि'** महाभाष्य टीका का उल्लेख है। किन्तु इसके उपलब्ध हस्तलेख के आद्यन्तपाठ से प्रतीत होता है कि यह महाभाष्य की व्याख्या नहीं, अपितु भट्टोजिदीक्षितकृत शब्द कौस्तुभ के समान, अष्टाध्यायी की स्वतन्त्र व्याख्या है।

गोपालकृष्ण शास्त्री के ही वचनानुसार इनके पिता का नाम वैद्यनाथ और गुरु का नाम रामभद्र अध्वरी था। तदनुसार इनका काल सं० १६५०–१७०० वि० होना चाहिए।

१४. प्रयागवेङ्कटाद्रि

इन्होंने महाभाष्य पर **'विद्वन्मुखभूषण'** (अथवा विद्वन्मुखमण्डन) टिप्पणी लिखी थी। इनका देश-काल आदि अज्ञात है।

१५. कुमारतातय (१७वीं शती वि०)

कुमारतातय के **'पारिजातनाटक'** के आरम्भिक परिचयात्मक श्लोक से विदित होता है कि इन्होंने महाभाष्य की कोई टीका लिखी थी। किन्तु अन्यत्र इसका उल्लेख नहीं मिलता है। कुमारतातय वेङ्कटाचार्य के पुत्र और काञ्ची के निवासी थे। इनका काल कुछ विद्वान् विक्रम की १७वीं शती मानते हैं।

१६. सत्यप्रिय तीर्थ स्वामी (सं० १७६४–१८०१ वि०)

उत्तरमठाधीश सत्यप्रिय तीर्थ ने महाभाष्य पर एक विवरण लिखा है। इसका लेखनकाल सं० १७६४–१८०१ है। इसका हस्तलेख विद्यमान है।

१७. राजनृसिंह

इनकी **'शब्दबृहती'** नाम्नी महाभाष्य व्याख्या का हस्तलेख 'मैसूर के राजकीय पुस्तकालय' में विद्यमान है। इनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है।

१८. नारायण

इनकी **'महाभाष्यविवरण'** कृति का एक हस्तलेख 'नयपाल दरबार के पुस्तकालय' में सुरक्षित है। इस हस्तलेख के अन्त में **'इति नारायणीये श्रीमहान्महाभाष्ये प्रदीपविवरणे**......लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि यह हस्तलेख महाभाष्यप्रदीपविवरण का है। हस्तलेख का काल सं० १६५४ लिखा है।

१९. सर्वेश्वर दीक्षित

इनकी **'महाभाष्यस्फूर्ति'** नाम्नी व्याख्या का एक हस्तलेख 'मैसूर राजकीय पुस्तकालय' के सूचीपत्र में निर्दिष्ट है। अडियार के पुस्तकालय के सूचीपत्र में इसका नाम 'महाभाष्य-प्रदीपस्फूर्ति' लिखा है। अतः कहा नहीं जा सकता है कि यह महाभाष्य की व्याख्या है या महाभाष्यप्रदीप की। इस ग्रन्थ का रचनाकाल अज्ञात है।

२०. सदाशिव (सं० १७२३ वि०)

इन्होंने **'महाभाष्यगूढार्थदीपिनी'** नामक एक व्याख्या लिखी है। उसका रचनाकाल शक १५८८ अर्थात् वि० सं० १७२३ है। इनके पिता का नाम नीलकण्ठ और गुरु का नाम कमलाकर दीक्षित है।

२१. राजेन्द्राचार्य गजेन्द्रगडकर

ये आचार्य सतारा (महाराष्ट्र) नगर के निवासी थे। इन्होंने महाभाष्य की कोई व्याख्या लिखी थी। इनका **'त्रिपथगा'** एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

२२. छलारी नरसिंहाचार्य

ये आचार्य गोदावरीतीरस्थ धर्मपुरी के निवासी थे। ये आन्ध्र प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने महाभाष्य की 'शाब्दिककण्ठमणि' नामक टीका लिखी थी। इनका काल १९वीं शती वि० का उत्तरार्ध है।

इन व्याख्याओं के अतिरिक्त महाभाष्य के दो व्याख्याग्रन्थ और हैं जिनके कर्ता के नाम ज्ञात नहीं हैं।

एक व्याख्याग्रन्थ का तो नाम भी विदित नहीं है। इसका निर्देशमात्र स्कन्दस्वामी की निरुक्त (१।२) की टीका में उद्धृत वचन से मिलता है। यह उद्धृत महाभाष्य की टीका अत्यन्त प्राचीन, वि० सं० के प्रवर्तन से भी पूर्ववर्ती होगी।

इसी प्रकार की दूसरी **'महाभाष्यव्याख्या'** मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय' के सूचीपत्र में निर्दिष्ट है। ग्रन्थकर्ता का नाम और काल दोनों अज्ञात है।

इस प्रकार महाभाष्य की चौबीस टीकाओं तथा टीकाकारों का निरूपण किया गया है। इन टीकाओं में २२ टीकाओं के टीकाकार ज्ञात हैं तथा २ टीकाओं के कर्ता अज्ञात हैं।

इन टीकाओं में अधिकांश के तो हस्तलेख मात्र विभिन्न पुस्तकालयों के सूचीपत्र में निर्दिष्ट हैं। शेष जो उपलब्ध भी हैं, कैयट की 'प्रदीप' व्याख्या को छोड़कर सम्प्रति उनका पठन-पाठन में प्रचलन नहीं है। फिर भी इन ग्रन्थकारों की कृतियों का महत्त्व इस दृष्टिकोण से कम नहीं है कि व्याकरणवाङ्मय की अभिवृद्धि में इनका प्रशंसनीय योगदान रहा और पतञ्जलि मुनि के गौरव एवं महाभाष्य की महत्ता को विश्वश्रुत किया।

द्वादश अध्याय

महाभाष्यप्रदीप के व्याख्याकार

पतञ्जलि मुनि का महाभाष्य भर्तृहरिकृत 'दीपिका' को खोकर चिर-काल तक अन्धकार निमग्न रहा। संयोग कहा जाय अथवा सौभाग्य, वह एक लम्बी अवधि के बाद 'प्रदीप' का प्रकाश पाकर पुनः जगमगा उठा। तत्कालीन वैयाकरण-समाज महाभाष्य के स्वरूप का और उस 'प्रदीप' के आलोक से आलोकित उसके गूढ़ आशय का सम्यक् परिज्ञान कर कृतकृत्य एवं कृतज्ञता से नतमस्तक हो गया। वास्तव में महाभाष्य को पड़ना भी चाहिए था, ऐसे ही सुयोग्य महान् वैयाकरण के हाथ में, जिसने दुर्दिन के कुप्रभाव से विकृत हुए महाभाष्य के स्वरूप को—उसके मूल पाठ को पुनः व्यवस्थित किया और समय की पुकार पर मूल पाठ को पुनः व्यवस्थित करने के प्रयास में ही अपनी 'प्रदीप' व्याख्या का सृजन किया। अपनी इस सुकृति से आचार्य कैयट ने यह प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया कि व्याख्याकार का महत्त्व एवं गौरव मूल ग्रन्थकार के महत्त्व एवं गौरव से यदि अधिक नहीं, तो उसके समान तो अवश्य होता है, कम तो किसी भी दशा में हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा नहीं, तो उस व्याख्याकार में सफलता की कमी समझी जानी चाहिए। व्याख्याकार की सफलता की यही एक कसौटी है। कहने की आवश्यकता नहीं, वैयाकरण समाज ने 'महाभाष्य' और 'प्रदीप' को, पतञ्जलि और कैयट को, अपने हृदय के एक ही आसन पर पूज्य भाव से स्थापित किया। कैयट के 'प्रदीप' को महाभाष्य के समान ही महत्त्व प्रदान करते हुए—उसे 'प्रदीपभाष्य' की पूज्य संज्ञा देते हुए वैयाकरण विद्वान् उसकी व्याख्या रचने में प्रवृत्त हुए। उस पर विद्वानों ने कितनी टीकाएँ लिखीं, यह तो ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता किन्तु जो व्याख्याएँ उपलब्ध हैं अथवा ज्ञात हैं उनकी संख्या पन्द्रह हैं।

अब उन्हीं पन्द्रह प्रदीप व्याख्याओं और उनके रचयिताओं का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

१. चिन्तामणि

चिन्तामणि वैयाकरण ने 'महाभाष्यप्रदीप' की एक संक्षिप्त व्याख्या **'महाभाष्यकैयटप्रकाश'** नाम से लिखी है। इसके उपलब्ध हस्तलेख आदि और अन्त में खण्डित है।

परिचय

चिन्तामणि नामक अनेक विद्वान हो चुके हैं। यह रचना किस चिन्तामणि की है, ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। शेष कृष्ण का वंश व्याकरण-शास्त्र की प्रवीणता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इस वंश के अनेक विद्वानों ने महाभाष्य और 'प्रदीप' पर व्याख्याएँ लिखी हैं। शेष कृष्ण के एक चिन्तामणि नामक विद्वान् सहोदर थे। अतः सम्भव है, इस टीका की रचना उन्हीं चिन्तामणि के द्वारा हुई हो। यदि यह ठीक हो तो इनका काल वि० सं० १५००—१५५० के मध्य होना चाहिए। क्योंकि शेषकृष्णविरचित 'प्रक्रिया कौमुदी टीका' का एक हस्तलेख वि० सं० १५१४ का उपलब्ध होता है।

२. शेष नागनाथ (सं० १५५० वि० के लगभग)

महाभाष्यप्रदीप की एक व्याख्या **'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन'** के हस्तलेख का निर्देश 'मद्रास राजकीय संस्कृत हस्तलेख-पुस्तकाल' के सूचीपत्र में है। सूचीपत्र में ग्रन्थकार का नाम नहीं है।

'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन' के आरम्भ के श्लोक से इतना पता चलता है कि ग्रन्थकार का गुरु और ज्येष्ठभ्राता शेष वीरेश्ववर है।

यह शेष वीरेश्ववर शेष कृष्ण का पुत्र और पण्डितराज जगन्नाथ का गुरु है। विठ्ठलकृत प्रक्रियाकौमुदी टीका के अनुसार शेष वीरेश्ववर के लघु भ्राता का नाम नागनाथ है, यह निश्चित है। अतः **'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन'** का रचयिता शेष वीरेश्वर का लघु भ्राता नागनाथ है, इसमें सन्देह नहीं। शेष वीरेश्वर और नागनाथ का काल १६ वीं वि० शती का मध्य भाग है।

३. मलय यज्वा (सं० १५२५ वि० के लगभग)

मलय यज्वा ने 'महाभाष्यप्रदीप' पर एक टिप्पणी लिखी थी। यह सूचना उनके पुत्र तिरुमल यज्वा ने अपने ग्रन्थ 'दर्शपौर्णमासमन्त्रभाष्य' के आरम्भ में दी है।—

> 'यत्पित्रा तु कृता टीका मण्यालोकस्य धीमता।
> तथा तत्त्वविवेकस्य कैयटस्यापि टिप्पणी ॥

मलय यज्वा के पुत्र तिरुमल यज्वा ने महाभाष्य पर व्याख्या लिखी थी। यह 'तिरुमल यज्वा' अन्नम्भट्ट का पिता है—यदि यह अनुमान ठीक हो तो मलय यज्वा का काल सं० १२२५ वि० के लगभग होना चाहिए।

४. रामचन्द्र सरस्वती (सं० १५२५ वि०—१५००)

रामचन्द्र सरस्वतीकृत **महाभाष्यप्रदीप**' पर '**विवरण**' नाम्नी लघु व्याख्या के दो हस्तलेख दो विभिन्न पुस्तकालयों के सूचीपत्र में निर्दिष्ट हैं।

आफ्रेक्ट ने रामचन्द्र का दूसरा नाम सत्यानन्द लिखा है। यदि यह ठीक हो तो रामचन्द्र सरस्वती, ईश्वरानन्द सरस्वती के गुरु होंगे।

'**कैयटलघुविवरण**' का उल्लेख भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ (१।१।५७) में किया है। अतः रामचन्द्र सरस्वती का काल वि० सं० १५२५—१६०० होना चाहिए।

५. ईश्वरानन्द सरस्वती (सं० १५५०—१६०० वि०)

ईश्वरानन्द सरस्वती कृत 'महाभाष्यप्रदीपविवरण' नाम्नी बृहती टीका के हस्तलेख विभिन्न कई पुस्तकालय में विद्यमान हैं। ग्रन्थकार ने अपने गुरु का नाम सत्यानन्द सरस्वती लिखा है। आफ्रेक्ट के मतानुसार 'सत्यानन्द' 'रामचन्द्र' का ही नामान्तर है।

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ (१।१।५७) में '**कैयटबृहद्विवरण**' का भी उल्लेख किया है। अतः इनका काल सं० १५५०—१६०० वि० होना युक्त है।

६. अन्नम्भट्ट (सं० १५५०—१६०० वि०)

अन्नभट्ट ने '**प्रदीपोद्योतन**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख मद्रास और अडियार के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। इसके प्रथम अध्याय का प्रथम पाद, दो भागों में छप चुका है।

परिचय

अन्नम्भट्ट का जन्म तैलङ्ग देश में राघव सोमयाजी के वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम अद्वैतविद्याचार्य तिरुमल था। '**काशीगमनमात्रेण नान्नम्भटायते द्विजः**' प्रसिद्ध लोकोक्ति से विदित होता है कि इन्होंने काशी मे जाकर विद्याध्ययन किया था।

अन्नम्भट्ट के प्रदीपोद्योतन के अतिरिक्त निम्नग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

(१) मीमांसान्यायसुधा की राणकोज्जीवनी टीका।

(२) ब्रह्मसूत्र-व्याख्या।

(३) अष्टाध्यायी की मिताक्षरा वृत्ति ।
(४) मण्यालोक की सिद्धाञ्जन टीका ।
(५) तर्कसंग्रह ।

७. नारायण (सं० १६५४ वि० से पूर्व)

किसी नारायण नामक विद्वान् ने महाभाष्य की प्रदीप टीका पर 'विवरण' नाम से एक व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख विभिन्न पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। एक हस्तलेख का लेखन काल सं० १६५४ वि० निर्दिष्ट है। अतः नारायण का काल सं० १६५४ वि० से पूर्व निश्चित है। एक नारायण ने **'महाभाष्य-विवरण'** लिखा है। ये दोनों ग्रन्थकार एक हैं। एक नारायण शास्त्री कृत **'प्रदीप-व्याख्या'** का उल्लेख मिलता है। इनका काल सं० १७१०–१७६० वि० है। अतः ये नारायण शास्त्री, उक्त नारायण से भिन्न हैं।

८. रामसेवक (सं० १६५०—१७०० वि०)

रामसेवक ने **'महाभाष्यप्रदीपव्याख्या'** की रचना की है। इस व्याख्या का हस्तलेख अडियार पुस्तकालय में है।

रामसेवक के पिता का नाम देवीदत्त था। रामसेवक के पुत्र कृष्णमित्र ने **'शब्दकौस्तुभ'** की **'भावप्रदीप'** और **'सिद्धान्त कौमुदी'** की **'रत्नार्णव'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। रामसेवक का काल सं० १६५०—१७०० वि० के मध्य होना चाहिए।

९. नारायण शास्त्री (सं० १७१०—१७६० वि०)

नारायण शास्त्री ने **'महाभाष्य-प्रदीप-व्याख्या'** की रचना की थी। इन्होंने अपने गुरु का नाम 'धर्मराज यज्वा' लिखा है। ये धर्मराज यज्वा नल्ला-दीक्षित के भाई और नारायण दीक्षित के पुत्र हैं। नल्लादीक्षित के पौत्र रामभद्र यज्वा तञ्जौर के राजा शाहू जी के समकालीन हैं। शाहू जी के राज्य का आरम्भ सं० १७४४ वि० से माना जाता है। अतः नारायण शास्त्री का काल लगभग सं० १७१०—१७६० वि० मानना उचित होगा।

१०. नागेश भट्ट (सं० १७३०—१८१० वि०)

नागेश भट्ट का 'नागेश्वर और नागोजी नाम भी प्रसिद्ध है। नागेश भट्ट महान् वैयाकरण तो थे ही, साहित्य, अलङ्कार, धर्मशास्त्र, सांख्य, योग, पूर्वोत्तर मीमांसा और ज्योतिष आदि अनेक विषयों के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी इनके ग्रन्थ आधुनिक वैयाकरणों में अत्यन्त प्रमाणिक

माने जाने जाते हैं। वैयाकरण निकाय में भर्तृहरि के पश्चात् नागेश ही प्रामाणिक व्यक्ति माने जाते हैं।

नागेश भट्ट ने 'महाभाष्यप्रदीप' पर '**उद्योत**' अपर नाम '**विवरण**' नाम्नी प्रौढव्याख्या लिख कर 'प्रदीप' की भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति के द्वारा जन-मानस में 'महाभाष्य' के प्रति अभिनव अभिरुचि उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इतना ही नहीं, नागेश जी व्याकरण के क्षेत्र में अपनी मौलिक एवं निश्चित अनेक देन देने के लिए कितने व्यग्र थे, इसका पता तब चलता है जब हम इनके **लघुशब्देन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर लघुमञ्जूषा, परमघुमञ्जूषा, स्फोटवाद, महाभाष्यप्रत्याख्यानसंग्रह** इन सात व्याकरण-विषयक ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं।

इनकी इस कर्मठता और पाण्डित्य को देखते हुए, इनका गुरुमुख से व्याकरण का अठारह बार अध्ययन करना सत्य प्रतीत होता है, किंवदन्ती नहीं।

परिचय

नागेश भट्ट महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शिवभट्ट और माता का नाम सती था। नागेश भट्ट ने हरिदीक्षित से व्याकरण का अध्ययन किया था। हरिदीक्षित, भट्टोजिदीक्षित के पौत्र थे। नागेश भट्ट के शिष्यों में वैद्यनाथ पायगुण्ड प्रमुख थे।

'महाभाष्यप्रदीपोद्योत' में नागेश ने शपने दो ग्रंथ 'लघुमञ्जूषा' और 'शव्देन्दुशेखर' उद्धृत किये हैं। इससे स्पष्ट है कि 'उद्योत' से पूर्व नागेश ने इन दोनों ग्रन्थों की रचना कर ली थी।

नागेश भट्ट के वृत्तिदाता, प्रयाग के समीपस्थ शृङ्गवेर पुर के राजा राम सिंह थे।

काल

नागेश भट्ट का निश्चित् काल अज्ञात है। अनुश्रुति है कि सं० १७७२ वि० में जयपुराधीश ने अपने अश्वमेध यज्ञ में नागेश भट्ट को निमन्त्रित किया, किन्तु नागेश भट्ट ने संन्यासी हो जाने अथवा क्षेत्रनिवासव्रत के कारण उस निमन्त्रण को अस्वीकृत कर दिया था।

नागेश भट्ट ने भानुदत्त कृत 'रसमञ्जरी' पर एक टीका लिखी है। इस टीका का एक सं० १७६६ वि० का हस्तलेख विद्यामान है।

वैद्यनाथ पायगुण्ड का पुत्र और नागेश भट्ट का शिष्य बालशर्मा कोलब्रुक का समकालीन है। कोलब्रुक वि० सं० १८४०—१८७२ तक भारत वर्ष में रहा था।

अतः नागेश भट्ट का काल वि० सं० १७३० से १८१० के मध्य में होना चाहिए।

११. उद्योतव्याख्याकार वैद्यनाथ पायगुण्ड (सं० १७५०—१८२५ वि०)

नागेश भट्ट के प्रधान शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड ने उनके '**महाभाष्य-प्रदीपोद्योत**' की 'छाया' नाम्नी व्याख्या लिखी है।

वैद्यनाथ के दो पुत्र बालशर्मा और मन्नुदेव थे। बालशर्मा ने कोलब्रुक की आज्ञा से, धर्मशास्त्री मन्नुदेव और महादेव की सहायता से 'धर्मशास्त्र संग्रह' रचा था। बालशर्मा नागेश भट्ट का शिष्य और कोलब्रुक से लब्धजीविक था।

१२. प्रवर्तकोपाध्याय

प्रवर्तकोपाध्याय नामक किसी विद्वान् ने 'महाभाष्यप्रदीप' की **महा-भाष्यप्रकाशिका**' नाम से एक व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के अनेक हस्तलेख अनेक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। कहीं-कहीं इस व्याख्या का नाम '**महाभाष्यप्रकाश**' भी लिखा है।

इस ग्रन्थकार के काल और इतिवृत के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

१३. आदेन्न

आदेन्न नामक किसी वैयाकरण ने '**महाभाष्यप्रदीप**' पर **महाभाष्यप्रदीप-स्फूर्ति**' नाम से एक व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के तीन हस्तलेख 'मद्रास राजकीय-पुस्तकालय' में विद्यमान हैं। इसके काल आदि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

१४. सर्वेश्वर सोमयाजी

सर्वेश्वर सोमयाजी ने भी '**महाभाष्यप्रदीपस्फूर्ति**' नामक एक ग्रंथ लिखा है। इस ग्रन्थ का हस्तलेख 'अडियार पुस्तकालय' के सूचीपत्र में निर्दिष्ट है।

१५. हरिराम

हरिराम कृत '**महाभाष्यप्रदीपव्याख्या**' का उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में किया है।

१६. अज्ञातकर्तृक

दयानन्द एङ्ग्लो वैदिक कॉलेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में एक '**प्रदीपव्याख्या**' ग्रन्थ विद्यमान है। इस ग्रंथ के कर्ता का नाम अज्ञात है।

इस प्रकार इस अध्याय में कैयटकृत महाभाष्यप्रदीप की पन्द्रह टीकाओं और टीकाकारों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है । इन टीकाओं तथा टीकाकारों में 'उद्योत' और उसके रचयिता 'नागेश भट्ट' का बड़ा महत्त्व है । आधुनिक काल में 'प्रदीप' के साथ 'उद्योत' का ही पठन-पाठन में अत्यधिक प्रचलन है। अतः **'व्याकरणशास्त्र का इतिहास'** पढ़ने वाले छात्रों को 'महाभाष्यप्रदीप के व्याख्याकार' प्रकरण में नागेश भट्ट का विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए।

त्रयोदश अध्याय

अनुपदकार और पदशेषकार

अनुपदकार का अर्थ—व्याकरण वाङ्मय में अनुपदकार नामक वैयाकरण का उल्लेख मिलता है। पातञ्जल महाभाष्य के उद्धरणों को अनेक ग्रन्थकार 'पदकार' नाम से उद्धृत करते हैं। तदनुसार पदकार, पतञ्जलि का नामान्तर होने से स्पष्ट है कि महाभाष्य का एक नाम 'पद' भी था। शिशुपालवध के '**अनुत्सूत्रपदन्यासा**' श्लोक की व्याख्या में वल्लभदेव ने भी स्पष्ट लिखा है—**पदं शेषाहिविरचितम् भाष्यम्**। इससे स्पष्ट है कि 'अनुपद' कोई विशेष ग्रंथ है जो 'पद' (अर्थात् महाभाष्य) के बाद और उसके अनुकूल लिखा गया था। काशिका की व्याख्या जिनेन्द्रबुद्धिविरचित 'न्यास' के बाद इन्दुमित्र नामक वैयाकरण ने भी काशिका की एक व्याख्या लिखी थी जिसके उद्धरण अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। 'न्यास' के बाद और उसके अनुकूल लिखी जाने के ही कारण इन्दुमित्र ने भी उस व्याख्या का नाम 'अनुन्यास' रखा।

अतः **अनुपदकार** का अर्थ हुआ—'अनुपद' ग्रन्थविशेष का रचयिता।

व्याकरण वाङ्मय में अनुपदकार का निर्देश अनेक स्थानों पर मिलता है। विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध विभिन्न उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'अनुपद' ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर था। यह इस समय अप्राप्त है। इस 'अनुपद' ग्रन्थ के रचयिता का नाम और काल अज्ञात है।

पदशेषकार

व्याकरण वाङ्मय में पदशेषकार का उल्लेख अनेकत्र मिलता है। पदशेष का अर्थ है—पद (अर्थात् महाभाष्य) से बचे हुए विषयों का प्रतिपादक ग्रन्थ।

'पदशेषोग्रन्थविशेषः'। (पदमञ्जरी ७।२।५८)

पदशेषकार का अर्थ हुआ—'पदशेष' ग्रन्थ विशेष की रचना करने वाला। 'पदशेष' ग्रन्थ की रचना 'महाभाष्य' के बाद हुई है, ऐसा इसके नाम से ही स्पष्ट है।

पदशेषकार के नाम से कतिपय उद्धरण काशिका वृत्ति, माधवीया धातुवृत्ति और पुरुषोत्तमदेवविरचित महाभाष्य लघुवृत्ति की '**भाष्यव्याख्याप्रपञ्च**'

नाम्नी टीका में उपलब्ध होते हैं। उन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि 'पद-शेष' नामक ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर लिखा गया था। काशिकावृत्ति से प्राचीन किसी ग्रन्थ में अभी तक पदशेषकार स्मृत नहीं मिलते, अतः 'पदशेष' ग्रन्थ विक्रम की ७ वीं शताब्दी से पूर्व रचा जा चुका था, केवल इतना ही कहा जा सकता है। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है।

अनुपदकार और पदशेषकार दोनों एक हैं, या भिन्न-भिन्न व्यक्ति, यह विचारणीय है। इन दोनों का अभी तक कोई भेद-निदर्शक स्पष्ट प्रमाण मिल नहीं सका है और दोनों का अर्थ एक ही है। अतः इन्हें अभिन्न मानना सम्प्रति अयुक्त नहीं होगा।

=——

चतुर्दश अध्याय

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

वृत्ति शब्द का अभिप्राय—सूत्र ग्रन्थों की रचना करने में अत्यन्त लाघव से काम लिया जाता है। सूत्र, तन्तु के अवयवों के समान, अर्थों अथवा विस्तृत अर्थों को अपने में गुम्फित किये रहते हैं। इस प्रकार सूत्र उन अर्थों की सूचना देने दाले संकेतमात्र होते हैं। उन सूत्रों का अभिप्राय हृदयङ्गम करने या कराने के लिए व्याख्यान-ग्रंथों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार के लघु व्याख्यान ग्रन्थों का 'वृत्ति' शब्द से व्यवहार होता है।

वृत्ति और भाष्य में अन्तर—वृत्ति में पदच्छेद, पदार्थ, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, वाक्य योजना (अर्थात् अर्थ), उदाहरण, प्रत्युदाहरण, पूर्वपक्ष और समाधान ये अंश प्राय: रहा करते हैं। वृत्तिकार यह विवरण, सूत्र के शब्दों से बँधा हुआ अपनी समझ में आये अभिप्राय या सार के अनुसार संक्षेप में देता है।

भाष्य का कर्त्ता अपना अभिप्राय और मूल ग्रन्थकार का अभिप्राय विस्तार के साथ तो देता ही है, अन्य विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये 'अभिप्राय' का भी अनुशीलन करता है। इस प्रकार वृत्ति का आधार जहाँ संकुचित अथवा सीमिति होता है, वहाँ भाष्य का आधार व्यापक एवं विस्तृत होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'वृत्ति' सूत्रों का लघु-व्याख्यान रूप है और भाष्य बृहद् व्याख्यान रूप।

अष्टाध्यायी पर वृत्ति ग्रन्थ

महाभाष्य के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि महाभाष्य से पूर्व अष्टाध्यायी की कम से कम चार-पांच वृत्तियाँ अवश्य बन चुकी थीं। पाणिनि ने स्वयं अपने सूत्रों पर कोई वृत्ति लिखी थी, ऐसा महाभाष्य-दीपिका, काशिका, महाभाष्य और गणरत्नमहोदधि आदि ग्रन्थों से विदित होता है। महाभाष्य के अनन्तर भी अनेक वैयाकरणों ने अष्टाध्यायी की वृत्तियाँ लिखी हैं। स्वयं पाणिनि की, अपने शब्दानुशासन पर प्रोक्त वृत्ति के अतिरिक्त जो प्राचीन और अर्वाचीन वृत्तियाँ उपलब्ध या ज्ञात हैं उन वृत्तियों और उनके रचयिताओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

१. श्वोभूति (२६०० वि० पूर्व)

श्वोभूति की रचित वृत्ति का उल्लेख जिनेन्द्रबुद्धि ने (पा० ७।२।११) पर दिये गये वक्तव्य में किया है—**केचित् श्वभूतिव्याडिप्रभृतय:…… इत्येवमाचक्षते ।**'

महाभाष्य के (१।१।५६) में एक श्वोभूति का उल्लेख मिलता है।

किन्हीं विद्वानों का मत है कि श्वोभूति पाणिनि का साक्षात् शिष्य है। यदि यह बात प्रमाणान्तर से पुष्ट हो जाय तो श्वोभूति का काल निश्चय ही विक्रम से २६०० वर्ष पूर्व होगा। महाभाष्य में श्वोभूति का उल्लेख होने से इतना तो निश्चित ही है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि से प्राचीन हैं।

२. व्याडि (२८०० वि० पू०)

न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने पा० ७।२।११ पर जो वक्तव्य '**केचित् श्वभूति-व्याडिप्रभृतय:…… इत्येवमाचक्षते**' दिया है, उससे विदित होता है कि व्याडि ने भी श्वोभूति के समान अष्टाध्यायी की कोई वृत्ति लिखी थी।

यदि व्याडि ने न्यासकार द्वारा उद्‌धृत उक्त व्याख्या संग्रह में न की हो तो निश्चय ही व्याडि ने अष्टाध्यायी की वृत्ति लिखी होगी, यह निश्चित है।

व्याडि के विषय में सातवें अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है!

३. कुणि (२००० वि० पूर्व से प्राचीन)

भर्तृहरि, कैयट और हरदत्त आदि ने आचार्य कुणि की 'अष्टाध्यायी वृत्ति' का उल्लेख किया है। यद्यपि महाभाष्य में कुणि का नामोल्लेख नहीं किया गया है तथापि भर्तृहरि (१।१।३८ पर), कैयट (१।१।७४ पर) और हरदत्त (१।१।१ पर) 'कुणि' का मत उद्‌धृत करके कहते हैं कि पतञ्जलि ने इनके मत का अनुसरण किया है।

आचार्य कुणि का इतिवृत्त और काल अज्ञात है। फिर भी भर्तृहरि आदि द्वारा पतञ्जलि को कुणि-मतानुसारी कहे जाने से आचार्य कुणि पतञ्जलि से प्राचीन सिद्ध होते हैं।

४. माथुर (२००० वि० पूर्व से प्राचीन)

माथुरी वृत्ति का उल्लेख महाभाष्य (४।३।१०१) में मिलता है, किन्तु इसका उदाहरण नहीं दिया गया है। इसका उदाहरण पुरुषोत्तमदेव ने अपनी 'भाषावृत्ति' १।२।५७ में दिया है। तदनुसार पतञ्जलि '**अशिष्य**' का प्रयोग क्षेत्र १।२।५७ तक मानते हैं किन्तु माथुरीवृत्ति के अनुसार 'अशिष्य' का प्रयोग क्षेत्र 'पाद समाप्ति' (अर्थात् १।२।७३) तक है।

चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में जिस प्रकार १।२।५३–५७ सूत्रस्थ विषयों का अशिष्य होने से समावेश नहीं किया, उसी प्रकार १।२।५८–७३ सूत्रस्थ **वचनातिदेश** और **एकशेष** का भी निर्देश नहीं किया। इस समानता से विदित होता है कि चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण की रचना में 'माथुरी वृत्ति' का साहाय्य अवश्य लिया था।

महाभाष्यकार ने भी जाति और व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानकर अष्टाध्यायी (१।२।५८–७३) सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है। सम्भव है कि पतञ्जलि ने भी इनके प्रत्याख्यान में माथुरी वृत्ति का आश्रय लिया हो।

परिचय

माथुर नाम के तद्धित प्रत्ययान्त होने से इसका अर्थ 'मथुरा का निवासी' अथवा 'मथुरा अभिजन वाला' है। ग्रन्थकार का वास्तविक नाम अज्ञात है। महाभाष्य में इसका उल्लेख होने से यह आचार्य पतञ्जलि से प्राचीन है।

महाभाष्य में लिखा है—**यत्तेन प्रोक्तं न च तेन कृतम् माथुरी वृत्तिः।**

इससे स्पष्ट है कि 'माथुरी वृत्ति' का रचयिता माथुर से भिन्न व्यक्ति था। माथुर तो केवल उसका प्रवक्ता है।

५. वररुचि (विक्रम समकालीन)

'निरुक्तसमुच्चय' के कर्ता वररुचि कात्यायन ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में है। वृत्तिकार वररुचि कात्यायन, वार्तिककार वररुचि कात्यायन से भिन्न अर्वाचीन व्यक्ति है। 'सदुक्तिकर्णामृत' के एक श्लोक से विदित होता है कि इसका एक नाम श्रुतिधर भी था। 'निरुक्तसमुच्चय' से प्रतीत होता है कि यह किसी राजा का धर्माधिकारी था। अनेक इसे विक्रमादित्य का पुरोहित मानते हैं।

भारतीय इतिहास के प्रामाणिक विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' ग्रन्थ में अनेक प्रमाणों से वररुचि और विक्रम साहसाङ्क को समकालीन सिद्ध किया है।

६. देवनन्दी (सं० ५०० वि० से पूर्व)

'जैनेन्द्रशब्दानुशासन' के रचयिता देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद ने अष्टाध्यायी पर '**शब्दावतारन्यास**' नाम्नी टीका लिखी थी। इस समय यह अप्राप्य है।

परिचय

देवनन्दी के पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। ये दोनों वैदिक मतानुयायी थे। इनका जन्म कर्नाटक देश के 'काले' नामक ग्राम में हुआ था। माधव भट्ट ने अपनी स्त्री के कहने से जैन मत स्वीकार किया था।

देवनन्दी जैनमत के प्रामाणिक आचार्य हैं। गणरत्नमहोदधि के कर्ता वर्धमान ने इन्हें 'दिग्वस्त्र' नाम से स्मरण किया है।

काल

'जैनेन्द्रशब्दानुशासन' में देवनन्दी ने **'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्'** (२।२।६२) उदाहरण दिया है। इसमें 'लङ्' लकार का प्रयोग होने से यह घटना देव-नन्दी के जीवनकाल में घटित सिद्ध होती है। महाराज महेन्द्र अपर नाम कुमार गुप्त का काल पाश्चात्य विद्वान् वि० सं० ४७०–५१२ मानते हैं। भारतीय कालगणनानुसार कुमार गुप्त का काल वि० सं ६६–१३६ तक निश्चित है क्योंकि उसके शिलालेख उक्त संवत्सरों के उपलब्ध हो चुके हैं। यदि भारतीय काल गणना को अभी न स्वीकार किया जाय तो भी पाश्चात्य मतानुसार इतना तो निश्चित है कि पूज्यपाद देवनन्दी का काल विक्रम की पाँचवी शती के उत्तरार्ध से षष्ठ शती के प्रथमचरण के मध्य है।

७. दुर्विनीत (सं० ५३६—५६६ वि०)

महाराज पृथिवीकोंकण के दानपत्र से विदित होता है कि दुर्विनीत ने 'शब्दावतार' नामक ग्रन्थ लिखा था। अनेक विद्वानों का मत है कि यह ग्रन्थ अष्टाध्यायी की टीका है।

आचार्य पूज्यपाद ने भी 'शब्दावतार' संज्ञक एक ग्रन्थ लिखा था। महाराज दुर्विनीत आचार्य पूज्यपाद का शिष्य है। गुरु-शिष्य दोनों के पाणिनीय ग्रन्थ पर लिखे ग्रन्थ का एक ही नाम होने से यह सम्भावना होती है कि आचार्य पूज्यपाद ने ग्रन्थ लिखकर अपने शिष्य के नाम से प्रचरित कर दिया हो।

८. चुल्लि भट्टि (सं० ७०० वि० से पूर्व)

चुल्लि भट्टि विरचित 'अष्टाध्यायी-वृत्ति' का उल्लेख जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास और उसकी तन्त्रप्रदीप नाम्नी टीका में उपलब्ध होता है। यह वृत्ति काशिका से प्राचीन है।

९. निर्लूर (सं० ७०० वि० से पूर्व)

निर्लूर-विरचित वृत्ति का उल्लेख 'न्यास' में हुआ है। काशिका के व्याख्याता विद्यासागर मुनि ने भी इस वृत्ति का उल्लेख किया है। श्रीपतिदत्त ने 'कातन्त्र परिशिष्ट' में इस वृत्ति का पाठ उद्धृत किया है। न्यासकार और विद्यासागर के वचनानुसार यह वृत्ति काशिका से प्राचीन है।

१०-११. जयादित्य और वामन (सं० ६५०—७०० वि०)

जयादित्य और वामन दोनों की रचित सम्मिलित वृत्ति 'काशिका' नाम से प्रसिद्ध है। महाभाष्य और भर्तृहरिविरचित ग्रन्थों के बाद काशिका वृत्ति सर्वाधिक समादृत और महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसमें बहुत से सूत्रों की वृत्ति और उदाहरण प्राचीन वृत्तियों से संगृहीत हैं।

चीनी यात्री इत्सिंग ने 'जयादित्य' को काशिका का रचयिता लिखा है। उसने 'वामन' का निर्देश नहीं किया। 'भाषावृत्त्यर्थ विवृति' के रचयिता सृष्टिधराचार्य ने भी भाषावृत्ति के अन्तिम श्लोक की व्याख्या में काशिका को जयादित्य विरचित ही लिखा है। संस्कृत वाङ्मय में अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जो दो व्यक्ति के लिखे हुए हैं किन्तु उद्धृत करने वाले लोग उन्हें किसी एक ही व्यक्ति के नाम से उद्धृत करते हैं।

'काशिका' की प्राचीनतम व्याख्या जिनेन्द्रबुद्धि विरचित 'काशिका-विवरणपञ्जिका' अपर नाम 'न्यास' है। यह व्याख्या जयादित्य और वामन की सम्मिलित वृत्ति पर है।

जयादित्य और वामन के ग्रन्थ का विभाग

(१) पं० बाल शास्त्री द्वारा सम्पादित काशिका के अनुसार प्रथम चार अध्यायों के कर्ता जयादित्य और शेष अन्तिम चार अध्यायों के कर्ता वामन हैं।

(२) 'प्रौढ मनोरमा' की शब्दरत्न व्याख्या में हरिदीक्षित ने प्रथम, द्वितीय, पञ्चम तथा षष्ठ इन चार अध्याय को जयादित्य विरचित और शेष अध्यायों को वामन कृत लिखा है।

(३) प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा जयादित्य और वामन के नाम से उद्धृत उद्धरणों से विदित होता है कि प्रथम पाँच अध्याय जयादित्य विरचित हैं और अन्तिम तीन वामन कृत।

काशिका की शैली के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि प्रथम पाँच अध्याय जयादित्यविरचित हैं और शेष तीन वामन कृत। जयादित्य की अपेक्षा वामन का लेख अधिक प्रौढ़ है।

जयादित्य और वामन की सम्पूर्ण वृत्तियाँ

यद्यपि जिनेन्द्रबुद्धिविरचित **'काशिकाविवरणपञ्जिका'** अपर नाम 'न्यास' जयादित्य और वामन की सम्मिलित वृत्तियों पर है, तथापि उसी में उद्धृत कई उद्धरणों तथा हरदत्त कृत पदमञ्जरी (६।१।१३) से स्पष्ट विदित होता है कि जयादित्य और वामन ने अलग-अलग सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर वृत्तियाँ रची थीं और न्यासकार तथा हरदत्त के काल तक वे सुप्राप्य थीं।

दोनों वृत्तियों का सम्मिश्रण कब और क्यों हुआ, यह अज्ञात है। यह संमिश्रण 'भागवृत्ति' बनने (वि० सं० ७००) से पूर्व ही हो चुका था, यह निश्चित है, क्योंकि 'भाषावृत्ति' आदि में 'भागवृत्ति' के जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं, उनमें जयादित्य और वामन की सम्मिलित वृत्तियों का खण्डन उपलब्ध होता है।

जयादित्य का काल

इत्सिंग के लेखानुसार जयादित्य की मृत्यु वि० सं० ७१८ के लगभग हुई थी। यह जयादित्य की चरम सीमा है। महाराज दुर्विनीत (वि० सं० ५३६—५६६ राज्य काल) ने किरात के पन्द्रहवें सर्ग की टीका लिखी है। अतः भारवि सं० ५३६ वि० से पूर्वभावी हैं। भारवि का एक पद्यांश काशिका (१।३।२३) में उद्धृत है। अतः काशिका की पूर्व सीमा सं० ५३६ वि० है।

वामन का काल

अनेक वामन—संस्कृत वाङ्मय में वामन नाम के अनेक विद्वान् प्रसिद्ध हैं। एक वामन 'विश्रान्तविद्याधर' नामक जैन व्याकरण का कर्ता है। दूसरा 'अलङ्कार शास्त्र' का रचयिता है और तीसरा 'लिङ्गानुशासन' का रचयिता है। ये सब पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। काशिका का रचयिता वामन इन सब से भिन्न है। क्योंकि जयादित्य और वामन की वृत्तियों का खण्डन 'भागवृत्ति' में मिलता है और भागवृत्ति का काल वि० सं० ७०२—७०५ तक है। तदनुसार वामन का काल वि० सं० ७०० से पूर्व मानना होगा। अलङ्कारशास्त्ररचयिता वामन और लिङ्गानुशासनकर्ता वामन दोनों का काल विक्रम की नवम शताब्दी है। **विश्रान्तविद्याधर'** का कर्ता वामन वि० सं० ३७५ अथवा वि० सं० ५७३ से पूर्वभावी है।

काशिका : नामकरण

पदमञ्जरीकार हरदत्त और वृत्तिप्रदीपकार रामदेव मिश्र के अनुसार काशी में इसकी रचना हुई थी अतः 'काशिका' नाम रखा गया—

काशिका देशतोऽभिधानम्, काशीषु भवा'।

(पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४ तथा वृत्ति प्रदीप के प्रारम्भ में)

उणादिवृत्तिकार उज्ज्वलदत्त और भाषावृत्त्यर्थ विवृतिकार सृष्टिधर का भी यही मत है।

[डॉ० सत्यकाम वर्मा का मत है कि **इष्ट्युपसंख्यानवती'** कारिका में जयादित्य स्वयं और इस कारिका की व्याख्या में न्यासकार, गुणों की परिगणना करते हुए 'काशिका' के काशी में बनने की बात पर जोर न देकर उसके नाम को **सार्थक नाम** (प्रकाशिका=काशिका) के रूप में मानते हुए प्रतीत होते हैं। सृष्टिधराचार्य का वचन है—**'काशयति=प्रकाशयति सूत्रार्थमिति काशिका, जयादित्यवृत्तिविरचिता वृत्तिः। काश्यां भवा वा।'**

काशिका का नामान्तर एकवृत्ति

'भागवृत्ति' में पाणिनीय सूत्रों को लौकिक और वैदिक दो भागों में बाँट कर भागशः उनकी व्याख्या की गयी थी। काशिका में पाणिनीय क्रमानुसार लौकिक और वैदिक सूत्रों की यथा स्थान व्याख्या की गयी है। इसलिए 'भागवृत्ति' के प्रतिपक्ष में काशिका के लिए "**एकवृत्ति**" शब्द का भी व्यवहार होता है।

इसी तरह काशिका के लिए 'प्राचीन वृत्ति' शब्द का भी व्यवहार होता है।

काशिका की विशेषताएं और महत्त्व

१. काशिका से प्राचीन और समकालीन वृत्तियों में गणपाठ नहीं था, जब कि इसमें गणपाठ का यथास्थान सन्निवेश है।

२. अष्टाध्यायी की प्राचीन विलुप्त वृत्तियों और ग्रन्थकारों के अनेक मत इस ग्रन्थ में उद्धृत हैं, जिनका अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता।

३. इसमें अनेक सूत्रों की व्याख्या प्राचीन वृत्तियों के आधार पर लिखी है। अतः उनसे प्राचीन वृत्तियों के सूत्रार्थ जानने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

काशिका में जहाँ-जहाँ महाभाष्य से विरोध है, वहाँ-वहाँ प्रायः प्राचीन वृत्तियों का अनुसरण किया गया है। अतः उन्हें 'महाभाष्यविरुद्ध' कह कर

हेय ठहराना उचित नहीं है। वे भी प्राचीन आचार्यों के वचनों पर ही आधृत हैं।

४. काशिकान्तर्गत उदाहरण-प्रत्युदाहरण प्रायः प्राचीन वृत्तियों से लिये गये हैं जिनसे अनेक प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान होता है।

५. यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक प्रभाव से मुक्त है। सारे ग्रन्थ में केवल दो-तीन उदाहरण ही कथंचित् साम्प्रदायिक कहे जा सकते हैं।

भट्टोजिदीक्षित आदि ने अपने ग्रन्थां में नये-नये उदाहरण देकर प्राचीन ऐतिहासिक निर्देशों का लोप कर दिया, साथ ही साम्प्रदायिक उदाहरणों के बाहुल्य से पाणिनीयशास्त्र को भी साम्प्रदायिक रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की।

काशिका का पाठ

लिपिकारों के प्रमाद से प्राचीन ग्रन्थों का स्वरूप कितना विकृत हुआ है, काशिका भी इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। काशिका में पाठों की अव्यवस्था प्राचीन काल से ही रही है। जयादित्य और वामन के काल से न्यासकार के काल तक ही आते-आते काशिका का पाठ इतना भ्रष्ट हो चुका था कि न्यासकार को भी खीझकर काशिका की (१।१।५) की व्याख्या में लिखना पड़ा—

('अन्ये तूत्तरसूत्रे कणिताश्वो रणिताश्व इत्यनन्तरमनेन ग्रन्थेन भवितव्यम्, इह तु दुर्विन्यस्तकाकपदजनितभ्रान्तिभिः कुलेखकैर्लिखितमिति वर्णयन्ति।'

'पदमंजरी' तक आते-आते तो और भी अधिक पाठ भेद हो गया था। न्यास और पदमंजरी दोनों व्याख्याग्रन्थों में काशिका के पाठान्तर उद्धृत किये गये हैं।

इस वृत्ति के महत्त्व को देखते हुए इसके शुद्ध संस्करण की महती आवश्यकता है।

काशिका की व्याख्याएं

काशिका पर अनेक आचार्यों ने व्याख्याएँ लिखी हैं। उनका वर्णन आगे पन्द्रहवें अध्याय में किया जायगा।

१२. भागवृत्तिकार (रचना काल ७०२–७०६ वि०)

अष्टाध्यायी की वृत्तियों में 'काशिका' के बाद 'भागवृत्ति' का स्थान है। यह वृत्ति इस समय अनुपलब्ध है। इस वृत्ति के उद्धरण पदमञ्जरी, भाषा-

वृत्ति, दुर्घटवृत्ति और अमरटोकासर्वस्व आदि विभिन्न ग्रंथों में मिलते हैं। पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि यह वृत्ति 'काशिका' के समान ही प्रामाणिक मानी जाती थी।

भट्टोजिदीक्षित में शब्दकौस्तुभ और सिद्धान्त कौमुदी में भागवृत्ति के अनेक उद्धरण मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि विक्रम की सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक भाग वृत्ति के हस्तलेख सुप्राप्य थे।

भागवृत्ति का रचयिता

'भाषावृत्ति' के व्याख्याता सृष्टिधर चक्रवर्ती के अनुसार वलभी के राजा श्रीधरसेन की आज्ञा से भर्तृहरि ने भागवृत्ति की रचना की थी—

'भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता।'

(भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति ८।१।६७)

'कातन्त्रपरिशिष्ट' के रचयिता श्रीपतिदत्त ने सन्धिसूत्र १४२ पर लिखा है—

तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिनाप्येवं निपातितः।

इससे प्रतीत होता है कि भागवृत्ति के रचयिता का नाम 'विमलमति' था। सृष्टिधराचार्य और श्रीपतिदत्त दोनों के लेख ठीक हैं, इनमें परस्पर विरोध नहीं है। जैसे कवि समाज में कवियों का औपाधिक नाम कालिदास है, वैसे ही वैयाकरण निकाय में अनेक उत्कृष्ट वैयाकरणों का भर्तृहरि औपाधिक नाम रहा है। विमलमति ग्रन्थकार का मुख्य नाम है और भर्तृहरि उसका औपाधिक नाम है। विमलमति बौद्धसम्प्रदाय का प्रसिद्ध व्यक्ति है।

भागवृत्तिकार का काल

सृष्टिधराचार्य ने लिखा है कि भागवृति की रचना महाराज श्रीधरसेन की आज्ञा से हुई थी। वलभी के राजकुल में चार श्रीधरसेन नाम के राजा हुए हैं जिनका राज्यकाल वि० सं० ५५७–७०५ तक माना जाता है। भागवृत्ति की रचना 'काशिका' के बाद हुई है क्योंकि भागवृत्ति में स्थान-स्थान पर काशिका का खण्डन मिलता है। काशिका का रचना-काल सं० ६५०–७०० वि० है। चतुर्थ श्रीधरसेन का राज्यकाल वि० सं० ७०२–७०५ तक है। अतः चतुर्थ श्रीधरसेन की आज्ञा से भागवृत्ति की रचना हुई होगी।

न्यास के सम्पादक ने भागवृत्ति का काल सन् ६२५ ई० (सं० ६८२ वि०) और काशिका का सन् ६५० ई० (सं० ७०७ वि०) माना है अर्थात् भागवृत्ति की रचना काशिका से पूर्व स्वीकार किया है। इसी प्रकार गुरुपद हालदार

ने भागवृत्ति की रचना नवम शताब्दी में माना है। ये दोनों मत ठीक नहीं हैं। वस्तुतः भागवृत्ति की रचना वि० ७०२–७०५ के मध्य हुई है, ऐसा उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

काशिका और भागवृत्ति

भागवृत्ति में स्थान-स्थान पर काशिका का खण्डन मिलता है। दोनों वृत्तियों में परस्पर महान् अन्तर है। इसका मुख्य कारण यह है कि काशिकाकार महाभाष्य को एकान्त प्रमाण न मानकर अनेक स्थानों में प्राचीन वृत्तिकारों के मतानुसार व्याख्या करता है। अतः उसकी वृत्ति में अनेक स्थानों में महाभाष्य से विरोध मिलता है। भागवृत्तिकार महाभाष्य को पूर्णतया प्रमाण मानता है। इस कारण वह वैयाकरण-सम्प्रदाय में अप्रसिद्ध शब्दों की कल्पना करने से भी नहीं चूकता।

भागवृत्ति के उद्धरण

अभी तक भागवृत्ति के १६८ उद्धरण ३७ ग्रन्थों में उपलब्ध हो चुके हैं। इनमें ३४ ग्रन्थ मुद्रित हैं। भागवृत्ति के उद्धरणों का संकलन करके **'भागवृत्ति-संकलनम्'** नाम से उनके संग्रह का एक परिबृंहित संस्करण (मीमांसक जी के द्वारा) प्रकाशित किया जा चुका है।

भागवृत्ति-व्याख्याता श्रीधर

लीलाशुक मुनि ने 'दैवम्' ग्रन्थ की 'पुरुषकार' नामी व्याख्या लिखी है। उसमें भागवृत्ति का उद्धरण देकर लीलाशुक मुनि ने लिखा है—

'भागवृत्तौ तु सीक्ङसेक्ङ इत्यधिकमपि पठ्यते। तच्च सीकृ सेचने इति श्रीधरो व्याकरोत्, एतानष्टौ वर्जयित्वा इति चाधिक्यमेव मुक्तकण्ठमुक्तवान्।'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि श्रीधर ने भागवृत्ति की व्याख्या की थी। माधवीया धातुवृत्ति में श्रीकर अथवा श्रीकार नाम से इसका निर्देश मिलता है। ये दोनों नाम श्रीधर नाम के ही अपभ्रंश प्रतीत होते हैं। लीलाशुक मुनि (तेरहवीं शताब्दी) के द्वारा उद्धृत श्रीधर निश्चय ही उससे प्राचीन हैं।

१३. मैत्रेयरक्षित (सं० ११६५ के लगभग)

मैत्रेयरक्षित ने अष्टाध्यायी की एक 'दुर्घटवृत्ति' लिखी थी। उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति में मैत्रेयरक्षित की दुर्घटवृत्ति के दो उद्धरण मिलते हैं। मैत्रेयरक्षितकृत 'दुर्घटवृत्ति' इस समय अनुपलब्ध है। मैत्रेयरक्षित का काल लगभग वि० सं० ११६५ है।

१४. पुरुषोत्तमदेव (सं० १२०० वि० से पूर्व)

पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी की एक लघुवृत्ति रची है। इसमें अष्टाध्यायी के केवल लौकिक सूत्रों की व्याख्या है। अतएव इसका दूसरा नाम 'भाषा-वृत्ति' अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जो सम्प्रति अप्राप्य हैं।

पुरुषोत्तमदेव के काल आदि के विषय में ग्यारहवें अध्याय में लिखा जा चुका है। पाठक वहीं देखें।

पुरुषोत्तमदेव : दुर्घटवृत्ति

सर्वानन्द ने 'अमरकोषटीकासर्वस्व' में लिखा है—

'पुरुषोत्तमदेवेन गुर्विणीत्यस्य दुर्घटेऽसाधुत्वमुक्तम्।'

इससे प्रतीत होता है कि पुरुषोत्तमदेव ने कोई 'दुर्घटवृत्ति' भी लिखी थी। शरणदेव ने अपनी 'दुर्घटवृत्ति' में 'गुर्विणी' पद का साधुत्व दर्शाया है। सर्वानन्द ने अपना उक्त ग्रन्थ वि० सं० १२१६ में लिखा था। शरणदेवकृत दुर्घटवृत्ति का रचनाकाल वि० सं० १२३० है। अतः सर्वानन्द के उद्धरण में 'पुरुषोत्तमदेवेन' पाठ अनवधानतामूलक नहीं कहा जा सकता। शरणदेव ने अपनी दुर्घटवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव के नाम से अनेक ऐसे पाठ उद्धृत किये हैं जो भाषावृत्ति में उपलब्ध नहीं होते। शरणदेव ने उन पाठों को पुरुषोत्तमदेव की दुर्घटवृत्ति से अथवा उनके अन्य ग्रन्थों से लिया होगा।

भाषावृत्ति-व्याख्याता सृष्टिधर

सृष्टिधर चक्रवर्ती ने भाषावृत्ति की 'भाषावृत्त्यर्थविवृति' नाम्नी एक टीका लिखी है। इसकी 'चक्रवर्ती' उपाधि से व्यक्त होता है कि यह वङ्गप्रान्त का निवासी था।

सृष्टिधर ने भाषावृत्त्यर्थविवृति' में जिन ग्रन्थों या ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है, वे सब विक्रम की १४वीं शताब्दी से अर्वाचीन नहीं हैं। उसमें 'मञ्जूषा' भी उद्धृत है किन्तु यह नागेश की 'लघुमञ्जूषा' नहीं है, क्योंकि नागेश भट्ट का काल विक्रम की १८ वीं शताब्दी का मध्यभाग है जब कि भाषावृत्ति के सम्पादक ने शकाब्द १६३१ और १६३६ अर्थात् वि० सं० १७६६ और १७७१ के भाषावृत्त्यर्थविवृति के दो हस्तलेखों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि भाषावृत्त्यर्थविवृति की रचना नागेशभट्ट से पहिले हुई है। अतः सृष्टिधर विक्रम की १५ वीं शताब्दी का ग्रन्थकार है।

१५. शरणदेव (सं० १२३० वि०)

शरणदेव ने अष्टाध्यायी पर 'दुर्घटवृत्ति' नाम से वृत्ति लिखी है। यह व्याख्या अष्टाध्यायी के विशेष सूत्रों पर ही है। जो पद व्याकरण से साधारणतया सिद्ध नहीं होते, उनके साधुत्वज्ञापन के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है। अतः इसका अन्वर्थनाम 'दुर्घटवृत्ति' रखा गया।

शरणदेव बौद्धमतावलम्बी प्रतीत होते हैं। इन्होंने मङ्गलश्लोक में सर्वज्ञ (बुद्ध) को नमस्कार किया है और बौद्ध ग्रन्थों के अनेक प्रयोगों का साधुत्व दर्शाया है।

शरणदेव ने स्वयम् वास्तविक 'दुर्घटवृत्ति' का रचनाकाल शकाब्द १०९५ (अर्थात् वि० सं० १२३०) लिखा है।

'दुर्घटवृत्ति' के प्रारम्भ में लिखा है कि शरणदेव के कहने से श्री सर्वरक्षित ने इस ग्रन्थ का संक्षेप करके प्रतिसंस्कृत किया।

'दुर्घटवृत्ति' की विशेषता

संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त दुःसाध्य प्रयोगों के साधुत्वनिदर्शन के लिए इस ग्रन्थ की रचना हुई है। प्राचीनकाल से इस प्रकार के ग्रन्थों की रचना की परम्परा रही है। मैत्रेयरक्षित और पुरुषोत्तम देव ने 'दुर्घटवृत्ति' नाम से ग्रन्थ लिखे थे। शरणदेव ने भी ऐसे ही दुःसाध्य प्रयोगों का साधुत्व प्रदर्शित करने के लिए 'दुर्घटवृत्ति' की रचना की। सम्प्रति ऐसे ग्रन्थों में केवल शरणदेव की ही 'दुर्घटवृत्त' उपलब्ध है। शरणदेव का यह प्रयास स्तुत्य है। उन्होंने कई पदों के साधुत्व प्रदर्शन के प्रायास में पुरुषोत्तमदेव से भिन्न मत भी प्रदर्शित किया है। 'गुर्विणी' पद इसका उदाहरण है। सर्वानन्द कृत 'अमरकोषटीकासर्वस्व' के **'पुरुषोत्तमदेवेन गुर्विणीत्यस्य दुर्घटेऽसाधुत्वमुक्तम्'** वचन से स्पष्ट है कि पुरुषोत्तमदेव ने अपनी 'दुर्घटवृत्ति' में गुर्विणी' पद को असाधु कहा है किन्तु शरणदेव ने अपनी 'दुर्घटवृत्ति' में 'गुर्विणी' पद का साधुत्व दर्शाया। यद्यपि शब्दकौस्तुभ आदि अर्वाचीन ग्रंथों में इसके बताए गये कई साधु प्रयोगों को असाधु दिखा कर शरणदेव के मत का खण्डन किया है तथापि कृच्छ्र साध्य प्रयोगों के साधुत्व दर्शाने के लिए इस ग्रन्थ में जिस शैली का आश्रय लिया है, उसका प्रायः अनुसरण अर्वाचीन ग्रन्थकार भी करते हैं। यह शरणदेव की शैली का अपना प्रभाव ही कहा जा सकता है।

शरणदेव ने इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वचन उद्धृत किये हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। इस दृष्टि से भी

इस ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ जाता है। ग्रन्थकार द्वारा ग्रंथ-निर्माण का काल लिख दिये जाने से अनेक अन्य ग्रंथों और ग्रंथकारों के काल निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है।

१६. अन्नम्भट्ट (सं० १५५०—१६०० वि०)

अष्टाध्यायी पर अन्नम्भट्ट ने **'पाणिनीय मिताक्षरा'** नाम्नी वृत्ति रची है। यह वृत्ति साधारण है। काशी से इसका प्रकाशन भी हो चुका है।

अन्नम्भट्ट का पूर्ण परिचय बारहवें अध्याय में देखिए।

१७. भट्टोजिदीक्षित (सं० १५७०—१६५० वि० के मध्य)

भट्टोजिदीक्षित ने अष्टाध्यायी की **'शब्दकौस्तुभ'** नाम्नी महती वृत्ति लिखी है। इस समय इसके प्रारम्भ के ढाई अध्याय और चतुर्थ अध्याय उपलब्ध होते हैं।

'शब्द कौस्तुभ' के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में भट्टोजिदीक्षित ने अपने शब्दों में प्रायः पतञ्जलि, कैयट और हरदत्त के ग्रन्थों का संग्रह किया है। यह भाग अधिक विस्तार से लिखा गया है। अगले भाग में संक्षेप से काम लिया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ-कृत प्रौढमनोरमाखण्डन से प्रतीत होता है कि भट्टोजिदीक्षित ने नृसिंहपुत्र शेषकृष्ण से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजिदीक्षित ने भी शब्दकौस्तुभ में शेषकृष्ण के लिए गुरु शब्द का व्यवहार किया है।

भट्टोजिदीक्षित का काल

डॉ० वेल्वालकर भट्टोजिदीक्षित का काल सन् १६००—१६५० (वि० सं० १६५७—१७०७) मानते हैं। अन्य ऐतिहासिक वि० सं० १६३७ मानते हैं।

शेषकृष्ण-विरचित 'प्रक्रियाकौमुदी' की व्याख्या का वि० सं० १५१४ का एक हस्तलेख मिलता है। विट्ठलविरचित 'प्रक्रियाप्रसादटीका' का वि० सं० १५३६ का एक हस्तलेख उपलब्ध है। विट्ठल ने व्यकरण का अध्ययन शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर (अपर नाम रामेश्वर) से किया था। विट्ठल के अध्ययन-काल में शेषकृष्ण का देहावसान हो गया था, इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं। हो सकता है कि शेषकृष्ण के जीवित रहते हुए भी किन्हीं कारणों से विट्ठल ने उनके-पुत्र विरेश्वर से अध्ययन किया हो। अधिक सम्भव है कि शेषकृष्ण वृद्धावस्था में काशी-चले गये हों और वहीं भट्टोजिदीक्षित ने उनसे

अध्ययन किया हो। साथ ही यह भी सम्भव है कि शेषकृष्ण चिरजीवी रहे हों और उनके अन्तिम काल में भट्टोजिदीक्षित ने शिष्यत्व ग्रहण किया हो। यह बात अन्य प्रमाण से भी सिद्ध हो जाय, तो भट्टोजिदीक्षित का काल वि० सं० १५७० से १६५० के मध्य उपपन्न हो सकता है और काल विषयक कई विसंगतियाँ दूर हो सकती हैं।

अन्य व्याकरण ग्रन्थ

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ के अतिरिक्त 'सिद्धान्तकौमुदी' और उसकी व्याख्या 'प्रौढ़मनोरमा' लिखी है इनका वर्णन आगे सोलहवें अध्याय में देखिए।

सिद्धान्तकौमुदी के 'उत्तर कृदन्त' के अन्त में लिखा है—

इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे ॥

इससे यह व्यक्त होता है कि शब्दकौस्तुभ की रचना सिद्धान्तकौमुदी से पहिले हो चुकी थी और शब्दकौस्तुभ ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर रचा गया था। अतोलोपः (६।४।५८) सूत्र की प्रौढ़मनोरमा और उसकी शब्द-रत्नव्याख्या से इतना स्पष्ट है कि शब्दकौस्तुभ षष्ठाध्याय तक अवश्य लिखा गया था।

शब्दकौस्तुभ के टीकाकार

शब्दकौस्तुभ के प्रथम पाद के छः टीकाकारों का उल्लेख मिलता है—

१. नागेश—विषमपदी
२. वैद्यनाथ पायगुण्ड—प्रभा
३. विद्यानथ् शुक्ल—उद्योत
४. राघवेन्द्रा चार्य—प्रभा
५. कृष्णमित्र—भावप्रदीप
६. भास्कर दीक्षित—शब्दकौस्तुभदूषण

कौस्तुभखण्डनकर्त्ता—पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने भट्टोजिदीक्षित के 'पौढमनोरमा' ग्रन्थ के खण्डन में जिसप्रकार 'मनोरमाकुचमर्दन' ग्रन्थ लिखा है उसी प्रकार उनके 'शब्दकौस्तुभ' ग्रन्थ के भी खण्डन में कोई ग्रन्थ लिखा था; ऐसा पण्डितराज के 'मनोरमाकुचमर्दन' में लिखे वचन से स्पष्ट विदित होता है—

इत्थं च ओत् सूत्रगतकौस्तुभग्रन्थः सर्वोऽप्यसंगत इति ध्येयम्।
अधिकं कौस्तुभखण्डनादवसेयम्।'

भट्टोजिदीक्षित से विग्रह का कारण—पण्डितराज जगन्नाथ के, दीक्षित के साथ उत्पन्न वैर के विषय में एक कवि ने लिखा है—

दृप्यद् द्राविडदुर्ग्रहवशाम्लिष्टं गुरुद्रोहिणा
यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना।
तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्सव्यमृद्नात् कुचम्,
निर्बध्यास्य मनोरमामवशयन्नप्पयाद्यान्स्थितान्॥

अर्थात् गर्वीले द्राविड (अप्पयदीक्षित) के दुराग्रहरूप भूतावेश से गुरुद्रोही भट्टोजिदीक्षित ने भरी सभा में विना विचारे पण्डितराज को 'म्लेच्छ' कह दिया था। उसको धैर्यनिधि पण्डितराज ने उनकी मनोरमा का कुचमर्दन करके सत्य कर दिया। अप्पयदीक्षित आदि (भट्टोजिदीक्षित के समर्थक) देखते रह गये।

परिचय तथा काल

पण्डितराज तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनका दूसरा नाम 'वेल्लनाडू' था और इनको 'त्रिशूली' भी कहते थे। 'जगन्नाथ' नाम अधिक प्रसिद्ध था। इनके पिता का नाम 'पेरंभट्ट' और माता का नाम 'लक्ष्मी' था। पेरंभट्ट भी व्याकरण, वेदान्त, न्यायवैशेषिक और मीमांसा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। पण्डितराज दिल्ली के सम्राट् शाहजहाँ और दाराशिकोह के प्रेमपात्र थे। शाहजहाँ ने ही इन्हें 'पण्डितराज' की पदवी प्रदान की थी। शाहजहाँ वि० सं० १६८४ में गद्दी पर बैठा था। पण्डितराज, चित्रमीमांसाकार अप्पयदीक्षित के समकालीन कहे जाते हैं, किन्तु इसमें कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। पण्डितराज ने शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर (अपर नाम रामेश्वर) से विद्याध्ययन किया था। विट्ठल ने वि० सं० १५३६ से बहुत पूर्व वीरेश्वर से व्याकरण पढ़ा था। इस प्रकार पण्डितराज का काल वि० सं० १५७५—१६६० तक स्थिर होता है।

भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' में अपने गुरु शेषकृष्ण विरचित 'प्रक्रिया-प्रकाश' का खण्डन किया है। अतः पण्डितराज ने प्रौढ़मनोरमा खण्डन में उन्हें 'गुरुद्रोही' शब्द से स्मरण किया है।

१८. अप्पय्य दीक्षित (१५७५–१६५० वि० के मध्य)

अप्पय्य दीक्षित ने पाणिनीय सूत्रों की 'सूत्रप्रकाश' नामी व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख 'अड्यार के राजकीय पुस्तकालय' में विद्यमान है।

परिचय

अप्पय्य दीक्षित के पिता का नाम 'रङ्गराज अध्वरी' और पितामह का नाम 'आचार्य दीक्षित' था। कई लोगों का मत है कि इनका पूरा नाम नारायणाचार्य था। इनका गोत्र भरद्वाज था। शैव मत के ये महान् स्तम्भ माने जाते थे। अप्पय्य दीक्षित के लघु भ्राता का नाम 'अच्चान दीक्षित' था। अच्चान दीक्षित के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के 'शिवलीलार्णव' काव्य से ज्ञात होता है कि अप्पय्य दीक्षित ७२ वर्ष की आयु तक जीवित रहे और उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थ लिखे।

काल

अप्पय्य दीक्षित का काल बड़ा सन्दिग्ध-सा है। इनके काल-निर्णय के लिए आधारभूत निम्नलिखित सामग्री उपलब्ध हैं—

१—विठ्ठलकृत **'प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद'** का वि० सं० १५३६ का एक हस्तलेख मिलता है। भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेषकृष्ण में प्रक्रियाकौमुदी पर 'पक्रियाप्रकाश' (अपर नाम प्रक्रियाकौमुदीवृत्ति) नाम की एक व्याख्या लिखी थी। इसका वि० सं० १५१४ का एक हस्तलेख उपलब्ध है। शेषकृष्ण को चिरजीवी मानकर भट्टोजिदीक्षित का काल वि० सं० १५७०–१६५० के मध्य स्वीकार किया है। भट्टोजिदीक्षित ने 'तत्त्वकौस्तुभ' में अप्पय्य दीक्षित को नमस्कार किया है।

अत: अप्पय्य दीक्षित का काल वि० सं० १५७५–१६५० के मध्य होना चाहिए।

२—अप्पय्य दीक्षित के पितामह आचार्य दीक्षित विजयनगराधिप कृष्णदेव राय के सभापण्डित थे। कृष्णदेवराय का राज्यकाल वि० सं० १५६६-१५८६ तक माना जाता है। अत: अप्पय्य दीक्षित का काल वि० सं० १५५०-१६२५ तक सामान्यतया माना जा सकता है।

३—अप्पय्य दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ के उल्लेख से विदित होता है कि अप्पय्य दीक्षित ने 'यादवाभ्युदय' की टीका वेल्लूर के राजा चिन्नतिम्म नायक की प्रेरणा से लिखी थी। चिन्नतिम्म नायक का राज्यकाल वि० सं० १५९९–१६०७ तक है।

४—अप्पय्य दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने 'नीलकण्ठचम्पू' की रचना कलि सं० ४७३८ (वि० सं० १६९४) में की थी।

५—श्री पं० पद्मनाभराव सूचना देते हैं—

अप्पय्य दीक्षित ने श्री विजयेन्द्रतीर्थ और ताताचार्य के साथ शेवप्पनायक की सभा को अलंकृत किया था। शेवप्पनायक ने वि० सं० १६३७ में श्री विजयेन्द्रतीर्थ को ग्रामदान किया था। मैसूर पुरातत्त्व विभाग के १६१७ के संग्रह (रिपोर्ट) में निम्न श्लोक उद्धृत है—

त्रेताग्नय इव स्पष्टं विजयीन्द्रयतीश्वरः।
ताताचार्यो वैष्णवाग्रचः सर्वशास्त्र विशारदः॥
शैवाद्वैतैकसाम्राज्यः श्रीमान् अप्पयदीक्षितः।
तत्सभायां मतं स्वं स्वं स्थापयन्तस्स्थितास्त्रयः॥

इससे स्पष्ट है कि अप्पयदीक्षित का काल वि० सं० १५७५-१६५० के मध्य है।

६. 'हिन्दुत्व' के लेखक रामदास गौड ने लिखा है कि अप्पय्य दीक्षित तिरुमल्लई (सं० १६२४-१६३१); **चिन्नतिम्म** (सं० १६३१-१६४२) और **वेंकट** (सं० १६४२–) इन तीनों के सभापडित थे। उनका जन्म सं० १६०८ में हुआ था और मृत्यु ७२ वर्ष की आयु में सं० १६८० में हुई थी।

७. पुनः 'हिन्तुत्व' के लेखक ने लिखा है कि नृसिंहाश्रम की प्रेरणा से अप्पय्यदीक्षित ने 'परिमलन्यायरक्षामणि' और 'सिद्धान्तलेश' आदि ग्रन्थों की रचना की थी। नृसिंहाश्रमविरचित 'तत्त्वविवेक' ग्रन्थ की परिसमाप्ति वि० सं० १६०४ में हुई थी, ऐसा उन्होंने स्वयं निर्देश किया है। नृसिंहाश्रम, जगन्नाथाश्रम के शिष्य थे। 'प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद' के लेखक विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी के अन्त के १४वें श्लोक में स्मृत, अपने समसामयिक 'जगन्नाथाश्रम' का नाम लिखा है। विट्ठल की प्रक्रियाकौमुदी-प्रसाद का एक हस्तलेख वि० सं० १५३६ का उपलब्ध है।

८. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' के लेखक कन्हैयालाल पोद्दार ने अप्पय्य दीक्षित का काल सन् १६५७ (वि० सं० १७१४) तक माना है। वे लिखते हैं—'सन् १६५७ (वि० सं० १७१४) में काशी के मुक्तिमण्डप में एक सभा हुई थी, जिसमें निर्णय किया गया था कि महाराष्ट्रीय देवर्षि (देवसखें) ब्राह्मण पंक्तिपावन हैं। इस निर्णयपत्र पर अप्पयदीक्षित के भी हस्ताक्षर हैं यह निर्णय पत्र श्री पिपुटकर ने 'चितले भट्ट प्रकरण' पुस्तक में मुद्रित कराया है।'

निष्कर्ष—१. श्री पिपुटकर द्वारा प्रकाशित निर्णयपत्र निश्चय ही बनावटी है, अथवा यह अप्पय दीक्षित अन्य व्यक्ति हैं क्योंकि अप्पय दीक्षित

के भ्रातुष्पुत्र नीलकण्ठ दीक्षित के शिवलीलार्णव काव्य से विदित होता है कि उसकी रचना (वि० सं० १६८४) तक अप्पय्य दीक्षित दिवंगत हो चुके थे।

२. यदि 'हिन्दुत्व' के लेखक रामदास गौड का संख्या ६ में उद्धृत मत (सं० १६०८-१६८०) स्वीकार किया जाए, तो संख्या ७ में निर्दिष्ट उन्हीं के लेख (नृसिंहाश्रम ने सं० १६०४ में 'तत्त्वविवेक' लिखा) से विपरीत पड़ता है। उधर नृसिंहाश्रम के गुरु जगन्नाथाश्रम, प्रक्रिया-कौमुदीप्रसाद' के लेखक विट्ठल के समसायिक हैं।

अत: अप्पय्य दीक्षित का काल सामान्यतया वि० सं० १५७५-१६५० के मध्य होना चाहिए। तभी विट्ठल, भट्टोजि दीक्षित और नीलकण्ठ दीक्षित के लेखों का समन्वय हो सकता है। संख्या ५ पर उद्धृत प्रमाण भी इसी काल की पुष्टि करता है।

उक्त प्रमाणों का सुक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर ऐसा भी प्रतीत होता है कि सम्भवत: अप्पय्य दीक्षित नाम के दो व्यक्ति हुए हों। दाक्षिणात्य परम्परा के अनुसार अप्पय्य दीक्षित के पौत्र का भी यह नाम हो सकता है। यदि यह प्रमाणान्तर से सिद्ध हो जाय तो सभी कठिनाइयों का समाधान अनायास हो सकता है।

१९. नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १६००-१६७५ वि०)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने अष्टाध्यायी पर **'पाणिनीयदीपिका'** नाम्नी वृत्ति लिखी थी। यह इस समय अनुपलब्ध है। इस वृत्ति का उल्लेख ग्रन्थकार ने स्वयं 'परिभाषावृत्ति' में किया है। ग्रन्थकार के काल आदि के विषय में ग्यारहवें अध्याय में लिखा जा चुका है।

२०. विशेश्वर सूरि (सं० १६००-१६५० वि०)

विश्वेश्वर सूरि ने अष्टाध्यायी पर भट्टोजि दीक्षित विरचित शब्दकौस्तुभ के आदर्श पर एक अति विस्तृत व्याख्या लिखी है—**'व्याकरणसिद्धान्त-सुधानिधि'**। यह आदि के तीन अध्यायों पर ही उपलब्ध है।

परिचय

विश्वेश्वर ने अपना जो संक्षिप्त परिचय दिया है, तदनुसार इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर है। पर्वतीय विशेषण से स्पष्ट है कि पार्वत्य प्रदेश के हैं। इनकी मृत्यु ३३–३४ वर्ष की आयु में ही गयी थी।

काल—विश्वेश्वर ने अपने ग्रन्थ में भट्टोजि दीक्षित का अनेकत्र उल्लेख किया है किन्तु उनके पौत्र हरि दीक्षित अथवा तत्कृत प्रौढ़मनोरमाव्याख्या

'शब्दरत्न' का कहीं भी उल्लेख न होने से प्रतीत होता है कि विश्वेश्वर सूरि ने 'शब्दरत्न' की रचना से पूर्व अपना ग्रन्थ लिखा था। अतः इनका काल वि० सं० १६००—१६५० के मध्य होना चाहिए।

'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' के लेखक कृष्णमाचारिया ने इनका काल ईसा की १८ वीं शती लिखा है।

विश्वेश्वर सुरि के छः अन्य ग्रंन्थ भी प्रसिद्ध हैं—

(१) तर्ककौतूहल, (२) अलंकारकौस्तुभ, (३) रुक्मिणीपरिणय, (४) आर्यासप्तशती (५) अलङ्कारकुलप्रदीप, (६) रसमञ्जरी टीका।

२१. गोपालकृष्ण शास्त्री (सं० १६५०—१७०० वि०)

गोपाल कृष्ण शास्त्री ने 'शाब्दिकचिन्तामणि' ग्रन्थ लिखा है। यह ग्यारहवें अध्याय में लिखा जा चुका है। यदि यह ग्रन्थ महाभाष्य की व्याख्या न हो तो निश्चय ही यह ग्रन्थ अष्टाध्यायी की विस्तृत वृत्ति रूप होगा।

२२. ओरम्भट्ट (सं० १९०० वि०)

वैद्यनाथ भट्ट (अपरनाम ओरम्भट्ट) ने अष्टाध्यायी पर 'व्याकरण-दीपिका' नाम्नी वृत्ति लिखी है। इस वृत्ति में वृत्ति, उदाहरण तथा अन्य पंक्तियाँ आदि यथासम्भव सिद्धान्तकौमुदी से ग्रहण कर अष्टाध्यायी क्रम में निबद्ध कर दी गयी हैं। अतः जो व्यक्ति सिद्धान्तकौमुदी की फक्किकाओं को अष्टाध्यायी के क्रम से पढ़ना-पढ़ाना चाहें, उनके लिए यह ग्रन्थ कुछ उपयोगी हो सकता है।

ओरम्भट्ट काशी-निवासी महाराष्ट्री ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धोण्डभट्ट था। ओरम्भट्ट काशी के प्रसिद्ध विद्वान बालशास्त्री के गुरु काशीनाथ शास्त्री के समसामयिक हैं। पं० काशीनाथ शास्त्री ने १९१६ में काशी राजकालीय संस्कृत महाविद्यालय से अवकाश ग्रहण किया था। अतः ओरभट्ट का काल वि० सं० १९०० के लगभग है।

२३. स्वामी दयानन्द सरस्वती (सं० १८८१—१९४० वि०)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीयसूत्रों की 'अष्टाध्यायीभाष्य' नाम्नी विस्तृत व्याख्या लिखी है।

परिचय

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म वि० सं० १८८१ में काठियावाड के अन्तर्गत टंकारा नगर के औदीच्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता शैवमतावलम्बी, अत्यन्त धर्मनिष्ठ, दृढ़चरित्र और धनधान्य से पूर्ण वैभवशाली

व्यक्ति थे। स्वामी जी का बाल्यकाल का नाम मूल जी अथवा मूल-शंकर था।

मूल जी का पाँच वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ और आठ वर्ष की अवस्था में उपनयनसंस्कार हुआ था। सामवेदी होने पर भी इनके पिता ने शैवमतावलम्बी होने के कारण मूल जी को प्रथम रुद्राध्याय और पश्चात् समग्र यजुर्वेद कण्ठाग्र कराया। घर में रहते हुए मूल जी ने व्याकरण आदि का भी कुछ अध्ययन कर लिया था।

बाल्यकाल में, अपने चाचा और छोटी बहिन की मृत्यु से इनके मन में जो वैराग्यभावना उठी वह उत्तरोत्तर बलवती होती गयी। पिता द्वारा विवाह-बन्धन में बांधने का प्रयत्न किये जाने पर इन्होंने सहसा एक दिन गृह का सदा के लिए त्याग कर दिया। उस समय इनकी आयु लगभग २२ वर्ष की थी।

घर छोड़ देने के बाद योगियों के अन्वेषण और सच्चे शिव के दर्शन की लालसा से लगभग १५ वर्ष तक वनों और पर्वत-शिखरों पर भ्रमण करते रहे। इस बीच में इन्होंने योग की विविधि क्रियाओं और अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया।

स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास ग्रहण करने पर स्वामी दयानन्द सरस्वती के नाम से विख्यात हुए। मथुरा निवासी प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजान्द व्याकरण शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे। व्याकरण के नव्य और प्राचीन ग्रंथों में इनकी अव्याहत गति थी। तत्कालीन पण्डित समाज पर इनके व्याकरण-ज्ञान की धाक थी। स्वामी दयानन्द ने उनके पाण्डित्य की प्रशंसा सुन कर मथुरा जाकर स्वामी विरजानन्द से सं० १९१७—२० वि० तक ३ वर्ष व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन किया।

स्वामी दयानन्द का स्वर्गवास वि० सं० १९४० कार्तिक कृष्णा अमावास्या दीपावली के दिन सायं ६ बजे हुआ था।

अष्टाध्यायी-भाष्य

स्वामी दयानन्द के पत्रों से ज्ञात होता है कि अष्टाध्यायी-भाष्य की रचना १५।८।१८७८ ई० (आषाढ बदि २, सं० १९३५ वि०) के पूर्व प्रारम्भ हो गई थी और २४ अप्रैल सन् १८७९ तक उसके चार अध्याय बन चुके थे। चौथे अध्याय से आगे बनने का उल्लेख किसी पत्र में नहीं मिलता। ग्राहकों के अभाव के कारण अष्टाध्यायी भाष्य का प्रकाशन स्वामी जी के जीवन

काल में न हो सका। स्वामी जी की मृत्यु के बाद अष्टाध्यायीभाष्य दो भागों में प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग (अ० १।१–२, तथा अ० २) का सम्पादन डा० रघुवीर जी एम० ए० ने किया है। तृतीय और चतुर्थ अध्याय का सम्पादन (पूज्य श्री मीमांसक की स्तुत्य सहायता से) श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने किया है।

अन्य ग्रन्थ—अष्टाध्यायी-भाष्य के अतिरिक्त व्याकरण के विषय पर स्वामी जी ने अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। उन्होंने व्याकरण के अतिरिक्त सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ऋग्वेदभाष्य, युजुर्वेद-भाष्य, आदि लगभग ५० ग्रन्थ भी लिखे हैं।

अन्य उपलब्ध अथवा ज्ञात वृत्तियाँ

उपर्युक्त वृत्तिग्रंथों के अतिरिक्त और बहुत से वृत्ति-ग्रन्थ उपलब्ध अथवा ज्ञात हैं। उनकी सूची इस प्रकार है—

१. चूर्णिकृतवृत्ति। २. भर्त्रीश्वर (सं० ७८० वि० वि० से पूर्व) की वृत्ति। ३. भट्टजयन्त (सं० ८२५ वि० के लगभग) की वृत्ति। ४. श्रुतपाल (सं० ८७० वि० से पूर्व) की वृत्ति। ५. केशव (सं० ११६५ वि० से पूर्व) की वृत्ति। ६. इन्दुमित्र (सं० ११५० वि० से पूर्व) की इन्दुमती वृत्ति। ७. अप्पन नैनार्य (सं० १५२०—१५७० वि०) की 'प्रक्रियादीपिका' वृत्ति। ८. गोकुलचन्द्र (सं० १८६७ वि०) की वृत्ति।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अज्ञातकालिक वृत्तिग्रंथों की सूची इस प्रकार है–

१. नारायणसुधीविरचित **'अष्टाध्यायीप्रदीप'** (अपर नाम **शब्दभूषण**)

२. रुद्रधरकृत अष्टाध्यायीवृत्ति।

३. उदयनकृत **'मितवृत्त्यर्थसंग्रह'**।

४. उदयशंकरभट्ट कृत 'मितवृत्त्यर्थसंग्रह'।

५. रामचन्द्रकृत अष्टाध्यायीवृत्ति।

६. सदानन्दनाथकृत 'तत्त्वदीपिका'।

७. पाणिनीय लघुवृत्ति (अज्ञातकर्तृक)।

८. इसी पाणिनीय-लघुवृत्ति की टीका 'पाणिनीयलघु [वृत्ति] विवृति।

९. पाणिनीय-सूत्रवृत्ति (आज्ञातकर्तृक)।

१०. पाणिनीय-सूत्रवृत्ति (सं० ९ से भिन्न, अज्ञातकर्तृक)

११. पाणिनीय-सूत्रविवरण (अज्ञातकर्तृक)।

१२. पाणिनीय-सूत्रविवृति (अज्ञातकर्तृक)।

१३. पाणिनीय-सूत्रविवृति लघुवृत्तिकारिका (अज्ञातकर्तृक)।

१४. पाणिनी-सूत्रव्याख्यान—उदाहरण श्लोक सहित (आज्ञातकर्तृक)।

इन वृत्ति ग्रन्थों के अतिरिक्त डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द-पुस्तकालय में पाणिनीय सूत्र की दो वृत्तियाँ विद्यमान हैं।

सरस्वतो भवन काशी के संग्रह में पाणिनीयाष्टक की एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति वर्तमान है।

इस प्रकार अन्य पुस्तकालयों में भी अनेक अष्टाध्यायी-वृत्तियों के हस्तलेख विद्यमान हैं। इन सब का अन्वेषण होना अत्यन्त आवश्यक है।

इन वृत्ति-ग्रन्थों में छात्रों को निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण वृत्तियों का अध्ययन मनोयोग पूर्वक अवश्य करना चाहिए —

(१) जयादित्य और वामन की काशिका।

(२) भर्तृहरि उपनाम विमलमति की भागवृत्ति।

(३) मैत्रेयरक्षित की दुर्घटवृत्ति।

(४) पुरुषोत्तम देव की लघुवृत्ति अपरनाम भाषावृत्ति।

(५) शरण देव की दुर्घटवृत्ति।

(६) अन्नम्भट्ट की पाणिनीय मिताक्षरा।

(७) भट्टोजि दीक्षित का शब्दकौस्तुभ।

(८) ओरम्भट्ट की व्याकरणदीपिका।

(९) स्वामी दयानन्द सरस्वती का अष्टाध्यायी-भाष्य।

पञ्चदश अध्याय

काशिका के व्याख्याता

काशिका जैसी महत्त्वपूर्ण वृत्ति पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। सम्प्रति काशिका की आठ व्याख्याएँ उपलब्ध या ज्ञात हैं। इन व्याख्याओं तथा व्याख्याकारों का संक्षिप्त परिचय इस अध्याय में दिया जा रहा है, साथ ही इससे जिन प्रमुख व्याख्याओं की भी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं उनका और उन व्याख्याकारों का भी परिचय मिलेगा।

१. जिनेन्द्रबुद्धि

उपलब्ध व्याख्याओं में **'काशिकाविवरणपञ्जिका'** [पञ्चिका] अपर नाम 'न्यास' व्याख्या सब से प्राचीन है। इसके रचयिता बोधिसत्त्वदेशीय आचार्य 'जिनेन्द्रबुद्धि' हैं। ये बौद्धमत के प्रामाणिक आचार्य माने जाते थे, ऐसा इनके लिए प्रयुक्त 'बोधिसत्त्वदेशीय' विशेषण से स्पष्ट है।

काल—कैयट के 'प्रदीप' और जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' की तुलना करने से स्पष्ट होता है कि कैयट ने 'केचित्' आदि नाम से 'न्यासकार' का निर्देश करते हुए अनेक ग्रन्थ को अपने शब्दों में उद्धृत किया है। अतः न्यासकार निश्चय वि० सं० १०९० से पूर्ववर्ती हैं।

हरदत्त ने 'पदमंजरी' में 'न्यासकार' का नाम्ना उल्लेख किया है। हरदत्त, कैयट से अर्वाचीन हैं, अतः न्यासकार के कालनिर्णय के लिए हरदत्त के उल्लेख को प्रमाणरूप में रखने से कोई अर्थ नहीं निकलेगा। हाँ, डॉ० याकोबी ने भविष्यत् पुराण के आधार पर हरदत्त का देहावसान ८७८ ई० (वि० सं० ९३५) माना है। यदि प्रमाणान्तर से यह तिथि परिपुष्ट हो जाय तो न्यासकार को वि० सं० ९०० से पूर्व माना जा सकेगा।

न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने न्यासकार का काल सन् ७२५—७५० ई० (वि० सं० ७८२—८०७) माना है।

महाकवि माघ और न्यास

महाकवि माघ से शिशुपालवध के **'अनुत्सूत्रपदन्यासा'** इत्यादि श्लोक में में श्लेष से न्यास का उल्लेख किया है। न्यास के सम्पादक ने इसी आधार पर माघ को न्यासकार से उत्तरवर्ती लिख दिया। यह युक्त नहीं है।

प्राचीनकाल में न्यास नाम के अनेक ग्रन्थ थे। एक न्यास का उल्लेख भर्तृहरि की 'भाष्यदीपिका' में है। मल्लवादि सूरि और पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दी ने भी न्यास ग्रन्थ लिखे थे। माघ ने किस न्यास की ओर संकेत किया है, यह अज्ञात है। इतना निश्चित है कि उक्त श्लोकांश में जिनेन्द्रबुद्धि विरचित न्यास का उल्लेख नहीं है, क्योंकि शिशुपालवध का रचना काल सं० ६८२–७०० वि० के मध्य है।

भामह और न्यासकार

भामह ने अपने 'अलङ्कारशास्त्र' में लिखा है—

शिष्ट प्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथंचिदुदाहरेत्॥
सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिस्तदगमको यथा॥

इन श्लोकों में स्मृत न्यासकार, जिनेन्द्रबुद्धि नहीं है; क्योंकि उनके सम्पूर्ण न्यास में कहीं पर भी 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (१।४।३०) के ज्ञापक से 'वृत्र-हन्ता' पद में समास विधान नहीं किया गया है। न्यास के सम्पादक ने उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर भामह को ७७५ ई० (वि० सं० ६३२) का माना है, यह ठीक नहीं है; क्योंकि स्कन्द-महेश्वर (सं० ६८७ वि० के समीपवर्ती ने अपनी निरुक्तटीका में भामह के अलङ्कार ग्रंथ का एक श्लोक उद्धृत किया है। अतः भामह निश्चय ही वि० सं० ६८७ से पूर्वभावी हैं।

न्यास के व्याख्याता

१. मैत्रेयरक्षित—मैत्रेयरक्षित ने न्यास की 'तन्त्रप्रदीप' नाम्नी महती व्याख्या लिखी है। ये व्याकरणशास्त्र के असाधारण विद्वान् थे। सम्भवतः बंग-प्रान्तीय थे।

मैत्रेयरक्षित का काल वि० सं० ११४०—११६५ है। पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति के सम्पादक ने भी इनका काल सन् १०७५—११२५ ई० (वि० सं० ११३२—११७२) माना है।

इस 'तन्त्रप्रदीप' व्याख्या की भी आगे चल कर अनेक टीकाएँ हुई। उनमें (१) नन्दमिश्र की **'तन्त्रप्रदीपोद्योतन'**, (२) सनातन तर्काचार्य की **'प्रभा'** और (३) अज्ञातकर्तृक **'आलोक'** टीका का उल्लेख मिलता है।

२. मल्लिनाथ, ३. महामिश्र, ४. रत्नमति, ५. पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर।

'न्यास' के अन्य टीकाकारों में मल्लिनाथ, महामिश्र, रत्नमति और पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर प्रसिद्ध हैं।

मल्लिनाथ ने 'न्यासोद्योत' व्याख्या रची थी। इसका उल्लेख अमरसूरि ने अपने 'बृहद्वृत्त्यवचूर्णि' में किया है। बृहद्वृत्त्यवचूर्णि का लेखनकाल श्रावण सुदि ३ वि० १२६४ है। अतः निश्चय ही मल्लिनाथ वि० १२६४ से पूर्ववर्ती है।

महामिश्र (नरपपि) ने 'न्यासप्रकाश' व्याख्या लिखी है। दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य इनका काल (१४००–१४५० वि० सं० १४५७–१५०७) माना है।

रत्नमति कृत न्यास-टीका सर्वानन्द ने अमर टीका सर्वस्व (३।१।१५) पर उद्धृत किया है।

पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर ने स्वयम् अपनी न्यास-टीका का उल्लेख 'कातन्त्र-प्रदीप' नाम्नी कातन्त्र टीका में किया है।

'न्यास' पर रची गयी इन टीकाओं से 'न्यास' की लोक प्रियता और पठन-पाठन में उसका प्रचलन सिद्ध होता है।

२. इन्दुमित्र (सं० ११५० से पूर्ववर्ती)

इन्दुमित्र अनेक ग्रंन्थकारों द्वारा 'इन्दु' नाम से स्मृत हैं। इन्होंने 'काशिका' पर 'अनुन्यास' नाम्नी व्याख्या लिखी थी। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसकी रचना जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' के बाद हुई है। अनुन्यास 'माधवीयधातु' उज्ज्वलदत्त की 'उणादिवृत्ति', सीरदेव की 'परिभाषावृत्ति', 'दुर्घटवृत्ति', प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रसादटीका' और अमरटीकासर्वस्व' आदि अनेक ग्रंथों में उद्धृत है। इन्दुमित्र का काल सं० ८०० से ११५० के मध्य है। इन्होंने अष्टाध्यायी पर एक 'इन्दुमती' नाम्नी वृत्ति भी लिखी थी। इसका उल्लेख चौदहवें अध्याय 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में हो चुका है

आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में 'अनुन्यास' नाम से 'तन्त्रप्रदीप' का उल्लेख किया है। वह चिन्त्य है, क्योंकि सीरदेव ने परिभाषावृत्ति में अनुन्यासकार इन्दुमित्र और तन्त्रप्रदीपकार के शाश्वतिक विरोध का उल्लेख किया है। यथा—

'एतस्मिन् वाक्ये इन्दुमैत्रेययोः शाश्वतिको विरोधः।' पृष्ठ ७६।
'उपदेशग्रहणानुवर्त्तनं प्रति रक्षितानुन्यासयोर्विवाद एव।' पृष्ठ २७।

'अनुन्यास' पर **श्रीमान् शर्मा** ने 'अनुन्यास-सार' ग्रंथ रचा था। ग्रंथकार ने स्वयम् इसका संकेत सीरदेवीय परिभाषावृत्ति की 'विजया' नाम्नी टिप्पणी में किया है।

श्रीमान् शर्मा का एक शिष्य पद्मनाममिश्र प्रसिद्ध है।

दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के निर्देशानुसार ही श्रीमान् शर्मा का काल सं० १५००—१५५० के मध्य है। (श्रीमान् शर्मा के विषय में जो उक्त वर्णन है, वह पुरुषोत्तम देव की परिभाषावृत्ति के सम्पादक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के निर्देशानुसार है।)

३. महान्यासकार सं० १२१५ वि० से पूर्ववर्ती)

किसी अज्ञातनामा वैयाकरण ने काशिका पर 'महान्यास' नाम से एक व्याख्या लिखी थी। यह 'महान्यास' जिनेन्द्रबुद्धि विरचिर 'न्यास' से भिन्न है क्योंकि इसके जो उद्धरण उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति और सर्वानन्द-विरचित अमर टीका-सर्वस्व में मिलते हैं, वे 'न्यास' में उपलब्ध नहीं होते।

इस ग्रन्थ के नाम से प्रतीत होता है कि इसकी रचना 'न्यास' और 'अनुन्यास' दोनों ग्रंथों से पीछे हुई।

महान्यासकार का काल वि० सं० १२१६ से प्राचीन है क्योंकि महान्यास के उद्धरण सर्वानन्द कृत 'अमरटीकासर्वस्व' में उपलब्ध होते हैं जिसकी रचना शकाब्द १०८१ (वि० सं० १२१६) में हुई थी।

४. विद्यासागर मुनि (१११५ वि० से पूर्व)

विद्यासागर मुनि ने काशिका की प्रक्रियामञ्जरी' नाम्नी व्याख्या लिखी है। ग्रंथकार ने ग्रंथ के आरम्भ में अपने गुरु श्वेतगिरि और न्यासकार का स्मरण किया है! किन्तु पदमञ्जरी अथवा उसके रचयिता हरदत्त का उल्लेख न होने से प्रतीत होता है कि विद्यासागर मुनि हरदत्त से पूर्व-वर्ती हैं।

५. हरदत्तमिश्र (सं० १११५ वि०)

हरदत्तमिश्र ने 'काशिका' की 'पदमञ्जरी' नाम से एक व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के अवलोकन से हरदत्त के पाण्डित्य और उनके ग्रंथ की प्रौढ़ता स्पष्ट प्रतीत होती है। हरदत्त केवल व्याकरण के पण्डित नहीं थे। इन्होंने श्रौत, गृह्य और धर्म आदि अनेक सूत्रों की व्याख्याएँ लिखी हैं। अतः पण्डितराज जगन्नाथ के समान इन्होंने जो अपनी अत्यधिक प्रशंसा की है, उसमें अनौचित्य नहीं दिखायी देता।

ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा के अनुसार यह टीका वास्तव में ही विद्वानों के हृदयाह्लाद के लिए लिखी गयी है। फलतः विद्वज्जगत् में अत्यधिक ख्याति पाने पर भी सामान्य अध्येताओं में इस कृति का प्रचलन नहीं हो सका।

परिचय

हरदत्त ने 'पदमञ्जरी' के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

तातं पद्मकुमाराख्यं, प्रणम्याम्बां श्रियं तथा।
ज्येष्ठं चाग्निकुमाराख्यम्, आचार्यमपराजितम् ॥

अर्थात् हरदत्त के पिता का नाम 'पद्मकुमार' (पाठान्तर रुद्रकुमार), माता का नाम 'श्री', 'ज्येष्ठभ्राता का नाम 'अग्निकुमार' और गुरु का नाम 'अपराजित' था।

हरदत्त ने प्रथम श्लोक में शिव को नमस्कार किया है। अतः ये शैव-मतानुयायी थे।

देश—ग्रन्थ के आरम्भ में हरदत्त ने अपने को 'दक्षिण' देशवासी लिखा है। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ५१६ से विदित होता है कि ये द्रविड देश वासी थे। इनके अन्य ग्रंथों से ज्ञात होता है कि वे चोलदेशान्तर्गत कावेरी नदी के किसी तटवर्ती ग्राम के निवासी और द्रविडभाषा भाषी थे।

यन्० सी० एस० वेङ्कटाचार्य शतावधानी सिकन्दराबाद (आन्ध्र) ने अपने एक पत्र में हरदत्त को अनेक प्रामाणिक युक्तियों से आन्ध्रप्रदेश के **कूचिमञ्चि-अग्रहार** का रहने वाला बताया है। पदमञ्जरी के उत्तरार्ध की रचना के समय वे द्रविड देश में चले गये थे और शेष जीवन उन्होंने चोल देश में कावेरी नदी के तीर पर बिताया।

काल—हरदत्त ने अपने ग्रन्थ में ऐसी किसी घटना का उल्लेख नहीं किया, जिससे उनके काल का निश्चित ज्ञान हो। हरदत्त का काल वि० सं० १११५ के लगभग प्रतीत होता है। न्यास के सम्पादक ने हरदत्त और मैत्रेय दोनों को ११०० ई० अर्थात् ११५७ वि० का माना है, वह ठीक नहीं; क्योंकि मैत्रेय के धातुप्रदीप में धर्मकीति के 'रूपावतार' का उल्लेख है और रूपावतार में हरदत्त का मत उद्धृत है अतः हरदत्त और मैत्रेय समकालीन नहीं हो सकते। डा० याकोबी ने हरदत्त का देहावसान भविष्यत् पुराण के आधार पर सन् ८७८ ई० (वि० सं० ९३५) माना है।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

१. **महापदमञ्जरी**—पदमञ्जरी (१।१।२०) पृष्ठ ७२ में हरदत्त ने लिखा है—

'भाष्यवार्तिकविरोधस्तु महापदमञ्जर्यामस्माभिः प्रपञ्चितः।'

इससे विदित होता है कि हरदत्त ने 'पदमञ्जरी' से पूर्व 'महापदमञ्जरी' नाम्नी व्याख्या रची थी। सम्भव है, यह भी 'काशिका' की व्याख्या हो। दैवव्याख्या पुरुषकार में **णिचश्च** (१।३।७४) सूत्रस्थ एक हरदत्तीय कारिका उद्धृत है। वह पदमञ्जरी में नहीं मिलती। अतः वह महापदमञ्जरी से उद्धृत की गयी होगी। महापदमञ्जरी इस समय अनुपलब्ध है।

पदमञ्जरी (१।१।२०) में उक्त हरदत्त का वचन जो ऊपर उद्धृत किया गया है, उसी के आधार पर डॉ० श्री सत्यकाम वर्मा का अनुमान है कि 'पदमञ्जरी' की रचना के क्रम में हरदत्त को जो महाभाष्य का अगाध अनुशीलन करना पड़ा, उससे प्रेरित होकर ही पहले उन्होंने 'महापदमञ्जरी' का निर्माण किया होगा। इसकी रचना उन्होंने 'भाष्य' और 'वार्तिक' के विरोध को दिखाने के लिए की होगी। 'काशिका' पर रची व्याख्या उसी अनुकरण पर 'पदमंजरी' नाम से कहलायी।

२. **परिभाषा-प्रकरण**—पदमञ्जरी, भाग २ पृष्ठ ४३७ से विदित होता है कि हरदत्त ने **'परिभाषा प्रकरण'** नाम से परिभाषावृत्ति रची थी। यह ग्रंथ भी अनुपलब्ध है।

इसके अतिरिक्त हरदत्तविरचित ग्रन्थ हैं—

१. आश्वलायन गृह्य-व्याख्या—अनाविला।
२. गौतम धर्मसूत्र व्याख्या—मिताक्षरा।
३. आपस्तम्ब गृह्य-व्याख्या—अनाकुला।
४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र व्याख्या—उज्ज्वला।
५. आपस्तम्ब गृह्य मन्त्र व्याख्या।
६. आपस्तम्ब परिभाषा व्याख्या।
७. एकाग्नि काण्ड व्याख्या।
८. श्रुति सूक्ति माला।

पदमञ्जरी के व्याख्याता—

१. **रङ्गनाथ यज्वा**—(सं० १७४५ वि० के लगभग) ने हरदत्त की 'पदमञ्जरी' की 'मञ्जरीमकरन्द' नाम्नी टीका लिखी है। इस टीका के कई हस्तलेख विभिन्न पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। अडियार पुस्तकालय के सूची-पत्र में इसका नाम 'परिमल' लिखा है।

२. **शिवभट्ट**—शिवभट्टविरचित पदमञ्जरी' की 'मञ्जरीमकरन्द' नाम्नी व्याख्या का उल्लेख आफ्रेक्ट के बृहत् सूचीपत्र में उपलब्ध होता है।

६. रामदेव मिश्र (सं० ११९५—१३७० वि० के मध्य)

रामदेव मिश्र ने 'काशिका' की 'वृत्तिप्रदीप' नाम्नी व्याख्या लिखी है।

'वृत्तिप्रदीप' के अनेक उद्धरण 'माधवीया धातुवृत्ति' में उपलब्ध हैं। अतः रामदेव मिश्र, सायण (सं० १३७२—१४४४ वि०) से पूर्ववती हैं। यह इनके काल की उत्तर सीमा है।

सायण ने 'धातुवृत्ति' में लिखा है—'**हरदत्तानुवादी राममिश्रोऽपि।**' इससे प्रतीत होता है कि रामदेव हरदत्त के उत्तरवर्ती हैं। यह इनके काल की पूर्व सीमा हुई।

काशिका की इन छः व्याख्याओं के अतिरिक्त दो अज्ञातकर्तृक व्याख्याओं का उल्लेख मिलता है। वे हैं—

७. वृत्तिरत्न। ८. चिकित्सा।

काशिका की इन व्याख्याओं में जिनेन्द्रबुद्धि का 'न्यास' और हरदत्त की 'पदमञ्जरी' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये छात्रों के लिय अवश्य अध्येतव्य हैं।

———

षोडश अध्याय

पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकार

'प्रक्रियाग्रन्थ' कहने से एक ऐसे व्याकरण ग्रन्थ का बोध होता है जिसका निर्माण एक-एक प्रयोग की साधुता-असाधुता दर्शाने के लिए, किसी व्याकरण शास्त्र विषयक मौलिक ग्रन्थ के सूत्रों के निश्चित क्रम को तोड़ कर; सद्यः रूपासिद्धि की भावना से; भिन्न-भिन्न स्थानों से सूत्रों को उठा कर, उस स्थान विशेष पर बिठा कर किया गया होता है। प्रक्रिया क्रमानुसार लिखा गया ऐसा ग्रन्थ अपेक्षाकृत लघु तो होता ही है, व्याकरण के अध्ययन को अपाततः दिखा कर पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट भी करता है।

पाणिनीय व्याकरण के अनन्तर कातन्त्र आदि ऐसे अनेक लघु व्याकरण प्रक्रिया क्रमानुसार लिखे गये जिनमें यह विशेषता है कि छात्र इन ग्रन्थों का जितना भाग अध्ययन करके छोड़ देता है, उसे इतने विषय का ज्ञान हो जाता है। परिणाम यह हुआ कि अल्पमति एवं लाघवप्रिय व्यक्ति पाणिनीय व्याकरण को छोड़ कर कातन्त्र आदि प्रक्रियानुसारी व्याकरणों का अध्ययन करने लगे। पाठकों को इन प्रक्रियाग्रन्थों ने यह आभास दिया कि अन्यशब्दानुशासनों की भाँति ही पाणिनीय चिन्तन-क्रम भी कठिन एवम् अग्राह्य है। पाठकों ने तुलनात्मक दृष्टि से यह मिथ्या-अनुभव भी किया कि अष्टाध्यायी आदि शब्दानुशासनों में प्रक्रियानुसार प्रकरण-रचना न होने से जब तक सम्पूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन न हो, तब तक किसी एक विषय का भी ज्ञान नहीं होता। अष्टाध्यायी के तो जब तक कम से कम छः अध्याय न पढ़ लिये जाँय, तब तक केवल एक समासविषय का भी ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि समास से सम्बन्ध रखने वाले समस्त कार्य प्रथम, द्वितीय, पञ्चम और षष्ट अध्याय के अनेक स्थानों में बँटे हुए हैं।

ऐसी विषम परिस्थिति में पाणिनीय व्याकरण की रक्षा के लिए पाणिनीय वैयाकरणों ने भी, पारमार्थिक दृष्टि से अमान्य किन्तु समयानुकूल उपयोगी, अष्टाध्यायी के प्रक्रिया-क्रम से पठन-पाठन की नयी प्रणाली का आविष्कार किया। विक्रम की १६ वीं शताब्दी के अनन्तर पाणिनीय व्याकरण का समस्त पठन–पाठन प्रक्रियाग्रन्थानुसार होने लगा धीरे–धीरे सूत्रपाठक्रमानुसारी पठन-पाठन का उच्छेद हो गया।

दोनों प्राणालियों की तुलना

यह सर्वसम्मत नियम है कि किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन यदि ग्रन्थकर्ता के विरचित-क्रम से किया जावे तो उसमें अत्यन्त सरलता होती है। इसी नियम के अनुसार 'सिद्धान्त कौमुदी' आदि व्युत्क्रम ग्रन्थों की अपेक्षा अष्टाध्यायी-क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन करने से अल्पपरिश्रम और अल्प काल में अधिक बोध होता है और वह बोध अपेक्षा कृत चिरस्थायी भी होता है।

१–उदाहरण के लिए 'आद्गुणः' सूत्र को ले लीजिए। सिद्धान्तकौमुदी में यह सूत्र 'अच् सन्धि' में व्याख्यात है। वहां इसको वृत्ति इस प्रकार लिखी गयी है—

'अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात् संहितायाम् ।'

इस वृत्ति में '**अचि, पूर्वपरयोः, एकः, संहितायाम्**' ये पद कहाँ से संगृहीत हुए, इसका ज्ञान सिद्धान्त कौमुदी पढ़ने वाले छात्र को नहीं होता। अतः उसे सूत्र के साथ–साथ सूत्र से पाँच-छः गुनी वृत्ति भी कण्ठाग्र करनी पड़ती है। अष्टाध्यायी-क्रमानुसार पढ़ने वाले छात्र को इन पदों की अनुवृत्तियों का सम्यक् बोध रहता है अतः उसे केवल वृत्ति रटने का परिश्रम नहीं करना पड़ता। उसे केवल पूर्वानुवृत्त पदों के सम्बन्ध मात्र का ज्ञान करना होता है। इस प्रकार उसे सिद्धान्तकौमुदी को अपेक्षा छठा भाग अर्थात् सूत्रमात्र कण्ठाग्र करना होता है वह महान् परिश्रम और समय की व्यर्थ हानि से बच जाता है।

२–अष्टाध्यायी में '**इट्**', '**द्विर्वचन**', '**नुम्**' आदि सब प्रकरण सुसम्बद्ध पढ़े हैं। इनकी प्राप्ति के विषय में सन्देह उत्पन्न होने पर अष्टाध्यायी के क्रम से पढ़ा हुआ व्यक्ति कुछ मिनटों में सम्पूर्ण प्रकरण का पाठ करके सन्देह मुक्त हो सकता है। किन्तु सिद्धान्तकौमुदी के क्रम से अध्ययन करने वाला शीघ्र सन्देह मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें, ये एक प्रकरण के सूत्र विभिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए हैं।

३–पाणिनीय व्याकरण में '**विप्रतिषेधे परं कार्यम्, असिद्ध वदत्राभात्, पूर्वत्रासिद्धम्**' आदि सूत्रों के अनेक कार्य ऐसे हैं, जिनमें सूत्रपाठक्रम के ज्ञान की बड़ी आवश्यकता होती है। सूत्र पाठक्रम के बिना जाने पूर्व, पर, आभात्, त्रिपादी, सपादसप्ताध्यायी आदि का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता और इसके विना शास्त्र का पूरा बोध नहीं होता। सिद्धान्तकौमुदी पढ़े हुए छात्र को

सूत्रपाठ के क्रम का ज्ञान न होने से महाभाष्य पूर्णतया समझ में नहीं आता। उसे पग-पग पर बड़ी कठिनाई का अनुभव होता है।

सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रक्रिया-ग्रन्थों के आधार पर पाणिनीय व्याकरण पढ़ने में इसी प्रकार के और भी अनेक दोष हैं। विस्तार भय से उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

पाणिनीय क्रम का महान् उद्धारक

प्रक्रियाग्रन्थों के आधार पर पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन विक्रम की १५ वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और अति शीघ्र सम्पूर्ण भारत में प्रचलित हो गया। १६ वीं शताब्दी के अनन्तर अष्टाध्यायी के क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रायः लुप्त हो गया। लगभग चार सौ वर्षों तक यही चलता रहा। विक्रम की १६ वीं शताब्दी के अन्त में महावैयाकरण दण्डी स्वामी विरजानन्द की दृष्टि प्रक्रिया क्रम से पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन में होने वाली हानियों की ओर गयी और उन्होंने सिद्धान्तकौमुदी के पठन-पाठन को छोड़ कर अष्टाध्यायी पढ़ाना प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् उनके शिष्य स्वामी दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के अध्ययन पर बल दिया। हर्ष का विषय है कि अब अनेक पाणिनीय वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी के क्रम को हानिकारक और अष्टाध्यायी के क्रम को लाभदायक मानने लगे हैं।

प्रक्रिया-ग्रन्थकार

१. धर्म कीर्ति (सं० ११४० वि० के लगभग)

अष्टाध्यायी पर लिखे गये उपलब्ध प्रक्रिया ग्रन्थों में धर्मकीर्ति का 'रूपावतार' प्राचीनतम ग्रन्थ है। अतः प्रक्रियाग्रन्थों की परम्परा का आरम्भ 'रूपावतार' से माना जाता है। 'रूपावतार' में धर्मकीर्ति का मुख्य उद्देश्य 'पाणिनीय व्याकरण की नये क्रम से पुनर्व्यवस्था' रहा है। इन्होंने सरल से सरलतर विधि अपनाने का प्रयत्न किया है। अतः पाणिनि के प्रत्येक सूत्र के समावेश का आग्रह नहीं है। इनके परवर्ती प्रक्रिया कौमुदीकार रामचन्द्र ने भी इन्हीं का आदर्श अपनाया है। न्यायबिन्दु आदि के रचयिता धर्मकीर्ति से ये धर्मकीर्ति भिन्न हैं। इन्होंने अष्टाध्यायी के प्रत्येक प्रकरणों से उपयोगी सूत्रों का संकलन करके इस ग्रन्थ की रचना की है।

'रूपावतार' में 'सुट्तिथोः' सूत्र को ठीक स्थात पर नहीं अपनाया गया है। इसे 'एध' के आशीर्लिङ् में 'एधिषीष्ट' प्रयोग के सम्बन्ध में ही उपयोगी

समझा गया है, उससे पूर्व 'विधि लिङ्' में नहीं। इससे प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति की दृष्टि में तात्कालिक आवश्यकता प्रधान है और नियम-विधान की अनिवार्यता गौण।

काल

'रूपावतार' में ग्रन्थलेखन-काल का निर्देश न होने से धर्मकीर्ति का निश्चित काल अज्ञात है। यों तो 'धर्मकीर्ति' और 'रूपावतार' का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है; किन्तु इनके काल निर्णय के लिए जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, उन्हीं ग्रन्थों का आधार लेकर कालनिर्णय का प्रयत्न करेंगे।

१. मैत्रेय विरचित धातुप्रदीप के पृष्ठ १३१ पर नामनिर्देश पूर्वक 'रूपावतार' का उद्धरण मिलता है। मैत्रेय का काल वि० सं० ११६५ के लगभग है। यह धर्मकीर्ति की उत्तर सीमा है।

२. धर्मकीर्ति के 'रूपावतार' में पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख है। हरदत्त का काल वि० सं० १११५ के लगभग है। यह धर्मकीर्ति की पूर्व सीमा है। अतः धर्मकीर्ति का काल इन दोनों के मध्य में वि० सं० ११४० के लगभग मानना युक्त होगा।

रूपावतार की टीकाएँ—'रूपावतार' की निम्नलिखित टीकाएँ उपलब्ध या ज्ञात हैं—

१. नीवि' टीका, शंकररामकृत।

२. धातुप्रत्ययपञ्जिका टीका (अज्ञातकर्तृक)।

३. अज्ञात कर्तृक टीका। भण्डारकर प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान पूना के सूचीपत्र में निर्दिष्ट है। इसमें शंकरकृत 'नीवि' टीका का खण्डन किया गया है।

४. अज्ञातकर्तृक टीका। मद्रास राजकीय पुस्तकाल के सूचीपत्र में निर्दिष्ट। यह ग्रन्थ अपूर्ण है।

२. प्रक्रिया रत्नकार (सं० १३०० वि० से पूर्व)

'प्रक्रियारत्न' पाणिनीय सूत्रों पर प्रक्रियानुसारी व्याख्यान-ग्रन्थ है। 'दैवम्' की कृष्णलीलाशुकमुनि विरचित 'पुरुषकार' व्याख्या में यह ग्रन्थ उद्धृत है। सायण ने अपनी धातुवृत्ति में 'प्रक्रियारत्न' को बहुधा उद्धृत किया है। कृष्णलीलाशुकमुनि का काल वि० सं० १२५०—१३५० के मध्य है। प्रक्रियारत्नकार सं० १३०० से पूर्वभावी है।

३. विमल सरस्वती (सं० १४०० वि० से पूर्व)

विमल सरस्वती ने अष्टाध्यायी की प्रयोगानुसारी 'रूपमाला' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसमें समस्त पाणिनीय सूत्र व्याख्यात नहीं हैं। विमल सरस्वती का काल सं० १४०० से प्राचीन माना जाता है।

४. रामचन्द्र (सं० १४५० वि० के लगभग)

रामचन्द्राचार्य ने पाणिनीय व्याकरण पर 'प्रक्रियाकौमुदी' ग्रन्थ रचा है। यह धर्म कीर्ति के 'रूपावतार' से विस्तृत है किन्तु इसमें भी समस्त पाणिनीय सूत्र समाविष्ट नहीं हैं। ग्रन्थ का मुख्य उद्दृश्य प्रक्रिया ज्ञान कराना है। सरल ढंग और सरल शब्दों में मध्यममार्ग का अवलम्बन किया है।

परिचय—रामचन्द्र का वंश 'शेषवंश' कहाता है। इस वंश के अनेक वैयाकरणों ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रौढ ग्रन्थ लिखे हैं। रामचन्द्र के पिता का नाम 'कृष्णाचार्य' था। रामचन्द्र के पुत्र नृसिंह' ने धर्मतत्त्वालोक ग्रंथ के आरम्भ में रामचन्द्र को आठ व्याकरणों का ज्ञाता और साहित्य रत्नाकर कहा है।

रामचन्द्र ने अपने पिता कृष्णाचार्य और चाचा गोपालाचार्य से विद्याध्ययन किया था। रामचन्द्र के ज्येष्ठ भ्राता नृसिंह का पुत्र शेषकृष्ण (कृष्ण) रामचन्द्र का शिष्य था।

काल—रामचन्द्र ने अपने ग्रन्थ (प्रक्रियाकौमुदी) में निर्माणकाल का उल्लेख नहीं किया। प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या 'प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद' के रचयिता विट्ठल (रामचन्द्र का पौत्र) ने भी ग्रन्थरचना-काल का संकेत नहीं किया।

विट्ठल के पुत्र के हाथ का लिखा हुआ, सं० १५८३ का, 'प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद' का हस्तलेख पूना के डक्कन कालेज के पुस्तकालय में है। इसी ग्रन्थ का सं० १५६० का हस्तलेख बड़ौदा के राजकीय पुस्तकालय में है। इसी ग्रन्थ का, इस हस्तलेख से भी पुराना सं० १५३६ का हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में है।

इससे स्पष्ट है कि विट्ठल ने सं० १५३६ से पूर्व, प्रक्रियाकौमुदी की टीका (प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद) अवश्य बना ली थी।

श्रीकृष्ण विरचित, प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या **'प्रक्रियाकौमुदीप्रकाश'** अपरनाम **'प्रक्रियाकौमुदीवृत्त'** का सं० १५१४ का हस्तलेख पूना के भण्डारकर

ओरिएण्टल रिसर्च सोसाइटी के पुस्तकालय में है। इससे स्पष्ट है कि सं० **१५१४ से पूर्व प्रक्रियाकौमुदी की रचना अवश्य हो चुकी थी।**

उक्त 'प्रक्रियाकौमुदीवृत्ति' का रचयिता श्रीकृष्ण, रामचन्द्र का शिष्य और उनके ज्येष्ठ भ्राता नृसिंह का पुत्र शेषकृष्ण ही है। अतः प्रक्रिया-कौमुदीकार रामचन्द्र का काल विक्रम की १४ वीं शताब्दी का अन्त और १५ वीं शताब्दी का आरम्भ मानना चाहिए।

प्रक्रियाकौमुदी के सम्पादक ने लिखा है कि हेमाद्रि ने अपनी रघुवंश की टीका में 'प्रक्रियाकौमुदी' और उसकी 'प्रसाद' टीका के दो उद्धरण दिए हैं। तदनुसार रामचन्द्र और विट्ठल का काल ईसा की १४ वीं शताब्दी है।

प्रक्रिया कौमुदी के व्याख्याता

(१) **शेषकृष्ण**—शेषकृष्ण (अपर नाम श्रीकृष्ण) ने 'प्रक्रियाकौमुदी' पर 'प्रकाश' नाम से एक टीका लिखी है। ग्रन्थ का नाम **'प्रक्रियाकौमुदी-प्रकाश'** है। इसी का दूसरा नाम **'प्रक्रियाकौमुदीवृत्ति'** है यह शेषकृष्ण प्रक्रिया-कौमुदीकार रामचन्द्र का शिष्य और उनके ज्येष्ठ भ्राता नृसिंह का पुत्र है। इस ग्रंथ का हस्तलेख सं० १५१४ का, पूना के पुस्तकालय में सुरक्षित है। अतः इसका रचना काल सं० १५१४ वि० से पूर्व है।

(२) **विट्ठल** (सं० १५२० वि० के लगभग) रामचन्द्र के पौत्र और नृसिंह के पुत्र विट्ठल ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की टीका 'प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद' लिखी है। विट्ठल ने शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर (अपर नाम रामेश्वर) से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया है। विट्ठल की इस टीका का सबसे पुराना हस्तलेख सं० १५३६ का मिलता है। अतः इस टीका की रचना वि० सं० १५३६ से कुछ पूर्व हुई होगी।

इस काल निर्देश में दो बाधाएँ हैं। प्रथम, मल्लिनाथ कृत न्यासोद्योत का सायण द्वारा धातुवृत्ति में स्मरण करना और दूसरा, हेमाद्रिकृत रघुवंश की टीका में प्रक्रियाकौमुदी और उसकी टीका 'प्रसाद' का उल्लेख होना।

पहिली बाधा तो दूर की जा सकती है, क्योंकि न्यासोद्योत काव्यटीकाकार मल्लिनाथ की कृति है, इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं। इतना ही नहीं, मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीय २।१७ की व्याख्या में 'उक्तं च न्यासोद्योते' इतना ही संकेत किया है। यदि वह उसका रचित होता तो **'उक्तं चा स्माभि-र्न्यासोद्योते'** इस प्रकार निर्देश करता।

दूसरी बाधा असमाधेय है। यदि हेमाद्रि का काल सं० १३२८—१३६६ तक मानें तो रामचन्द्र और विट्ठल का काल कम से कम १३००—१३४०

वि० सं० मानना होगा। उस अवस्था में व्याकरणग्रंथकारों की उत्तर परम्परा नहीं जुड़ती।

अतः उत्तर परम्परा को ध्यान में रखकर रामचन्द्र और विठ्ठल के माने गये काल का हेमाद्रि के काल के साथ विरोध आता है।

३. **चक्रपाणिदत्त** (सं० १५००—१५५० वि०)—चक्रपाणिदत्त ने प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रक्रियाप्रदीप' नाम्नी व्याख्या लिखी थी। चक्रपाणिदत्त ने शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर से विद्याध्ययन किया था। चक्रपाणिदत्त ने 'प्रौढ-मनोरमाखण्डन' नामक एक ग्रंथ लिखा है। चक्रपाणिदत्त का काल सं० १५००—१५५० के मध्य होगा।

४. **वारणवनेश** ने 'अमृतसृति' नाम से एक व्याख्या लिखी है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति तंजौर के पुस्तकालय में है।

५. **विश्वकर्मा शास्त्री** को टीका का नाम 'प्रक्रियाव्याकृति' है। तंजौर के पुस्तकालय में इस व्याख्या का जो हस्तलेख है, उसका नाम 'प्रक्रियाप्रदीप' दिया है।

६. **नृसिंह कृत** 'व्याख्यान' नाम्नी टीका की हस्तलिखित प्रति उदयपुर के पुस्तकालय में है।

७. **निर्मलदर्पणकार**—किसी अज्ञात नामा विद्वान ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की 'निर्मलदर्पण' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति मद्रास राजकीय पुस्तकाल में है।

८. **जयन्त**—जयन्त ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की 'तत्त्वचन्द्र' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति लन्दन की इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में है।

जयन्त ने यह व्याख्या शेषकृष्ण कृत प्रक्रियाकौमुदी की टीका के आधार पर की है, और अन्य किसी प्रक्रियाकौमुदी की टीका का उल्लेख नहीं किया, अतः सम्भव है कि इसका काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी का मध्यभाग हो।

यह जयन्त, न्यायमञ्जरीकार जयन्त से भिन्न और अर्वाचीन है।

९. **विद्यानाथ दीक्षित**—विद्यानाथ दीक्षित कृत 'प्रक्रियारञ्जन' नाम्नी टीका आफ्रेक्ट के बृहत् सूचीपत्र में निर्दिष्ट है।

१०. **वरदराज**—वरदराज ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की 'विवरण' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या का एक हस्तलेख उदयपुर पुस्तकालय में है।

यह वरदराज, लघुसिद्धान्तकौमुदी का रचयिता वरदराज है या उससे भिन्न, यह अज्ञात है।

११. **काशीनाथ**—काशीनाथ कृत प्रक्रियाकौमुदी पर 'प्रक्रियासार' नामक ग्रंथ का एक हस्तलेख पूना के संग्रह में विद्यमान है।

५. प्रक्रियाग्रन्थकार भट्टोजिदीक्षित (सं० १५७०—१६५०वि० के मध्य)

भट्टोजिदीक्षित ने पाणिनीय व्याकरण पर 'सिद्धान्तकौमुदी' नाम्नी एक प्रयोगानुसारी व्याख्या लिखी है। इससे पूर्व के 'रूपावतार', 'रूपमाला' और 'प्रक्रियाकौमुदी' में अष्टाध्ययी के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था। दीक्षित जी ने इस कमी को पूर्ण करने के लिए ' 'सिद्धान्तकौमुदी' ग्रंथ रचा। दीक्षित जी को किसी पाणिनीय सूत्र को छोड़ना सह्य नहीं रहा अतः अनावश्यक-से प्रतीत होने वाले सूत्रों को भी बड़ी खूबसूरती से अनिवार्य क्रम का अंग बनाकर 'सिद्धांतकौमुदी' में सन्निविष्ट किया गया है।

सम्प्रति समस्त भारतवर्ष में सिद्धान्तकौमुदी पाणिनीय व्याकरण के नव अध्येताओं के लिए एक मात्र आश्रय बनी हुई है।

दीक्षित ने 'सिद्धान्तकौमुदी' से पूर्व 'शब्दकौस्तुभ' लिखा था। यह पाणिनीय व्याकरण की सूत्र पाठानुसारी व्याख्या है। इसके तथा दीक्षित जी के काल आदि के विषय में १४ वें अध्याय में लिखा जा चुका है।

सिद्धान्तकौमुदी के व्याख्याता

१. **भट्टोजिदीक्षित** ने स्वयं 'सिद्धान्तकौमुदी की 'प्रौढ़मनोरमा' नाम से प्रसिद्ध व्याख्या लिखी है। इसमें प्रक्रियाकौमुदी और उसकी टीकाओं का स्थान-स्थान पर खण्डन किया गया। दीक्षित ने प्राचीन ग्रन्थकारों की तरह अन्य वैयाकरणों के मतों का संग्रह नहीं किया है, अतः आधुनिक पाणिनीय वैयाकरण अर्वाचीन व्याकरणों के तुलनात्मक ज्ञान से सर्वथा वञ्चित हो गये।

भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित ने 'प्रौढ़मनोरमा' पर 'बृहच्छब्दरत्न' और 'लघुशब्दरत्न' दो टीकाएँ खिखी हैं। 'लघुशब्दरत्न' को कई विद्वान् नागेशभट्ट की कृति मानते हैं। उनका कहना है कि नागेश भट्ट ने इसे लिख कर अपने गुरु के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। 'लघुशब्दरत्न' पर अनेक वैयाकरणों ने टीकाएँ लिखी हैं।

२. **ज्ञानेन्द्र सरस्वती** (सं० १५००—१६०० वि०) ने सिद्धान्तकौमुदी की 'तत्त्वबोधिनी' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसमें प्रायः 'प्रौढ़मनोरमा' का ही संक्षेप किया गया है। ज्ञानेन्द्र सरस्वती और भट्टोजिदीक्षित समकालीन हैं अतः ज्ञानेन्द्र सरस्वती का काल सं० १५५०—१६०० तक रहा होगा।

ज्ञानेन्द्र सरस्वती के शिष्य नीलकण्ठ वाजपेयी ने तत्त्वबोधिनी की 'गूढार्थदीपिका' नाम्नी व्याख्या लिखी थी।

३. **नीलकण्ठ वाजपेयी** ने सिद्धान्तकौमुदी की भी 'सुखबोधिनी' अपरनाम 'वैयाकरणसिद्धान्तरहस्य' नाम्नी एक टीका लिखी है।

४. **रामानन्द** (सं० १६८०-१७२० वि०) ने सिद्धान्तकौमुदी की 'तत्त्वदीपिका' नाम से एक व्याख्या लिखी है। वह सम्प्रति हलन्त स्त्रीलिङ्ग तक ही मिलती है।

रामानन्द सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज काशी में आकर बस गये थे। रामानन्द के पिता मधुकर त्रिपाठी अपने समय के उत्कृष्ट शैव विद्वान् थे।

मुगल सम्राट् शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह के साथ रामानन्द का विशेष सम्बन्ध था। उसने इन्हें 'विविधविद्याचमत्कारपारङ्गत' की उपाधि से विभूषित किया था। दाराशिकोह के कहने से रामानन्द ने 'विराड्विवरण' नामक पुस्तक लिखी थी जिसकी रचना सं० १७१३ वैशाख शुक्लपक्ष १३ शनि को समाप्त हुई थी।

रामानन्द द्वारा लिखित संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थों में लगभग ५० ग्रन्थ पूर्ण अथवा खण्डित हैं। रामानन्द ने पाणिनीय लिङ्गानुशासन की भी एक टीका लिखी थी जो सम्प्रति अपूर्ण उपलब्ध होती है।

५. रामकृष्ण भट्ट (सं० १७१५ वि०) ने सिद्धान्तकौमुदी की 'रत्नाकर' नाम से व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के हस्तलेख अनेक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। इनके पिता का नाम तिरुमल भट्ट और पितामह का नाम वेङ्कटाद्रि भट्ट था। इस व्याख्या के हस्तलेख के अन्त में जो पाठ मिलता है उसके अनुसार रामकृष्ण भट्ट का काल सं० १६६० से १७५० तक होना चाहिए।

६. **नागेश भट्ट** ने 'लघुशब्देन्दुशेखर' नाम्नी दो व्याख्याएँ सिद्धान्त-कौमुदी पर लिखी हैं। 'बृहच्छब्देन्दुशेखर' अमुद्रित है। इसके हस्तलेख भारत के अनेक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। शब्देन्दुशेखर की रचना 'महाभाष्यप्रदीपोद्योत' से पूर्व हुई थी। इनके लघुशब्देन्दुशेखर पर अनेक वैयाकरणों ने टीकाएँ लिखी हैं।

नागेशभट्ट के विषय में बारहवाँ अध्याय देखिए।

७. **रङ्गनाथ यज्वा** ने सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या 'पूर्णिमा' लिखी थी, ऐसा निर्देश वामनाचार्यसूनु वरदराज अपने 'क्रतुवैगुण्यप्रायश्चित्त' ग्रन्थ के आरम्भ में किया है। रङ्गनाथ यज्वा का काल विक्रम की १८ वीं शती का मध्य है।

८. **वासुदेव वाजपेयी** (सं १७४०-१८०० वि०) ने सिद्धान्तकौमुदी की 'बालमनोरमा' नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह सरल होने के कारण छात्रों के लिए वस्तुतः बहुत उपयोगी है। वासुदेव वाजपेयी के पिता का नाम महादेव वाजपेयी, माता का नाम अन्नपूर्णा और गुरु का नाम विश्वेश्वर वाजपेयी था। वासुदेव वाजपेयी चोल (तञ्जौर) देश के भोसलवंशी यशाह जी, शरभ जी, तुक्को जी नामक तीन राजाओं के मन्त्री विद्वान् सार्वभौम आनन्दराय के अध्वर्यु थे। उक्त तीनों राजाओं का राज्यकाल सन् १६८७-१७३८ (वि० सं० १७४४-१७६३) तक माना जाता है। 'बालमनोरमा' के अन्त में तुक्को जी राजा के नाम का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना तुक्को जी के काल में हुई थी, अतः बालमनोरमाकार का काल सं० १७४०-१८०० के मध्य माना जाना चाहिए।

९. **कृष्णमित्र** ने सिद्धान्तकौमुदी पर 'रत्नार्णव' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका उल्लेख आफ्रेक्ट के बृहत् सूचीपत्र में है। कृष्णमित्र ने 'शब्दकौस्तुभ' पर भी 'भावप्रदीप' नाम्नी व्याख्या लिखी है।

१०. **रामचन्द्र**—'नागोजी' के पुत्र शेषवंशीय रामचन्द्र ने सिद्धान्तकौमुदी के स्वरप्रक्रिया अंश की व्याख्या लिखी है। इसका हस्तलेख जम्मू के रघुनाथमन्दिरस्थ पुस्तकालय में हैं।

११. **तिरुमल द्वादशाहयाजी** की, सिद्धान्तकौमुदी पर 'सुमनोरमा' टीका का हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में है। सिद्धान्तकौमुदी की 'रत्नाकर' व्याख्या लिखने वाले रामकृष्ण के पिता का नाम तिरुमल और पितामह का नाम वेङ्कटाद्रि है। सुमनोरमाकार तिरुमल भी वेङ्कटाद्रि के पुत्र हैं। यदि रामकृष्ण के पिता यही तिरुमल यज्वा हों तो इनका काल सं० १७०० के लगभग होगा।

सिद्धान्तकौमुदी की निम्नलिखित टीकाओं के हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में विद्यमान हैं—

१२. **तोप्पल दीक्षितकृत**—प्रकाश

१३. **अज्ञातकर्तृक** —लघुमनोरमा

१४. ,, शब्दसागर

१५. ,, शब्दरसार्णव

१६. ,, सुधाञ्जन

मद्रास राजकीय पुस्तकालय में निम्न टीका का हस्तलेख है—

१७. **लक्ष्मीनृसिंह** —विलास

सिद्धान्तकौमुदी की निम्नलिखित टीकाओं का उल्लेख आफ्रेक्ट के बृहत् सूचीपत्र में है—

१८. **शिवरामचन्द्र** (=शिवरामेन्द्र) सरस्वती—रत्नाकर
१९. **इन्द्रदत्तोपाध्याय** —फक्किका प्रकाश
२०. **सारस्वत व्यूढ मिश्र** —बालबोध
२१. **वल्लभ** —मानसरञ्जनी

प्रौढमनोरमा के खण्डनकर्ता

१. **शेष वीरेश्वर-पुत्र**—वीरेश्ववर अपरनाम रामेश्वर ने 'प्रौढमनोरमा' के खण्डन पर एक ग्रन्थ लिखा था। इसका निर्देश पण्डितराज जगन्नाथ ने 'मनोरमाकुचमर्दन' में किया है।

२. **चक्रपाणिदत्त**—चक्रपाणिदत्त ने 'प्रौढमनोरमा' के खण्डन पर 'परमत-खण्डनम्' नामक ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ इस समय सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होता। इसके दो हस्तलेख भण्डारकर प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान पूना के संग्रह में हैं।

चक्रपाणिदत्त शेष वीरेश्वर के शिष्य हैं। इन्होंने प्रक्रियाकौमुदी की टीका भी लिखी है। इनका काल (सं० १५००—१५५० वि०) है

३. **पण्डितराज जगन्नाथ**—पण्डितराज ने 'प्रौढ़मनोरमा' के खण्डन में 'कुचमर्दन' नामक ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ इस समय सम्पूर्ण नहीं उपलब्ध होता। कुछ अंश चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढमनोरमा भाग ३ के अन्त में छपा है। पण्डितराज ने भट्टोजि-दीक्षित के शब्दकौस्तुभ के भी खण्डन में एक ग्रन्थ लिखा था।

६. प्रक्रियाग्रन्थकार नारायण भट्ट

नारायण भट्ट ने 'प्रक्रियासर्वस्व' नामक प्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है। इसमें २० प्रकरण हैं। इन्होंने यह ग्रन्थ किसी देवनारायण नामक राजा की आज्ञा से लिखा था। इस ग्रन्थ के टीकाकार केरल वर्मदेव के लेखानुसार नारायण भट्ट ने इस ग्रन्थ को साठ दिन में पूरा रच लिया था।

इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्र यथास्थान सन्निविष्ट हैं। प्रकरणों का विभाग और क्रम, सिद्धान्तकौमुदी से भिन्न है। इस ग्रन्थ में भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण और उसकी वृत्ति से पर्याप्त सहायता ली गयी है।

नारायण भट्ट का काल

(१) नारायण भट्ट विरचित 'अपाणिनीय प्रमाणता' के सम्पादक ई० वी० रामशर्मा ने 'अपाणिनीयप्रमाणता' का रचनाकाल सन् १६१८–९१ ई० (वि० सं० १६७५—१७४८) माना है।

(२) प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक साम्बशास्त्री ने नारायण भट्ट का काल सन् १५६०—१६७६ (वि० सं० १६१७—१७३३) तक माना है।

(३) प्रक्रिया सर्वस्व के टीकाकार केरल वर्मदेव ने लिखा है कि भट्टोजि दीक्षित ने नारायण भट्ट से मिलने के लिए केरल की ओर चले किन्तु मार्ग में नारायण भट्ट की मृत्यु का समाचार सुन कर लौट पड़े। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि नारायण भट्ट ने अपने ग्रंथ में भट्टोजिदीक्षित के ग्रन्थ से कहीं सहायता नहीं ली। यदि यह लेख प्रामाणिक माना जाय तो **नारायण भट्ट का काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी** मानना होगा। प्रक्रिया-सर्वस्व के सम्पादक ने लिखा है कि कई लोग इस (पूर्वोक्त) घटना का विपरीत वर्णन करते हैं। अर्थात् नारायण भट्ट, दीक्षित से मिलने चले और मार्ग में दीक्षित की मृत्यु का समाचार सुन कर लौट पड़े।

(४) ई० बी० रामशर्मा के अनुसार नारायण भट्ट ने वेद का अध्ययन मीमांसकमूर्धन्य माधवाचार्य से किया था। यदि ये माधवाचार्य सायण के ज्येष्ठ भ्राता हों, जिनके नाम पर सायण ने धातुवृत्ति (माधवीया धातुवृत्ति) लिखी थी तो नारायण भट्ट का काल वि० कि पन्द्रहवीं शताब्दी मानना होगा। अतः नारायण भट्ट का काल अभी विचारणीय है।

प्रक्रियासर्वस्व के अतिरिक्त नारायण भट्ट के व्याकरण विषयक दो ग्रन्थ और हैं— (१) धातुकाव्य, (२) अपाणिनीय प्रमाणता।

विभिन्न विषयों पर लिखे गये इनके कुल ३८ ग्रन्थ हैं।

प्रक्रियासर्वस्व की टीकाएँ

'प्रक्रियासर्वस्व' के सम्पादक साम्ब शास्त्री ने तीन टीकाओं का उल्लेख किया है। एक टीका केरल-कालिदास केरल वर्मदेव ने लिखी है। इनका काल सं० १९०१—१९७१ तक माना जाता है। अन्य टीकाकारों के नाम अज्ञात हैं।

अन्य प्रक्रिया-ग्रन्थ

इसके अतिरिक्ति लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी आदि छोटे-मोटे प्रक्रियाग्रन्थ रचे गये। ये सब अत्यन्त साधारण और अर्वाचीन हैं अतः ये उल्लेखनीय न होने से छोड़ दिये गये।

सप्तदश अध्याय

आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण

आचार्य पाणिनि के अनन्तर भी व्याकरण की दिशा में जो नया चिन्तन-क्रम चलता रहा, तत्परिणामस्वरूप जहाँ विविध वैयाकरणों द्वारा पाणिनीय-व्याकरण पर अनेक नये विवेचनात्मक ग्रन्थों का निर्माण कार्य किया गया, वहीं अन्य अनेक वैयाकरणों द्वारा, पाणिनिपूर्वयुग के समान ही नये व्याकरण शास्त्रों का भी सृजन हुआ है। पणिनीय व्याकरण पर हुए विवेचनात्मक नव निर्माण कार्य का वर्णन करने के पश्चात् अब इस अध्याय में पाणिनि के उत्तरवर्ती मुख्य-मुख्य वैयाकरणों और उनके द्वारा निर्मित व्याकरणशास्त्रों पर अत्यन्त संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

आचार्य पाणिनि के अनन्तर रचे गये सभी उपलब्ध व्याकरणों में दो बातें समान रूप से पायी जाती हैं। पहिली यह कि उन व्याकरण ग्रन्थों में केवल लौकिक संस्कृत शब्दों का ही अन्वाख्यान है। और दूसरी यह कि उन सब व्याकरणों का मुख्य उपजीव्य पाणिनीय व्याकरण है। एक कातन्त्र व्याकर ही ऐसा है, जिसका आधार कोई अन्य प्राचीन व्याकरण है।

१. कातन्त्रकार (२००० वि० पू०)

व्याकरण-वाङ्मय में 'कातन्त्रव्याकरण' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसे 'कलापक' और 'कौमार' भी कहते हैं। अर्वाचीन वैयाकरण कलाप शब्द से भी इसका व्यवहार करते हैं। इस व्याकरण में दो भाग हैं। एक आख्यातान्त और दूसरा कृदन्त। दोनों भाग दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रचनाएँ हैं।

कातन्त्र शब्द का अर्थ—कातन्त्रवृत्ति-टीकाकार दुर्गसिंह आदि वैयाकरण कातन्त्र शब्द का अर्थ 'लघुतन्त्र' करते हैं। उनके मतानुसार ईषत्=लघु अर्थवाची 'कु' शब्द को 'का' आदेश होता। तदनुसार कातन्त्रव्याकरण किसी बृहत्तन्त्र का लघु या संक्षिप्त रूप है।

कलापक शब्द का अर्थ—'कलाप' शब्द से ह्रस्व अर्थ में 'क' प्रत्यय होने से 'कलापक' शब्द बनता है। 'काशकृत्स्न तन्त्र' का नाम 'शब्द-कलाप' है। उसी का संक्षेप कलापक अथवा कातन्त्रव्याकरण है।

अर्वाचीन वैयाकरण कलाप शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय मानते हैं। वे इसका वास्तविक 'नाम' कलाप समझते हैं। कातन्त्रीय वैयाकरणों में

किवदन्ती है कि कुमार = कार्तिकेय ने सर्वप्रथम इसे कलाप = मयूर की पूंछ पर लिखा था इसी से इसका नाम कलाप हुआ । ।

हेमचन्द्र और दशपादी उणादिवृत्तिकार 'कलापक' की व्याख्या 'किसी बृहत्तन्त्र से कलापों को पीने वाला लघुतन्त्र' करते हैं । इससे स्पष्ट है कि किसी बड़े ग्रंथ से संक्षेप होने के कारण कातन्त्र का नाम कलापक हुआ है । वह बृहत्तन्त्र काशकृत्स्न था ।

कौमार शब्द का अर्थ—वैयाकरणों में प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार कुमार कार्तिकेय की आज्ञा से शर्ववर्मा ने इसकी रचना की है ।

वास्तव में कुमारों (=बालकों) को व्याकरण का साधारण ज्ञान कराने के लिए प्रारम्भ में यह ग्रन्थ पढ़ाया जाता था । अतएव इसका नाम कौमार (कुमाराणामिदं कौमारम्) पड़ा । मारवाड देश में अभी तक देशी पाठशालाओं में बालकों को पाँचो सिधी पाटियाँ पढ़ाई जाती हैं । ये पाँच पाटियाँ कातन्त्र व्याकरण के प्रारम्भिक पाँच पदों का ही विकृत रूप हैं । क्रमशः एक-एक पाटी की, कातन्त्र के प्रारम्भिक एक-एक पाद से तुलना करके स्पष्ट देखा जा सकता है । बंगाल में तो इस व्याकरण का अत्यन्त प्रचार है ही ।

कातन्त्र व्याकरण काशकृत्स्नतन्त्र का संक्षेप

काशकृत्स्नतन्त्र की कन्नड टीका में काशकृत्स्न के लगभग १३५ सूत्र उपलब्ध हो गये हैं । इन उपलब्ध सूत्रों की, काशकृत्स्न सूत्रों से तुलना करने पर यही परिणाम निकलता है कि कातन्त्र, काशकृत्स्न का ही संक्षेप है ।

इसी प्रकार काशकृत्स्न और कातन्त्र दोनों के धातुपाठ की भी पारस्परिक तुलना करने से स्पष्ट विदित होता है कि कातन्त्र धातुपाठ, काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप है । कातन्त्र की संक्षिप्तता के कारण उसमें जो धातुएँ छोड़ दी गयीं हैं उनके अतिरिक्त कातन्त्र के धातुपाठ तथा काशकृत्स्न के धातुपाठ में समानुपूर्विता पायी जाती है । दोनों तन्त्रों के सूत्र, अनुबन्ध और संज्ञाओ की समानता, दोनों धातुपाठों में पठित छान्दसधातुओं की समरूपता, स्वरानुरोध से संयोजित 'न्' आदि अनुबन्ध, ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि कातन्त्र, काशकृत्स्न का संक्षेप है ।

काल

कातन्त्र व्याकरण का रचनाकाल अत्यन्त विवादास्पद है । फिर भी उसके कालनिर्णय के लिए उपलब्ध प्रमाणों का निर्देश करते हैं—

१. कथासरित्सागर (गुणाढ्य कृत बृहत्कथा का रूपान्तर) के अनुसार शर्ववर्मा ने सातवाहन नृपति को व्याकरण का बोध कराने के लिए कातन्त्र-व्याकरण पढ़ाया था। सातवाहन आन्ध्रकुल का व्यक्ति है। आन्ध्रकुल विक्रम से पूर्ववर्ती है।[१]

२. शूद्रकविरचित पद्मप्राभृतक भाण में कातन्त्र का उल्लेख है। यह वही शूद्रक कवि है जिसने मृच्छकटिक नाटक लिखा है। दोनों ग्रन्थों के आरम्भ में शिव की स्तुति और दोनों ग्रन्थों में वर्णनशैली समान है। 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना के अनुसार शूद्रक कवि अनेक विद्याओं में निष्णात अश्वमेध-याजी, शिवभक्त महीपाल था। यह, हाल नामा सात वाहन नृपति का सम-कालीन था और विक्रम से लगभग ४००—५०० वर्ष पूर्ववर्ती था।[२]

३. चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति के प्रारम्भ में एक श्लोक के अन्तर्गत अपने व्याकरण के लिये तीन विशेषण **'लघुविस्पष्टसम्पूर्णम्'** लघु, विस्पष्ट और सम्पूर्ण दिये हैं। इनमें चन्द्राचार्य ने 'सम्पूर्ण' विशेषण कातन्त्र की व्यावृत्ति के लिए रखा है। क्योंकि कातन्त्र लघु और विस्पष्ट तो है किन्तु सम्पूर्ण नहीं है। इसके मूलग्रंथ में कृत् प्रकरण का समावेश नहीं है। पाणिनीय व्याकरण सम्पूर्ण तो है, किन्तु लघु नहीं, महान् है। चन्द्राचार्य का काल भारतीय गणनानुसार वि० से १००० वर्ष पूर्व है।

४. महाभाष्य (४।२।६५) में लिखा है—

'संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—महावार्तिकः, कालापकः।'

ये दोनों प्रत्युदाहरण 'संख्याप्रकृतिः' अंश के हैं। इनमें सूत्र वाचकत्व और कोपधत्व अंश का रहना आवश्यक है। अतः 'कालापकाः' प्रत्युदाहरण में निर्दिष्ट 'कलापक' निश्चय ही किसी सूत्रग्रन्थ का वाचक है और पूर्वोद्धृत व्युत्पत्ति के अनुसार वह कातन्त्र व्याकरण का वाचक है। भारतीय गणना के अनुसार महाभाष्यकार का काल विक्रम से लगभग २००० वर्ष पूर्व है।

५. महाभाष्य और वार्तिक पाठ में प्राचीन आचार्यों की अनेक संज्ञायें उपलब्ध होती हैं। कातन्त्र व्याकरण में भी उन्ही संज्ञाओं का व्यवहार

---

१. पं० भगवद्दत्त जी कृत भारत वर्ष का इतिहास द्वि० संस्करण।

२. पं० भगवद्दत्त जी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वि० संस्करण, पृष्ठ २६१—३०६।

उपलब्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि कातन्त्र व्याकरण पर्याप्त प्राचीन है।

६. महाभाष्य में अनेक स्थानों पर पूर्वसूत्रों का उल्लेख है। उन पूर्वसूत्रों के विषय में कैयट का कहना है कि पूर्वाचार्य जिसको कार्य करना होता है उसका षष्ठी से नहीं, प्रथमा से निर्देश करते हैं।

पतञ्जलि और कैयट द्वारा सूचित वह प्राचीन शैली कातन्त्र व्याकरण में पूर्णतया उपलब्ध होती है। उसमें सर्वत्र कार्यी (जिसके स्थान से कार्य करना हो उस) का प्रथमा विभक्ति से ही निर्देश किया है। इससे स्पष्ट होता है कि कातन्त्र की रचना शैली अत्यन्त प्राचीन है। पाणिनि आदि ने कार्यों का निर्देश षष्ठी विभक्ति से किया है।

७. कातन्त्र व्याकरण में **देवेभिः, पितरस्तर्पयामः, अर्वन्तौ अर्वन्तः, मघवन्तौ मघवन्तः** तथा **दीधीङ् वेवीङ्** और **इन्धी** धातु से निष्पन्न प्रयोगों की सिद्धि दर्शायी है। कातन्त्र व्याकरण विशुद्ध लौकिक भाषा का संक्षिप्त व्याकरण है। महाभाष्य के अनुसार 'अर्वन्-मघवन्' प्रातिपदिक और दीधीङ्-वेवीङ् और इन्धी धातु छान्दस हैं। पाणिनि इन्हें छान्दस नहीं मानते।

इससे स्पष्ट है कि कातन्त्र व्याकरण की रचना उस समय हुई जब उपर्युक्त शब्द लौकिक भाषा में प्रयुक्त होते थे। वह काल महाभाष्य से पर्याप्त प्राचीन होगा। यदि कातन्त्र की रचना महाभाष्य के अनन्तर होती तो महाभाष्य में जिन प्रातिपदिकों और धातुओं को छान्दस माना है उनका उल्लेख कातन्त्र में कदापि न होता। इससे स्पष्ट है कि कातन्त्र, महाभाष्य से प्राचीन है।

यदि कातन्त्र व्याकरण का वर्तमान रूप इतना प्राचीन न भी हो, तब भी यह अवश्य मानना होगा कि कातन्त्र का मूल अवश्य प्राचीनतम है।

कातन्त्र व्याकरण का कर्ता

कथासरित्सागर और कातन्त्रवृत्ति टीका[1] आदि के अनुसार कातन्त्र व्याकरण के आख्यातान्त भाग का कर्ता शर्ववर्मा है। अल्बेरूनी ने भी कातन्त्र को शर्ववर्मा विरचित लिखा है। पं० गुरुपद हालदार ने शर्ववर्मा को कातन्त्र की विस्तृत वृत्ति का रचयिता लिखा है।

---

१. तत्र भगवत्कुमारप्रणीतसूत्रानन्तरं तदाज्ञयैव श्रीशर्ववर्म्मणा प्रणीतं सूत्रं कथमनर्थकं भवति। परिशिष्ट, ४६६।

वास्तव में वर्तमान कातन्त्र व्याकरण शर्ववर्मा द्वारा संक्षिप्त किया हुआ है। इस संक्षिप्त संस्करण का काल वि० से कम से कम ४००–५०० वर्ष प्राचीन है। इसका मूलग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन है।

कृदन्त भाग का कर्ता—-कात्यायन

कातन्त्र का वृत्तिकार दुर्गसिंह कृदन्त के आरम्भ में लिखता है—

वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृता कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धप्रतिपत्तये॥

अर्थात् कातन्त्र का कृदन्त भाग कात्यायन ने बनाया है। कात्यायन नामक अनेक आचार्य हो चुके हैं। दुर्गसिंह के लेख से स्पष्ट नहीं है कि कृदन्त भाग किस कात्यायन ने बनाया। सम्भव है कि महाराज विक्रम के पुरोहित कात्यायन गोत्रज वररुचि ने कृदन्त भाग की रचना की हो।

विशेष—जरनल गङ्गानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट भाग १, अङ्क ४ में तिब्बतीय ग्रन्थों के आधार पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसके लेखक ने कहा है—

"सातवाहन के चाचा भाववर्मा ने 'शंकु' से संक्षिप्त किया ऐन्द्र व्याकरण प्राप्त किया। जिसका प्रथम सूत्र 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' था। यह पन्द्रह पादों में था। इसका संक्षेप वररुचि शर्ववर्मा ने किया। तब इसका नाम 'कलापसूत्र' हुआ। क्योंकि अनेक स्रोतों से इसका संकलन हुआ था, उन सूत्रों के, मोर की पूँछ के समान विस्तीर्ण होने के कारण ही यह (कलापक) नाम पड़ा। इसमें २५ अध्याय (अर्थात् पाद) और ४०० श्लोक थे।"

इसके आधार पर डॉ० सत्यकाम वर्मा का, कृदन्त भाग के रचयिता के विषय में कहना है—

"इस (कलापक) में कृदन्त भाग समेत २५ पाद बैठते हैं। इसकी पूर्णता विविध स्रोतों से शर्ववर्मा द्वारा की गयी, जिसका अपर नाम वररुचि भी था। यह भाववर्मा का सम्बन्धी, और कदाचित् सातवाहन नृपति का बन्धु रहा होगा। इसने ही उसे पूर्णता प्रदान की।

अतः स्पष्ट है कि शर्ववर्मा ने सम्पूर्ण कातन्त्र का संक्षेप किया और इसे पूर्ण भी किया। स्वयं वही 'वररुचि' था, जिसे बाद में 'कात्यायन' नाम से भी कह दिया गया।" (संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास पृ० ३४८—४६)

वर्मा जी के कथन से ध्वनित होता है कि कातन्त्र-वृत्तिकार दुर्गसिंह द्वारा कृदन्त के आरम्भ में लिखित 'कात्यायनेन ते सृष्टा विबुधप्रतिपत्तये' वचन में 'कात्यायन' नाम से वररुचि शर्ववर्मा ही अभिप्रेत हैं।

कातन्त्रपरिशिष्ट का कर्ता—श्रीपतिदत्त

आचार्य कात्यायन द्वारा कृदन्त भाग का समावेश हो जाने पर भी कातन्त्र व्याकरण में रह गयीं अनेक न्यूनताओं को दूर करने के लिए श्रीपतिदत्त ने कातन्त्र परिशिष्ट की रचना की। इस पर इन्होंने स्वयम् एक वृत्ति भी लिखी है। श्रीपतिदत्त का काल अज्ञात है, परन्तु वे विक्रम की ११ वीं शती से पूर्ववर्ती हैं, इतना स्पष्ट है।

कातन्त्रोत्तर-कर्त्ता—विजयानन्द (१२०० वि० से पूर्व)

श्रीपतिदत्त द्वारा 'कातन्त्रपरिशिष्ट' रचे जाने के बाद भी विजयानन्द (अपर नाम विद्यानन्द) ने कातन्त्र व्याकरण में कुछ और कमी अनुभव की अतः उसे दूर कर कातन्त्र व्याकरण की महत्ता बढ़ाने के उद्देश्य से उन्होंने 'कातन्त्रोत्तर' नामक ग्रन्थ लिखा। डॉ० बेल्वाल्कर ने इस ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम त्रिलोचनदास लिखा है, जो किसी भ्रम का परिणाम लगता है।

'कातन्त्रोत्तर' का सं० १२०८ का एक हस्तलेख उपलब्ध है अतः विजयानन्द वि० सं० १२०० से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

कातन्त्र का प्रचार

सम्प्रति कातन्त्र व्याकरण का प्रचार बंगाल तक ही सीमित है। किसी समय इसका प्रचार न केवल सम्पूर्ण भारत वर्ष में, अपितु उससे बाहर भी था। मारवाड़ की देशी पाठशालाओं में कातन्त्र के प्रारम्भिक भाग का विकृतरूप 'सीधी पाटी' अभी तक पढ़ायी जाती है। शूद्रकविरचित 'पद्मप्राभृतक' भाग से प्रतीत होता है कि कातन्त्रानुयायियों की पणिनीयों से महती स्पर्धा थी।

कीथ के संस्कृत साहित्य के इतिहास से विदित होता है कि कातन्त्र के कुछ भाग मध्य एशिया को खुदाई से प्राप्त हुए थे। कातन्त्र के ये भाग एशिया तक निश्चय ही बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा पहुँचे होंगे। कातन्त्र का धातुपाठ अभी तक उपलब्ध है।

कातन्त्र के वृत्तिकार

कातन्त्र की दुर्गसिंह विरचित वृत्ति ही उपलब्ध वृत्तियों में सबसे प्राचीन है। उसमें **केचित्, अपरे,** अन्ये आदि शब्दों द्वारा अनेक वृत्तिकारों के मत उद्धृत हैं। अतः निस्सन्देह कहा जा सकता है कि दुर्गसिंह से पूर्व अनेक वृत्तिकार हो चुके थे, जिनके विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं है।

सम्प्रति निम्नलिखित वृत्तिकारों की वृत्तियाँ ज्ञात या उपलब्ध हैं—

(१) शर्ववर्मा; (२) वररुचि, (३) दुर्गसिंह, (४) उमापति, (५) जिनप्रभ सूरि, (६) जगद्धर भट्ट, (७) पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर।

१. शर्ववर्मा

श्री पं० गुरुपद हालदार ने शर्ववर्मा को 'कातन्त्र' की 'वृहद्वृत्ति' का रचयिता लिखा है, किन्तु कोई प्रमाण नहीं दिया है।

२. वररुचि

पं० गुरुपद हालदार ने कातन्त्र की वररुचि-कृत 'चैत्रकूटी' वृत्ति का उल्लेख किया है।

विशेष—डा० सत्यकाम वर्मा का कथन है कि कातन्त्रवृत्तिकार शर्ववर्मा और वररुचि अभिन्न व्यक्ति हैं। शर्ववर्मा का ही दूसरा नाम वररुचि था, यह बात तिब्बती परम्परा से प्रमाणित है। किन्तु इस बात से अनजान रह कर ही श्री गुरुपद हालदार ने इन दोनों को दो पृथक् वृत्तिकारों के रूप में गिना है।

३. दुर्गसिंह

आचार्य दुर्गसिंह विरचित कातन्त्र वृत्ति सम्प्रति उपलब्ध है। यह उपलब्ध वृत्तियों में सबसे प्राचीन है। इन्होंने लिङ्गानुशासन की वृत्ति के एक श्लोक में दुर्गसिंह, दुर्गात्मा, दुर्ग दुर्गप आदि अपने अनेक नामों का उल्लेख किया है।

दुर्गसिंह की वृत्ति में कुछ प्रयोग ऐसे हैं जिन्हें उस वृत्ति के एक टीकाकार अन्य दुर्गसिंह ने भारवि और मयूर कवियों की कृतियों से उद्धृत माना है। इससे स्पष्ट है कि वृत्तिकार दुर्गसिंह भारवि और मयूर से परवर्ती हैं। भारवि का काल विक्रम की छठीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। महाकवि मयूर महाराज हर्षवर्धन का सभापण्डित था। हर्षवर्धन का राज्यकाल सं० ६६३-७०५ तक है। यह दुर्गसिंह की पूर्वसीमा है। 'काशिका' में दुर्गसिंह की

इस वृत्ति के मतों का खण्डन होने से दुर्गसिंह की कातन्त्रवृत्ति निश्चय ही 'काशिका' से पूर्ववर्ती है। काशिका का वर्तमान स्वरूप सं० ७०० से पूर्ववर्ती है यह दुर्गसिंह की उत्तरसीमा है। अतः कातन्त्रवृत्तिकार दुर्गसिंह का काल सं० ६००-६८० के मध्य मानना ठीक होगा।

दुर्गवृत्ति के टीकाकार

दुर्गसिंह-विरचित कातन्त्रवृत्ति की टीका चार विद्वानों ने की है—(१) दुर्गसिंह, (२) उग्रभूति (३) त्रिलोचनदास (४) वर्धमान।

(१) **दुर्गसिंह**—दुर्गसिंह विरचित कातन्त्रवृत्ति पर एक अन्य दुर्गसिंह ने टीका लिखी है। गुरुपद हालदार ने इस टीकाकार का नाम दुर्गगुप्तसिंह लिखा है। यह टीकाकार दुर्गसिंह वृत्तिकार दुर्गसिंह से भिन्न हैं क्योंकि टीकाकार दुर्गसिंह ने वृत्तिकार दुर्गसिंह के लिए ग्रन्थ के आरम्भ में 'भगवान्' विशेषण का प्रयोग किया है। यदि टीकाकार स्वयं वृत्तिकार भी होता तो वह वैसा कदापि न करता—

'भगवान् वृत्तिकारः श्लोकमेकं कृतवान् देवदेवमित्यादि।'

कीथ और एस० पी० भट्टाचार्य नामसादृश्य-जन्य भ्रम से टीकाकार दुर्ग और वृत्तिकार दुर्ग को एक मान बैठे।

टीकाकार दुर्गसिंह के काल का अभी निश्चय नहीं हो सका। सम्भव है कि यह नवीं शताब्दी का ग्रन्थकार हो।

(२) **उग्रभूति**—उग्रभूति ने दुर्गवृत्ति पर '**शिष्यहितन्यास**' नाम्नी टीका लिखी है। मुसलमान यात्री अल्बेरूनी इसका नाम 'शिष्यहितावृत्ति' लिखता है। उसने इस ग्रन्थ के प्रचार की कथा का भी उल्लेख किया है। इस कथा के अनुसार उग्रभूति का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी है।

(३) **त्रिलोचनदास**—त्रिलोचनदास ने दुर्गवृत्ति पर 'कातन्त्रपञ्जिका' नाम्नी बृहती वृत्ति लिखी है। त्रिलोचन दास का निश्चित काल अज्ञात है।

पञ्जिका टीकाकार

(क) **त्रिविक्रम**—त्रिविक्रम ने त्रिलोचनदासकृत 'पञ्जिका' पर 'उद्योत' नाम्नी टीका लिखी है। इसका एक हस्तलेख सं० १२२१ का मिलता है अतः त्रिविक्रम का काल वि० की १३ वीं शताब्दी से पूर्व है।

(ख) विश्वेश्वरतर्काचार्य, (ग) जिनप्रभ सूरि, (घ) कुशल, (ङ) रामचन्द्र।

(४) **वर्धमान**—वर्धमान ने दुर्गवृत्ति पर एक टीका लिखी है। डॉ० बेल्वाल्कर ने इसका नाम 'कातन्त्रविस्तर' लिखा है। गोल्डस्टुकर इस वर्धमान को 'गणरत्नमहोदधि' का कर्ता मानता है।

वर्धनान की टीका पर 'पृथ्वीधर' ने एक व्याख्या लिखी है।

इसके अतिरिक्त (५) काशीराज, (६) लघुवृत्तिकार, (७) हरिराम, (८) चतुष्टयप्रदीपकार, (९) गोल्हण आदि अनेक विद्वानों ने दुर्गवृत्ति पर टीकाएँ लिखी हैं।

४. उमापति (सं० १२०० वि०)

उमापति ने 'कातन्त्र' पर एक व्याख्या लिखी थी। यह उमापति लक्ष्मण-सेन के सभापण्डितों में अन्यतम है। अतः इसका काल विक्रम की १२ वीं शती का अन्तिम चरण है। उमापति ने 'पारिजातहरण' काव्य भी लिखा था।

५. जिनप्रभ सूरि (सं० १३५२ वि०)

आचार्य जिनप्रभ सूरि ते 'कातन्त्र' की 'कातन्त्रविभ्रम' नाम्नी टीका लिखी है। इसकी रचना सं० १३५२ में देहली में हुई थी डॉ बेल्वाल्कर ने इसे त्रिलोचनदास की 'पञ्जिका' की टीका माना है।

इस 'कातन्त्रविभ्रम' के कुछ दुर्ज्ञेय भाग पर चारित्र सिंह ने 'अवचूर्णि' नाम्नी एक टीका लिखी है। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने इसका रचनाकाल सं० १६२५ लिखा है।

६. जगद्धर भट्ट (सं० १३५० वि० समीपवर्ती)

जगद्धर ने अपने पुत्र यशोधर को पढ़ाने के लिए कातन्त्र की 'बाल-बोधिनी' वृत्ति लिखी है। ये काश्मीर के प्रसिद्ध पण्डित हैं। इन्होंने 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' ग्रन्थ और मालतीमाधव आदि अनेक ग्रन्थों की टीकाएँ की हैं।

डॉ० बेल्वाल्कर जगद्धर का काल १० वीं शताब्दी मानते हैं, यह ठीक नहीं है। क्योंकि जगद्धर ने वेणीसंहार नाटक की टीका में 'रूपावतार' को उद्धृत किया है। 'रूपावतार' सं० ११४० के लगभग रचा गया है। जगद्धर का काल सं० १३५० के लगभग मानना युक्त होगा।

जगद्धरकृत बालबोधिनी वृति की टीका राजानक शितिकण्ठ ने की है। ये जगद्धर की प्रपौत्री के पुत्र थे। इनका काल वि० की १५ वीं शती का उत्तरार्द्ध है।

७. पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर (सं० १४५०—१५५० वि०)

पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर ने कातन्त्र की एक वृत्ति लिखी थी। इसका निर्देश पुरुषोत्तम देव की परिभाषावृत्ति के सम्पादक श्री दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य ने किया है।

पुण्डरीकाक्ष ने न्यास तथा भट्टिकाव्य पर भी टीका लिखी थी।

इन वृत्तिकारों के अतिरिक्त कातन्त्रव्याकरण पर अनेक वैयाकरणों ने वृत्तियाँ लिखी होंगी, परन्तु उनका आज कुछ पता नहीं है।

२. चन्द्रगोमी (सं० १००० वि० पू०)

आचार्य चन्द्रगोमी ने पाणिनीय व्याकरण के आधार पर एक नये व्याकरण की रचना की। इसकी रचना में पातञ्जल महाभाष्य से भी पर्याप्त सहायता ली गयी है।

परिचय

चन्द्रगोमी के वंश का कोई परिचय नहीं प्राप्त होता। चान्द्रव्याकरण के प्रारम्भ में उपलब्ध श्लोक से पता चलता है कि ये बौद्धमतावलम्बी थे।

देश—कल्हण के लेख से इतना ही ज्ञात होता है कि चन्द्राचार्य ने कश्मीर में महाराज अभिमन्यु की आज्ञा से महाभाष्य का प्रचार किया। उससे यह नहीं विदित होता कि चन्द्राचार्य का जन्म भारत के किस प्रान्त में हुआ था। इस विषय पर साक्षात् प्रकाश डालने वाला कोई अन्य प्रमाण भी नहीं मिलता है।

बंगवासी अन्तस्थ वकार और पवर्गीय बकार का उच्चारण एक जैसा करते हैं। उनका यह उच्चारण-दोष अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। चन्द्राचार्य बङ्गदेशीय थे; क्योंकि उक्त उच्चारण-दोष उनमें भी मिलता है। यथा—चन्द्राचार्य ने उणादिसूत्रों की रचना ककारादि अन्त्य अक्षर क्रम से की है। सूत्र ६२ के शिवादिगण में अन्तस्थ वकारान्त पदों को भी पवर्गीय बकारान्त के प्रकरण के पढ़ दिया। यह प्रान्तीयोच्चारण दोष की भ्रान्ति से ही हुआ है।

काल

महान् ऐतिहासिक कल्हण के लेखानुसार चन्द्राचार्य ने काश्मीरनृपति अभिमन्यु के समकालिक थे। उन्हीं की आज्ञा से चान्द्राचार्य ने नष्ट हुए महाभाष्य का पुनः प्रचार किया और नये व्याकरण की रचना की। पाश्चात्य

विद्वान् अभिमन्यु को ४२३ ई० पू० से लेकर ५०० ईसा पश्चात् तक विविध कालों में मानते हैं। कल्हण के मतानुसार अभिमन्यु का काल कम से कम विक्रम से १००० (एक सहस्र वर्ष पूर्व) वर्ष पूर्व है। काल-गणना के अनुसार यही काल ठीक है।

चान्द्रव्याकरण की विशेषता

चान्द्रव्याकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१. **असंज्ञक व्याकरण**—चान्द्रवृत्ति और वामनीय लिङ्गानुशासन वृत्ति में चान्द्रव्याकरण की विशेषता 'चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्' लिखी है। अर्थात् चान्द्रव्याकरण में किसी पारिभाषिक संज्ञा क। विधान करना उसकी विशेषता है।

२. **लघु, विस्पष्ट और सम्पूर्ण**—चन्द्राचार्य ने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति में प्रारम्भ में लिखा है—

'लघुविस्पष्टसम्पूर्णमुच्यते शब्दलक्षणम्'।

अर्थात् यह व्याकरण पाणिनीय तन्त्र की अपेक्षा लघु और विस्पष्ट एवं कातन्त्र आदि की अपेक्षा सम्पूर्ण है।

पाणिनीय व्याकरण में जिन शब्दों के साधुत्व का प्रतिपादन वार्तिकों और महाभाष्य की इष्टियों से किया है, चान्द्राचार्य ने उन पदों का सन्निवेश सूत्रपाठ में कर दिया है। चन्द्राचार्य ने पतञ्जलि द्वारा प्रत्याख्यात पाणिनीय सूत्रों वा सूत्रांशों को अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया। इसी प्रकार पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों के जिस न्यासान्तर को निर्दोष बताया, चन्द्राचार्य ने प्रायः उसे ही स्वीकार कर लिया। फिर भी अनेक स्थानों पर पतञ्जलि के व्याख्यानों को प्रामाणिक न मान कर अन्य ग्रन्थकारों का आश्रय लिया है।

उपलब्ध चन्द्रतन्त्र असम्पूर्ण

सम्प्रति चान्द्रव्याकरण छः अध्यायों में उपलब्ध है। छठें अध्याय के अन्त में **'समाप्तं चेदं चान्द्रव्याकरणम् शुभम्'** पाठ भी उपलब्ध होता है किन्तु इसी से यह समझना कि चान्द्रव्याकरण छः अध्यायों में ही सम्पूर्ण था, महती भूल है। इसमें स्वरप्रक्रिया के दो अध्याय (सातवाँ और आठवाँ) अन्त में अवश्य थे जो आज अनुपलब्ध हैं। इस प्रकार इस व्याकरण की सम्पूर्ति आठ अध्यायों में हुई थी। इसके निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१. **'व्याप्याद् काम्यच्'** सूत्र की वृत्ति में लिखा है—**'चकारः सतिशिष्ट-स्वरबाधनार्थः—पुत्रकाम्यतीति ।'** सतिशिष्ट स्वर की बाधा के लिए चकारानुबन्ध करना तभी युक्त हो सकता है, जब कि उस व्याकरण में स्वर-व्यवस्था का विधान हो ।

२. **'तव्यानीयर्केलिमरः'** सूत्र की वृत्ति में लिखा है—**'तव्यस्य वा स्वरितत्वं वक्ष्यामः'** । यहाँ वृत्तिगत 'वक्ष्यामः' पद का निर्देश तभी उत्पन्न हो सकता है जब सूत्रपाठ में स्वरप्रक्रिया का निर्देश हो, अन्यथा उसकी कोई आश्यकता नहीं ।

३. चान्द्रवृत्ति (१।१।१०८) के 'जनिवधोरिगुपान्तानां च स्वरं वक्ष्यामः' पाठ में स्वरविधान करने की प्रतिज्ञा की गयी है ।

४. इसी प्रकार **'ओदनाद् ठट्'** सूत्र की वृत्ति में लिखा है—**'स्वरं तु वक्ष्यामः'** ।

५. **'अमावसो वा'** सूत्र की वृत्ति में लिखा है—**'अनौवस इति प्रतिषेधाभ्राद्युदात्तत्वम् ।'** स्पष्ट है कि यहाँ वृत्तिकार ने प्राप्त आद्युदात्तस्वर का प्रतिषेध 'अनौ वसः:' सूत्र को उद्धृत करके दर्शाया है । इससे सिद्ध होता है कि 'अनौवसः' सूत्र चान्द्रव्याकरण में कभी अवश्य विद्यमान था ।

६. **'लिपोनेश्च'** सूत्र की वृत्ति में 'स्वरविशेषमष्टमे वक्ष्यामः' पाठ द्वारा आठवें अध्याय में स्वरप्रक्रिया का विधान स्वीकार किया है ।

७. चान्द्रपरिभाषापाठान्तर्गत **'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्'** परिभाषा की आवश्यकता ही तब पड़ती है जब चान्द्रव्याकरण में स्वर प्रकरण हो, अन्यथा व्यर्थ है ।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि चान्द्रव्याकरण में स्वर प्रक्रिया का विधान अवश्य था । स्वर प्रक्रिया की विशेष आवश्यकता वैदिक प्रयोगों में होती है अतः चान्द्र व्याकरण में वैदिक प्रक्रिया का विधान भी अवश्य रहा होगा ।

छठें प्रमाण से यह भी स्पष्ट होता है कि चान्द्रतन्त्र में आठ अध्याय थे । सम्भव है सातवें अध्याय में वैदिक प्रक्रिया का उल्लेख रहा हो । इसकी पुष्टि चन्द्राचार्य द्वारा धातुपाठ में कई वैदिक धातुओं के पढ़े जाने से भी होता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चान्द्रव्याकरण के वैदिक-स्वर-प्रक्रिया-विधायक सातवाँ और आठवाँ दो अध्याय नष्ट हो चुके हैं ।

विक्रम की १२ वीं शती में विद्यमान भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव से बहुत पूर्व चान्द्रव्याकरण के अन्तिम दो अध्याय नष्ट हो चुके थे अतएव उस समय के वैयाकरण चान्द्रव्याकरण को लौकिक शब्दानुशासन और चन्द्रगोमी को भाषासूत्रकार यदि कहते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। डॉ० बेल्वाल्कर को भी यह लौकिक भाषा का व्याकरण प्रतीत होता है, इसमें उनका क्या दोष ?

चान्द्राचार्य ने चान्द्रवृत्ति, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, उपसर्गवृत्ति, शिक्षासूत्र, कोष, लोकानन्द नाटक की भी रचना की थी।

चान्द्रवृत्ति

निश्चय ही चान्द्रसूत्रों पर अनेक वृत्तिग्रन्थ रचे गये होंगे परन्तु वे सम्प्रति अप्राप्य हैं। इस समय केवल एक वृत्ति उपलब्ध है; जो जर्मन देश में रोमन अक्षरों में मुद्रित है। यद्यपि रोमनाक्षरमुद्रित वृत्ति के कुछ कोशों में 'श्रीमदाचार्यधर्मदासस्य कृतिरियम्' पाठ उपलब्ध होता है तथापि निश्चय ही वह धर्मदास की कृति नहीं, आचार्य चन्द्रगोमी की स्वोपज्ञवृत्ति है, क्योंकि जैनग्रन्थकार वर्धमान सूरि और सायणाचार्य ने कई स्थानों में चन्द्र के नाम से जो चान्द्रवृत्ति के उद्धरण दिये हैं उनका पाठ उक्त चान्द्रवृत्ति में मिलता है।

अथवा सम्भव हो सकता है कि धर्मदास ने चान्द्रवृत्ति का ही उसी के शब्दों में संक्षेप किया हो, तब भी चन्द्राचार्य का स्वोपज्ञवृत्तिकर्तृत्व अक्षत ही रहता है।

कश्यप भिक्षु (सं० १२५७) की लिखी हुई चान्द्रसूत्रों पर 'बालबोधिनी' वृत्ति लङ्का में बहुत प्रसिद्ध है। डॉ० बेल्वाल्कर ने सूचना दी है कि कश्यप ने चान्द्रव्याकरण के अनुरूप 'बालावबोध' नामक व्याकरण लिखा है, वह वरदराज की लघुकौमुदी से मिलता जुलता है।

३. क्षपणक (वि० प्रथम शताब्दी)

व्याकरण के कतिपय ग्रन्थों में क्षपणक व्याकरण उद्धृत है जिससे सिद्ध होता है कि किसी क्षपणकनामा वैयाकरण ने कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था।

४. देवनन्दी (सं० ५०० वि० से पूर्व)

देवनन्दी अपरनाम पूज्यपाद ने 'जैनेन्द्रव्याकरण' रचा है। इनके काल आदि के विषय में १४ वें अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है।

जैनेन्द्र नाम का कारण

अठारहवी शती के विनय, विजय और लक्ष्मी बल्लभ आदि जैन विद्वानों का मत है कि इन्द्र के लिए भगवान् महावीर द्वारा प्रोक्त होने से इसका नाम जैनेन्द्र हुआ। डा० कीलहार्न ने भी उन्हीं विद्वानों के आधार पर ऐसा ही माना है।

हरिभद्र और हेमचन्द्र महावीर द्वारा इन्द्र के लिए प्रोक्त व्याकरण का नाम 'ऐन्द्र' लिखते हैं।

ये सब लेख जैनेन्द्र शब्द में वर्तमान 'इन्द्र' पद की भ्रान्ति से प्रसूत हैं। वास्तव में जैनेन्द्र का अर्थ है—'जिनेन्द्रेण प्रोक्तम्'। जैनेन्द्र व्याकरण देवनन्दी प्रोक्त है, यह पूर्णतया प्रमाणित हो चुका है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि देवनन्दी अपरनाम पूज्यपाद का एक नाम जिनेन्द्र भी था।

जैनेन्द्र व्याकरण के दो संस्करण

सम्प्रति इस व्याकरण के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। एक औदीच्य, दूसरा दाक्षिणात्य। औदीच्य में लगभग ३००० तीन सहस्र सूत्र हैं जब कि दाक्षिणात्य में ७०० सात सौ सूत्र अधिक हैं। उसमें शतशः सूत्रों में परिवर्तन और परिवर्धन भी मिलता है। औदीच्य संस्करण की अभयनन्दी-कृत महावृत्ति में बहुत से वार्तिक मिलते हैं, परन्तु दाक्षिणात्य संस्करण में वे वार्तिक प्रायः सूत्रान्तर्गत हैं। अतः यह विचारणीय हो जाता है कि पूज्यपाद-विरचित मूल सूत्र पाठ कौन सा है।

जैनेन्द्र का मूल सूत्र पाठ

दाक्षिणात्य संस्करण के सम्पादक पं० श्री लालजी शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपाद विरचित है। इस विषय में उनके द्वारा दिये गये हेतुओं में मुख्य हेतु इस प्रकार है—

तत्त्वार्थ सूत्र १।६ की स्वविरचित 'सर्वार्थसिद्धि' नाम्नी टीका में पूज्यपाद ने लिखा है कि 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र में अल्पाच्तर होने से 'नय' शब्द का पूर्व प्रयोग होना चाहिए किन्तु अभ्यर्हित होने के कारण बह्वच् 'प्रमाण' शब्द का पूर्व प्रयोग किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण के औदीच्य संस्करण में इस प्रकार का कोई सूत्र नहीं है जिससे बह्वच् 'प्रमाण' शब्द का पूर्व निपात हो सके। दाक्षिणात्य संस्करण में इस अर्थ का प्रतिपादक 'अर्च्यम्' सूत्र उपलब्ध होता है। अतः दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपाद विरचित है।

पं० श्री लालजी का यह लेख प्रमाण शून्य है । यदि दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपाद विरचित होता तो वे बह्वच् 'प्रमाण' शब्द का पूर्वनिपात करने के लिए 'अभ्यर्हितत्वात्' ऐसा न लिखकर 'अर्च्यत्वात्' ऐसा लिखते। पूज्यपाद जी का लेख ही बता रहा है कि उनकी दृष्टि में 'अर्च्यम्' सूत्र नहीं है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण के 'अभ्यर्हितं च' वार्तिक को दृष्टि में रखकर 'अभ्यर्हितत्वात्' लिखा है । उन्होंने 'सर्वार्थसिद्धि' व्याख्या में अन्यत्र भी कई स्थानों में अन्य वैयाकरणों के लक्षण उद्धृत किये हैं। अतः दाक्षिणात्य संस्करण में केवल 'अभ्यर्हितं च' के समानार्थक 'अर्च्यम्' सूत्र की उपलब्धि होने से वह पूज्यपाद विरचित नहीं हो सकता ।

औदीच्य संस्करण ही पूज्यपाद विरचित है, इसमें एक अकाट्य प्रमाण इस प्रकार है—

देवनन्दी के 'जैनेन्द्र व्याकरण' की यह विशेषता विख्यात है कि इसमें एकशेष प्रकरण समाविष्ट नहीं किया गया है । इससे पूर्व यह विशेषता 'चान्द्र-व्याकरण' में भी विद्यमान थी। किन्तु दाक्षिणात्य की 'शब्दार्णवचन्द्रिका' टीका में एक ओर **'देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्'** के रूप में 'एकशेषरहित' व्याकरण की प्रतिज्ञा मिलती है जब कि दूसरी ओर उसमें बारह सूत्रों का 'एकशेष प्रकरण' भी उपलब्ध होता है। औदीच्य संस्करण में न केवल एकशेष प्रकरण का अभाव ही है, अपितु उसकी अनावश्यकता का द्योतक सूत्र भी पढ़ा है ।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि पूज्यपाद विरचित मूलग्रंथ वही है जिसमें एकशेष प्रकरण नहीं है । और वह औदीच्य संस्करण ही है, न कि दाक्षिणात्य संस्करण । वास्तव में दाक्षिणात्य संस्करण जैनेन्द्रव्याकरण का गुणनन्दी द्वारा परिष्कृत रूपान्तर है। इसका वास्तविक नाम 'शब्दार्णव व्याकरण' है। क्योंकि सोमदेव सूरि ने दाक्षिणात्य-संस्करण पर जो तथाकथित शब्दार्णव-चन्द्रिका टीका है उसके अन्त में वह अपनी टीका को गुणनन्दीविरचित शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिए नौका समान लिखता है। टीका का 'शब्दार्णवचन्द्रिका नाम तभी उपपन्न होता है जबकि मूल ग्रंथ का नाम 'शब्दार्णव' हो। 'जैनेन्द्रप्रक्रिया' के कर्ता ने भी यही बात अन्तिम श्लोक में कही है—

सैषा श्री गुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवनिर्णयं, नावस्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात् स्वयं प्रक्रिया ।

अर्थात् गुणनन्दी ने जिसके शरीर को विस्तृत किया है, उस शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिए यह प्रक्रिया साक्षात् नौका के समान है ।

जैनेन्द्र व्याकरण की विशेषता

जैनेन्द्र व्याकरण के दोनों संस्करणों की टीकाओं में **'देवोपज्ञमनेकशेष-व्याकरणम्'** उदाहरण मिलता है। इससे व्यक्त होता है कि एकशेष प्रकरण से रहित व्याकरण की रचना सब से पूर्व आचार्य देवनन्दी ने की है। अतः जैनेन्द्र व्याकरण की **पहिली विशेषता है—'एकशेष प्रकरण न रचना'**।

परन्तु यह विशेषता जैनेन्द्र व्याकरण की नहीं है। क्योंकि आचार्य देवनन्दी की यह अपनी उपज्ञा नहीं है। उनसे कई कई शताब्दी पूर्व रचित चान्द्रव्याकरण में भी एकशेष प्रकरण नहीं है। महाभाष्य में एकशेष प्रकरण की अनावश्यकता दर्शायी गयी है। अष्टाध्यायो की माथुरी वृत्ति के अनुसार पाणिनि ने स्वयम् एकशेष की अशिष्यता का प्रतिपादन किया था। टीकाकारों ने जो जैनेन्द्र व्याकरण की यह विशेषता लिखी है, वह प्राचीन चान्द्र-व्याकरण और महाभाष्य आदि का सम्यग् अनुशीलन न करने का परिणाम प्रतीत होता है।

दूसरी विशेषता—इस व्याकरण की दूसरी विशेषता अल्पाक्षर संज्ञाएँ कही जा सकती हैं किन्तु यह भी देवनन्दी की स्वोपज्ञा नहीं है। पाणिनीयतन्त्र में भी अनेक एकाच् लघुसंज्ञाएँ उपलब्ध होती हैं। शास्त्र में लाघव दो प्रकार का होता है—शब्दकृत और अर्थकृत। परम्परया लोकप्रसिद्ध बह्वक्षर संज्ञाओं के स्थान पर अल्पाक्षर संज्ञाएँ बनाने में थोड़ा जहाँ शब्दकृत लाघव होता है वहाँ अर्थकृत गौरव बढ़ जाता है। इसी से पाणिनीय तन्त्र की अपेक्षा जैनेन्द्रव्याकरण में क्लिष्टता आ गयी है।

जैनेन्द्र व्याकरण का आधार

(१) जैनेन्द्रव्याकरण का मुख्य आधार पाणिनीय व्याकरण है।

(२) चान्द्रव्याकरण से भी कहीं-कहीं सहायता ली गयी है। इन दोनों व्याकरणों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

(३) देवनन्दी ने अपने से प्राचीन जैन आचार्यों के व्याकरणों से भी सहायता ली थी। देवनन्दी ने ऐसे छः आचार्यों का उल्लेख अपने व्याकरण में किया है। वे हैं—श्रीदत्त, यशोभद्र, भूतबलि, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन और समन्तभद्र।

जैनेन्द्र व्याकरण के व्याख्याता

१. स्वयम् देवनन्दी

मध्य प्रदेश के शिमोगा शिलालेख में पूज्यपाद देवनन्दी की प्रशस्ति में लिखा है—'**न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनतम् ।**' इससे स्पष्ट है कि देवनन्दी ने अपने व्याकरण पर जैनेन्द्रसंज्ञक न्यास लिखा था । यह सम्प्रति अनुपलब्ध है।

विशेष—डॉ० सत्यकाम वर्मा का लेख है कि 'जैनेन्द्रसंज्ञक' कहने से यही प्रतीत होता है कि यहाँ सम्भवत: 'न्यास' का अभिप्राय 'शब्दानुशासन' या 'व्याकरण' से ही है । क्योंकि इस न्यास की सूचना वृत्तिकार अभयनन्दी, शब्दार्णवकार गुणनन्दी, गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान में से कोई भी हमें नहीं देता ।

किन्तु वर्मा जी का यह कथन निश्चयात्मक नहीं है; ऐसा उनके 'सम्भवत:' शब्द से भी स्पष्ट है और उन्होंने वहीं यह भी लिखा है कि यह भी सम्भव है कि उन्होंने (देवनन्दी ने) कोई विस्तृत वृत्ति लिखी हो। पर यह संकेत रूप में भी उपलब्ध नहीं है । उनके विचार से दोनों (व्याकरण और वृत्ति) की सम्भावना है । किसी एक के लिए निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता ।

(संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास पृ० ३६३)

२. अभयनन्दी (संन् ६७४—१०३५ वि०)

जैनेन्द्र व्याकरण पर अभयनन्दी ने 'महावृत्ति' लिखी है । उसमें उन्होंने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है ।

काल

१. अभयनन्दी कृत महावृत्ति (३।२।५५) में '**तत्वार्थवार्तिकमधीते**' उदाहरण दिया है । तत्त्वार्थवार्तिक की रचना अकलङ्क ने वि० सं० ७०० के लगभग की है । यह अभयनन्दी पूर्व सीमा है ।

२. वर्धमान ने '**गणरत्नमहोदधि**' (काल ११६७ वि०) में अभयनन्दी स्वीकृत पाठ का निर्देश किया है । अत: अभयनन्दी ११६७ वि० से पूर्ववर्ती हैं ! यह इनकी उत्तर सीमा है ।

३. प्रभाचन्द्राचार्य ने '**शब्दाम्भोजभास्कर-न्यास**' (काल वि० १११०–२५) में अभयनन्दी को नमस्कार किया है । अत: अभयनन्दी सं० १११० वि० से पूर्ववर्ती हैं ।

४. चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य के कर्ता वीरनन्दी का काल सं० १०३५ (शकाब्द ९००) है। अभयनन्दी, वीरनन्दी के गुरु थे ऐसा उनकी गुरु-परम्परा से ज्ञात है।

यदि वीरनन्दी के गुरु अभयनन्दी ही महावृत्तिकार हों तो उनका काल सं० १०३५ से पूर्व निश्चित है।

५. श्री अम्बालाल प्रेमचन्द शाह अभयनन्दी का काल सन् ९६० ई० (वि० सं० १०१७) के लगभग मानते हैं।

६. डॉ० बेल्वाल्कर अभयनन्दी का काल सन् ७५० ई० (वि० सं० ८०७) स्वीकार करते हैं।

इन सब प्रमाणों के आधार पर अभयनन्दी का काल सामान्यतया सं० ८००—१०३५ के मध्य है। बहुत सम्भव है कि वीरनन्दी के गुरु अभयनन्दी ही महावृत्तिकार हों। उस अवस्था में अभयनन्दी का काल वि० सं० ९७५—१०३५ के मध्य ठीक होगा।

३. प्रभाचन्द्राचार्य (सं० १०७५—११२५ वि०)

आचार्य प्रभाचन्द्र ने जैनेन्द्रव्याकरश पर **'शब्दाम्भोजभास्कर-न्यास'** नाम्नी महती व्याख्या लिखी है। यह अभयनन्दी की महावृत्ति से भी विस्तृत है किन्तु सम्प्रति समग्र उपलब्ध नहीं होती।

प्रभाचन्द्र ने अपने **'प्रमेयकमलमार्तण्ड'** ग्रंथ की रचना महाराज भोज (राज्यकाल १०७८—१११० वि०) के काल में की और **'शब्दाम्भोज-भास्कर-न्यास'** तथा 'आराधनाकथाकोश' की रचना भोज के उत्तरा-धिकारी जयसिंह देव के काल में की; ऐसा तत्तद्ग्रन्थों से विदित होता है। अतः आचार्य प्रभाचन्द्र का काल सं० १०७५—११२५ तक मानना चाहिए।

४. भाष्यकार

इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र व्याकरण पर कोई भाष्य नाम्नी व्याख्या लिखी गयी थी। ऐसी सूचना श्रुतिकीर्ति ने अपनी पञ्चवस्तु प्रक्रिया के अन्त में दी है—

'वृत्तिकपाटसंपुटयुगं भाष्योऽथ शय्यातलम्।'

यह भाष्य सम्प्रति अनुपलब्ध है।

श्रुतिकीर्ति वि० की १२ वीं शती के प्रथम चरण में थे। अतः यह भाष्य सं० १२०० से पूर्व रचा गया रहा होगा।।

५. महाचन्द्र (२० वीं शताब्दी वि०)

महाचन्द्र ने 'लघु जैनेन्द्र' नाम्नी एक वृत्ति, अभयनन्दी की महावृत्ति के आधार पर लिखी है। यह ग्रन्थ वि० की २० वीं शताब्दी का है।

जैनेन्द्र व्याकरण के प्रक्रिया ग्रन्थकार

१. आर्य श्रुतिकीर्ति

श्रुतिकीर्ति ने जैनेन्द्र व्याकरण पर 'पञ्चवस्तु' नामक प्रक्रिया ग्रन्थ रचा है, चन्द्रप्रभचरित (रचनाकाल शकाब्द १०११, वि० सं० ११४६) के रचयिता अग्गलदेव ने श्रुतकीर्ति को अपना गुरु लिखा है। यदि ये दोनों श्रुतकीर्ति अभिन्न हों तो पञ्चवस्तुप्रक्रिया ग्रन्थकार का काल १२ वीं शताब्दी वि० का प्रथम चरण होगा।

२. वंशीधर (२० वीं शताब्दी वि०)

पं० वंशीधर ने अभी हाल में ही जैनेन्द्र प्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है। इसका केवल पूर्वार्ध ही प्रकाशित हुआ है।

३. शब्दार्णव का संस्कर्ता—गुणनन्दी (सं० ६१०—-६६०)

जैनेन्द्रव्याकरण का 'दाक्षिणात्य संस्करण' के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ आचार्य देवनन्दी की कृति नहीं है। इस ग्रन्थ का नाम 'शब्दार्णव' है।

यह 'शब्दार्णव' आचार्य गुणनन्दी द्वारा जैनेन्द्र व्याकरण का परिवर्तित, परिवर्धित एवं परिष्कृत नवीन रूप है। गुणनन्दी का काल (सं० ६१०—६६०) वि० है।

इस 'शब्दार्णव' पर सोमप्रभदेव सूरि (सं० ११६२) ने 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' नाम्नी वृत्ति लिखी है।

इसी 'शब्दार्णवचन्द्रिका' वृत्ति के आधार पर किसी वैयाकरण ने 'शब्दार्णवप्रक्रिया' ग्रन्थ लिखा है। इसके प्रकाशक ने इस ग्रन्थ का नाम जैनेन्द्रप्रक्रिया और ग्रन्थकार का गुणनन्दी नाम लिखा है, ये दोनों अशुद्ध हैं। प्रतीत होता है कि ग्रन्थ के अन्त में **सैषा गुणनन्दितानितवपुः**' श्लोकांश देख कर प्रकाशक ने गुणनन्दी नाम की कल्पना की है।

५. वामन

आचार्य वामन ने 'विश्रान्तविद्याधर' नामक एक व्याकरण-ग्रन्थ रचा था। इस व्याकरण का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र और वर्धमान सूरि ने अपने ग्रन्थों में किया है।

संस्कृत वाङ्मय में वामन नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। अतः 'विश्रान्तविद्याधर' नामक व्याकरण ग्रन्थ के रचयिता कौन वामन हैं और उनका काल कब के कब तक है, यह अभी ठीक से निर्णीत नहीं हो सका है।

आचार्य वामन ने स्वयम् अपने व्याकरण पर दो टीकाएँ लिखी थीं, ऐसा वर्धमान विरचित 'गणरत्नमहोदधि' से विदित होता है।

तार्किक शिरोमणि मल्लवादी ने वामनकृत विश्रान्तविद्याधर व्याकरण पर न्यास ग्रन्थ लिखा था। इसका उल्लेख गणरत्नमहोदधि और हैमशब्दानुशासन की बृहती टीका में मिलता है।

६. भट्ट अकलङ्क (सं० ७००—८००)

भट्ट अकलङ्क ने किसी व्याकरण का प्रवचन किया था। उन्होंने उसकी स्वयं 'मञ्जरीमकरन्द' नाम्नी टीका भी लिखी थी। उस टीका के प्रारम्भिक भाग का एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में विद्यमान है।

अकलङ्कचरित के अनुसार वि० सं० ७०० में भट्ट अकलङ्क का बौद्धों के साथ विवाद हुआ था। सीताराम जोशी ने 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में अकलङ्क का काल ७५० ई० (८०७ वि०) स्वीकार किया है।

७. पाल्यकीर्ति (शाकटायन) (सं० ८७१—६२४)

व्याकरण वाङ्मय में शाकटायन नाम से दो व्याकरण प्रसिद्ध हैं। एक प्राचीन आर्ष और दूसरा अर्वाचीन जैन व्याकरण। प्राचीन आर्ष शाकटायन व्याकरण का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। अब अर्वाचीन जैन शाकटायन व्याकरण का वर्णन करते हैं।

जैन शाकटायन व्याकरण का कर्त्ता—इस अर्वाचीन शाकटायन व्याकरण के कर्ता का वास्तविक नान 'पाल्यकीर्ति' है।

'पार्श्वनाथत्ररित' में लेखक वादिराजसूरि कहते हैं—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥

अर्थात् उस महातेजस्वी पाल्यकीर्ति की शक्ति का क्या कहना जो उसके 'श्री' पद का श्रवण करते ही लोगों को वैयाकरण बना देती है।

इस श्लोक में 'श्रीपदश्रवणं यस्य' का संकेत शाकटायन की स्वोपज्ञ अमोघा वृत्ति की ओर है। उसके मङ्गलाचरण का प्रारम्भ 'श्रीवीरममृतं ज्योतिः' से होता है। पार्श्वनाथचरित की पंजिका टीका के रचयिता शुभचन्द्र इस श्लोक की टीका में 'श्रीपदश्रवणम्' का अर्थ करते हैं—

श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि तेषां श्रवणमाकर्णनम् ।'

इससे स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण के कर्ता का नाम पाल्यकीर्ति है। 'शाकटायन-प्रक्रिया' के मङ्गलाचरण में भी पाल्यकीर्ति को ही नमस्कार किया गया है ।

वंश तथा शाकटायन नाम का कारण—पाणिनि जहाँ (पा० ४।२।६२) में 'गोषद्' का पाठ करते हैं, उसकी जगह शाकटायान व्याकरण में 'घोषद्' पाठ (शा० ३।३।१७८) मिलता है ।

मैत्रायणीसंहिता (१।१।२) और काठकसंहिता (१।२) का आदि मन्त्र है—**गोषदसि**। इसमें 'गोपद्' शव्द-समूह श्रुत है। तैत्तिरीयसंहिता (१।१२) में पाठ है—**यज्ञस्य घोषदसि**। इसमें 'घोषद्' शव्द श्रुत है।

इस तुलना से प्रतीत होता है कि पाल्यकीर्ति मूलतः तैत्तिरीय शाखा-अध्येता ब्राह्मण रहे होंगे और इनका गोत्र 'शाकटायन' होगा। ब्राह्मणधर्म का परिवर्तन हो जाने पर भी पाल्यकीर्ति के लिए शाकटायन गोत्र नाम का व्यवहार होता रहा।

काल

(१)—'ख्याते दृश्ये' (शाकटायन ४।३।२०७) सूत्र का, अमोघावृत्ति में उदाहरण दिया गया है—**'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्'**। इसमें अमोघवर्ष (प्रथम) द्वारा शत्रुओं को नष्ट करने की घटना का उल्लेख है। राष्ट्रकूट के एक शिलालेख में भी इसी घटना का उल्लेख इस रूप में है—"**भूपालान् कण्टकामान् वेष्टयित्वा ददाह**।' अमोघावृत्ति के उक्त उदाहरण में लङ् लकार का प्रयोग होने से पाल्यकीर्ति और अमोघवर्ष (प्रथम) की समकालीनता सिद्ध होती है। इसका एक प्रमाण महाराज अमोघदेव के नाम पर स्वोपज्ञवृत्ति का 'अमोघा' नाम रखना भी है। महाराज अमोघदेव सं० ८७१ में सिंहासनारूढ़ हुए थे। उनका एक दान पत्र सं० ९२४ का उपलब्ध हुआ है। अतः यही समय पाल्यकीर्ति का भी है। तदनुसार शाकटायन-व्याकरण और उसकी अमोघा वृत्ति की रचना सं० ८७१—९२४ के मध्य हुई।

शाकटायन तन्त्र की विशेषता

इस व्याकरण के टीकाकार यक्षवर्मा के अनुसार शाकटायन व्याकरण में इष्टियों के पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। सूत्रों से पृथक् वक्तव्य कुछ नहीं है। इन्द्र, चन्द्र आदि आचार्यों ने जो शव्द लक्षण कहा है, वह सब इनमें है,

और जो यहां नहीं है वह कहीं नहीं है। गणपाठ, धातुपाठ, लिङ्गानुशासन और उणादि इन चार के अतिरिक्त समस्त व्याकरण कार्य इस वृत्ति के अन्तर्गत है।

इस व्याकरण में पाल्यकीर्ति ने लिङ्ग और समासान्त प्रकरण को समास प्रकरण में और एकशेष को द्वन्द्व प्रकरण में पढ़ कर व्याकरण की प्रक्रिया-नुसारी रचना का बीज-वपन कर दिया था। आगे चलकर इसने परिवृद्ध होकर पाणिनीय व्याकरण पर भी ऐसा आघात किया कि समस्त पाणिनीय व्याकरण, ग्रन्थकर्तृक्रम की उपेक्षा करके प्रक्रियानुसारी बना दिया गया जिससे पाणिनीय व्याकरण दुरूह हो गया।

इस व्याकरण के सूत्रपाठ में आर्यवज्र, सिद्धनन्दी और इन्द्र नामक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। अमोघावृत्ति में आपिशलि, काशकृत्स्नि, पाणिनि, वैयाघ्रपद्य आदि प्राचीन आचार्यों का उल्लेख भी मिलता है।

अन्य ग्रन्थ

पाल्यकीर्ति (शाकटायन) ने **धातुपाठ, उणादिसूत्र, गणपाठ, लिङ्गानु-शासन** और **परिभाषापाठ** की भी रचना की है। इनका अगले अध्यायों में यथास्थान वर्णन होगा।

पाल्यकीर्ति कृत **उपसर्गार्थ** और **तद्धित संग्रह** इन दो ग्रन्थों का निर्देश राबर्ट बिरवे ने शाकटायन व्याकरण की भूमिका में किया है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पाल्यकीर्ति का एक मत उद्धृत किया है जिससे विदित होता है कि पाल्यकीर्ति ने कोई साहित्य विषयक ग्रन्थ भी रचा था।

पाल्यकीर्ति के **स्त्रीमुक्ति** और **केवलिमुक्ति** ये दो ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं।

शाकटायन व्याकरण के व्याख्याता

१—पाल्यकीर्ति

शाकटायन व्याकरण के कर्ता पाल्यकीर्ति ने स्वयम् 'अमोघावृत्ति' नाम्नी एक महती व्याख्या अपने शब्दानुशासन की रची है। इसका यह नाम पाल्य-कीर्ति के आश्रयदाता महाराज अमोघदेव के नाम पर रखा गया है। इस वृत्ति के रचयिता स्वयं पाल्यकीर्ति हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। 'गण-रत्नमहोदधि' में शाकटायन के नाम से अनेक ऐसे उद्धरण दिए हैं जो 'अमोघावृत्ति' में ही मिलते हैं। इसी प्रकार यक्षवर्मा विरचित 'चिन्तामणि-

वृत्ति' के छठें और सातवें श्लोक से स्पष्ट होता है कि 'अमोघावृत्ति' स्वयं सूत्रकार ने रची है। सर्वानन्द ने भी अमरटीकासर्वस्व में अमोघावृत्ति का पाठ पाल्यकीर्ति के नाम से उद्धृत किया है।

अमोघावृत्ति की टीका

आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'अमोघावृत्ति' पर 'न्यास' नाम्नी एक टीका रची है। लीलाशुकमुनि (१३वीं शताब्दी वि०) ने 'दैवम्' की पुरुषकार टीका में इस शाकटायन न्यास को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि यह 'न्यास' १३वीं शताब्दी वि० से पूर्व रचा गया था। इस न्यास के केवल दो अध्याय सम्प्रति उपलब्ध हैं।

इस न्यास के रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र, जैनेन्द्र व्याकरण पर 'शब्दाम्भोजभास्करन्यास' के कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र ही हैं अथवा उनसे भिन्न, यह अज्ञात है।

२—अमोघविस्तर (१४वीं शती वि० से पूर्व)

'अमोघावृत्ति' की टीका 'अमोघविस्तर' का उल्लेख 'माधवीयाधातुवृत्ति' में मिलता है। कर्त्ता का नाम अज्ञात है। माधवीयाधातुवृत्ति में उपलब्ध होने से स्पष्ट है कि इसकी रचना १४वीं शती वि० से पूर्व अवश्य हो चुकी थी।

३—यक्षवर्मा

'अमोघावृत्ति' पर यक्षवर्मा ने 'चिन्तामणि' नाम्नी वृत्ति रचा है। यह अमोघावृत्ति को ही संक्षिप्त कर लिखी गयी है। राबर्ट बिरवे के मतानुसार यक्षवर्मा का काल ईसा की १२वीं शती से पूर्व है।

यक्षवर्मा की चिन्तामणिवृत्ति पर अजितसेन ने 'मणिप्रकाशिका' टीका लिखो है।

शाकटायन व्याकरण के प्रकिया ग्रन्थकार

१. **अभयचन्द्र**—आचार्य अभयचन्द्र ने शाकटायन सूत्रों के आधार पर 'प्रक्रियासंग्रह' ग्रन्थ रचा है। यह ग्रन्थ शाकटायन व्याकरण में प्रवेशार्थियों के लिए लिखा गया है, अतः इसमें सम्पूर्ण सूत्रों का समावेश नहीं हुआ है।

राबर्ट बिरवे के मतानुसार इनका काल ई० की १४वीं शती का पूर्वार्द्ध है।

२. **भावसेन त्रैविद्यदेव**—इन्हें **वादिपर्वतवज्र** भी कहते हैं। इन्होंने प्रकियानुसारी '**शाकटायनटीका**' ग्रन्थ लिखा है।

७. दयालपालमुनि (सं० १०८२ वि०)—इन्होंने बालकों के लिए 'रूपसिद्धि' नामक लघु प्रक्रिया ग्रन्थ रचा है। इनका काल सं० १०८२ के लगभग है।

८. शिवस्वामी (सं० ६१४—६४०)

संस्कृत साहित्य में महाकवि के रूप में प्रसिद्ध शिवस्वामी का वैयाकरण के रूप में उल्लेख क्षीरतरङ्गिणी, गणरत्नमहोदधि, कातन्त्रगणधातुवृत्ति और माधवीयधातुवृत्ति में मिलता है।

कल्हण की राजतरङ्गिणी (५।३४) के अनुसार शिवस्वामी कश्मीराधिपति अवन्ति वर्मा के राज्यकाल (सं० ६१४–६४०) में विद्यमान था। अतः शिवस्वामी का वही काल सं० ६१४–६४० तक है।

शिवस्वामी प्रोक्त व्याकरणग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है। इसके उपलब्ध उद्धरणों से यह भी विदित है कि अपने व्याकरण पर इन्होंने कोई वृत्ति और धातुपाठ की भी रचना की थी।

९. महाराज भोजदेव (सं० १०७५–१११०)

महाराज भोजदेव ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक एक बृहद् शब्दानुशासन रचा है। यह ध्यान रहे कि भोजदेव का यह 'सरस्वतीकण्ठाभरण' व्याकरण ग्रन्थ, उन्हीं के द्वारा रचित 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक अलङ्कार-ग्रन्थ से भिन्न है। अर्थात् भोजदेव ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नाम के दो ग्रन्थ लिखे हैं, एक व्याकरण का, दूसरा अलङ्कार का।

काल तथा परिचय

भोजदेव नाम के अनेक राजा हुए हैं, किन्तु सरस्वतीकण्ठाभरण आदि ग्रन्थों के रचयिता, विद्वानों के आश्रयदाता, परमारवंशीय धाराधीश्वर ही प्रसिद्ध हैं। ये महाराज सिन्धुल (अपर नाम सिन्धुराज) के पुत्र थे। इनकी माता का नाम शशिप्रभा था। इनके चाचा मुंज (अपर नाम वाक्पति) भी इतिहास प्रसिद्ध हैं।

भोज की ख्याति उनके वीर राजा होने के कारण नहीं वरन् उनके विद्यानुराग, उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य, विद्या और साहित्य के संवर्द्धन में उनके योगदान से है जिससे आज भी उनकी कीर्तिलता पूर्ववत् हरी-भरी बनी हुई है। भोज को चिकित्सा, गणित, ज्योतिष, कोष, वास्तु, व्याकरण, अलंकार आदि इतने अधिक और विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का रचयिता बताया गया है कि सहसा विश्वास ही नहीं होता कि राज-काज में अत्यन्त व्यस्त एक राजा

ने इनका प्रणयन किया है। कीथ महोदय ने लिखा है कि इस बात के लिए हमारे पास वास्तविक सूचना का अभाव है जिसके आधार पर हम उसे विभिन्न विषयों की पुस्तकों का रचयिता मानने में अस्वीकृति प्रकट करें। जो कुछ भी हो, महाराज भोज एक महान् और विख्यात लेखक थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। महाराज भोज विद्वान् लेखक होने के साथ-साथ विद्या के महान् प्रोत्साहक और संरक्षक भी थे। धारानगरी में इनके द्वारा स्थापित संस्कृत महाविद्यालय का भवन आज भी 'भोजशाला' नाम ने प्रसिद्ध है। भोज की राजसभा में अनेक विद्वान् रहा करते थे, दुर्भाग्यवश उनका नाम और परिचय हमें ज्ञात नहीं। उन विद्वानों में धनपाल और उसके भाई शोभन अधिक उल्लेखनीय हैं। विद्वानों के प्रति भोज की उदारता और दान-शीलता के सम्बन्ध में संस्कृत में अनेक किंवदन्तियाँ और लोक कथाएँ विद्यमान हैं जिनसे विदित होता है कि इन्होंने लोकहृदय को जीत लिया था। यही कारण है कि संस्कृत वाङ्मय के अध्येता, महाराज भोज का, विद्वानों एवं कवियों के आश्रयदाता के रूप में तथा उससे भी अधिक परिमाण में एक सृजनशील साहित्यकार के रूप में आज भी स्मरण करते हैं। संस्कृत साहित्य में महाराज भोज का नाम अजर अमर है।

महाराज भोज का एक दानपत्र सं० १०७८ वि० का उपलब्ध हुआ है और इनके उत्तराधिकारी जयसिंह का दानपत्र सं० १११२ का मिला है। अतः भोज का राज्यकाल सामान्यता सं० १११० तक माना जाता है।

सरस्वतीकण्ठाभरण (शब्दानुशासन)

'सरस्वतीकण्ठाभरण' का मुख्य आधार पाणिनीय और चान्द्रव्याकरण है। सूत्र रचना और प्रकरण विच्छेदों में ग्रन्थकार ने पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा चान्द्र का आश्रय अधिक लिया है।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' में पाणिनीय शब्दानुशासन के समान ही आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है। कुल सूत्र संख्या ६४११ है।

व्याकरण वाङ्मय में 'सरस्वती कण्ठाभरण' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक शास्त्र के ग्रन्थों के समान ही व्याकरणशास्त्र के ग्रन्थों में भी उत्तरोत्तर संक्षेप की प्रवृत्ति बलवती होती रही। इसी के नाम पर शब्दानुशासन के अनेक मनत्त्वपूर्ण भाग परिभाषापाठ, गणपाठ और उणादि सूत्र आदि उससे पृथक् कर दिये गये। जिसका फल यह हुआ कि शब्दानुशासन का अध्ययन मुख्य हो गया और परिभाषापाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन, उणादि आदि

तत्तत् महत्त्वपूर्ण भागों का अध्ययन गौण हो गया। इन परिशिष्टग्रन्थों के अध्ययन में लोग प्रमाद करने लगे। भोजराज ने इस न्यूनता को समझा और इसे दूर करने लिए 'सरस्वतीकण्ठाभरण' व्याकरणग्रन्थ की रचना की; जिसमें परिभाषा, लिङ्गानुशासन, उणादि और गणपाठ का तत्तत् प्रकरणों में पुनः सन्निवेश कर दिया। फलतः उनका भी अब पुनः अध्ययन होने लगा। धातुपाठ के अतिरिक्त किसी अन्यग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रह गयी।

इसके सात अध्यायों में लौकिक शब्दों का सन्निवेश है और अन्तिम आठवें अध्याय में स्वर प्रकरण तथा वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान है।

सरस्वती कण्ठाभरण की टीकाएँ तथा प्रक्रिया ग्रन्थ

१–भोजदेव—भोजदेव ने स्वयम् अपने शब्दानुशासन पर कोई महती वृत्ति लिखी थी ऐसा वर्धमान और क्षीरस्वामी के ग्रन्थों में उद्धृत पाठों से पता चलता है। वहाँ भोज के नाम से दिये गये अनेक उद्धरण ऐसे हैं जो सरस्वतीकण्ठाभरण की व्याख्या से ही उद्धृत किये जा सकते हैं।

२–दण्डनाथ नारायण भट्ट—इन्होंने 'सरस्वती कण्ठाभरण पर **हृदय-हरिणी**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस टीका के प्रत्येक पाद की अन्तिम पुष्पिका से प्रतीत होता है कि भोजदेव की स्वोपज्ञ महती वृत्ति का उसी के शब्दों में संक्षेप किया गया है। क्षीर स्वामी और वर्धमान आदि द्वारा भोज के नाम से उद्धृतवृत्ति के पाठों का इस टीका में भी मिलना इस बात की पुष्टि करता है।

३–कृष्णलीलाशुकमुनि—इन्होंने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर 'पुरुषकार' नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह ज्ञातव्य है कि इन्होंने ही 'दैवम्' ग्रन्थ पर भी एक व्याख्या लिखी है उसका भी नाम 'पुरुषकार' है।

४–रामसिंहदेव—इन्होंने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर 'रत्नदर्पण' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके अतिरिक्त 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर किसी वैयाकरण ने 'पदसिन्धुसेतु' नामक प्रक्रिया ग्रन्थ भी रचा था। विट्ठल ने प्रक्रिया-कौमुदी की अपनी प्रसाद टीका में उसे उद्धृत किया है। (द्रष्टव्य, भाग २, पृष्ठ ३१२)

बुद्धिसागर सूरि (सं० १०८० वि०)

आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने '**बुद्धिसागर**' अपर नाम **पञ्चग्रन्थी**' व्याकरण रचा था।

बुद्धिसागर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे। ये चन्द्रकुल के वर्धमान

सूरि के शिष्य और जिनेश्वर सूरि के गुरुभाई थे। कुछ विद्वानों के मतानुसार बुद्धिसागर और जिनेश्वर दोनों सहोदर भाई थे।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने लिङ्गानुशासन विवरण और हैम अभिधान-चिन्तामणि में इस व्याकरण का निर्देश किया है।

बुद्धिसागर ग्रन्थ के अन्त में स्वयं सूचना देते हैं कि इस व्याकरण ग्रन्थ की रचना वि० सं० १०८० में हुई और इस व्याकरण का परिमाण सात सहस्र श्लोक है।

प्रभावकचरित में इसी व्याकरण का परिमाण आठ सहस्र श्लोक लिखा है।

११. भद्रेश्वर सूरि (सं०१२०० से पूर्व)

भद्रेश्वर सूरि ने 'दीपक' व्याकरण की रचना की थी। यह ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि (पृष्ठ १) में 'दीपक' और उसके कर्ता भद्रेश्वर सूरि का उल्लेख किया है। गणरत्नमहोदधि की रचना वि० सं० ११९७ में हुई थी; अतः भद्रेश्वर सूरि उससे पूर्ववर्ती हैं किन्तु कितना, यह कहना कठिन है।

१२. वर्धमान (सं० ११५०–१२२५)

वर्धमान अपने 'गणरत्नमहोदधि' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के द्वारा वैयाकरण-निकाय में सुप्रसिद्ध हैं।

संक्षिप्तसागर की गोयीचन्द्र कृत टीका में एक पाठ है—

चन्द्रोऽनित्यां वृद्धिमाह। भागवृत्तिकारस्तु नित्यं वृद्ध्यभावम्। "वौ श्रमेर्वा' इति वर्धमानः। (सन्धि प्रकरण सूत्र ६)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वर्धमान ने कोई शब्दानुशासन रचा था। तदनुरूप उन्होंने गणपाठ को श्लोक बद्ध करके उसकी संख्या लिखी थी।

१३. हेमचन्द्र सूरि (सं० ११४५–१२२९ वि०)

प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र ने 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' एक साङ्गोपाङ्ग बृहद् व्याकरण लिखा है। इसी को 'हैमव्याकरण' भी कहते हैं।

परिचय

हेमचन्द्र सूरि के पिता का नाम 'चाचिग' (अथवा 'चाच') था। वे वैदिक-मतानुयायी थे। हेमचन्द्र की माता का नाम 'पाहिणी' (पाहिनी) था उनका झुकाव जैन मत की ओर था।

हेमचन्द्र का जन्म कार्तिक पूर्णिमा सं० ११४५ में अहमदाबाद जिले के 'धुन्धुक' (धन्धुका) नामक स्थान पर मोढवंशीय वैश्यकुल में हुआ था। इनका जन्म-नाम चांगदेव (पाठा० चंगदेव) था।

दीक्षा—हेमचन्द्र के गुरु 'चन्द्रदेव सूरि' जिन्हें 'देवचन्द्र सूरि' भी कहते थे-ने एक-बार चांगदेव (हेमचन्द्र) को अपनी माता के साथ जैन मन्दिर जाते हुए देखा। उन्होंने चांगदेव को विलक्षण प्रतिभाशाली होनहार बालक समझकर शिष्य बनाने के लिए उन्हें उनकी माता से माँग लिया। इस समय चांगदेव के पिता परदेश में थे। माता ने पुत्र को चन्द्रदेव मुनि के चरणों में श्रद्धापूर्वक समर्पित कर दिया प्रभावकचरित' के अनुसार सं० ११५० में पाँच वर्ष की अवस्था में और मेरुतुंगसूरि के मतानुसार सं०११५४ में ९ वर्ष की आयु में इनकी दीक्षा हो गयी थी। साधु होने पर इनका नाम सोमचन्द्र रखा गया। सं० ११६२ में १७ वर्ष की अवस्था में किन्हीं विद्वानों के अनुसार सं० ११६६ में २१ वर्ष की अवस्था में इन्हें 'सूरि' पद मिला और इनका नाम हेमचन्द्र हुआ।

पाण्डित्य—हेमचन्द्र जैनमत के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के एक प्रामाणिक आचार्य हैं। इन्हें जैनग्रन्थों में 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा है। इन्होंने व्याकरण, न्याय, छन्द, काव्य और धर्म आदि प्रायः समस्त विषयों पर ग्रन्थ-रचना की है। इनके ग्रन्थ इस समय अप्राप्य हैं।

सहायक—गुजरात के महाराज सिद्धराज (अपर नाम जय सिंह) और उनके पुत्र कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र के महान् भक्त थे। इन्हीं कुमारपाल के चरित्र का आश्रय लेकर हेमचन्द्र ने 'कुमारपालचरित' या ' द्वयाश्रयकाव्य' की रचना की थी।

हेमचन्द्र का निर्वाण सं० १२२९ में ८४ वर्ष की अवस्था में हुआ।

शब्दानुशासन की रचना—हेमचन्द्र ने गुजरात के सम्राट् सिद्धराज के आदेश से शब्दानुशासन की रचना की। सिद्धराज का काल सं० ११५०—११९९ तक माना जाता है।

हैम शब्दानुशासन

हेमचन्द्रकृत **'सिद्ध हैमशब्दानुशासन'** संस्कृत और प्राकृत दोनों का व्याकरण है। प्रारम्भिक सात अध्यायों में संस्कृत का व्याकरण है। इसमें ३५६६ सूत्र हैं। आठवें अध्याय में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश आदि का अनुशासन है। आठवें अध्याय में

कुल ११२८ सूत्र हैं। इस प्रकार अनेक विध प्राकृत भाषाओं का व्याकरण सर्व प्रथम हेमचन्द्र ने ही लिखा है।

हैमशब्दानुशासन का रचना-काल—जैनप्रसिद्धि के अनुसार हेमचन्द्र ने इस शब्दानुशासन की रचना केवल एक वर्ष में ही कर डाली थी। हैमबृहद्-वृत्ति के टीकाकार पं० श्री चन्द्र सागर सूरि के मतानुसार हेमचन्द्र ने इसकी रचना सं० ११९३—९४ में की थी।

वर्धमान ने सं० ११९७ में गणरत्नमहोदधि लिखी है। इससे पूर्व यदि हैमव्याकरण की रचना हुई होती तो वर्धमान अपने ग्रन्थ में उसका अवश्य निर्देश करते। अतः प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन की रचना सं० ११९६—११९९ के मध्य में की थी।

क्रम—हैमव्याकरण का क्रम प्राचीन शब्दानुशासनों के समान नहीं है। इसकी रचना कातन्त्र के समान प्रकरणानुसारी है। इसमें यथाक्रम संज्ञा, स्वरसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, नाम, कारक, षत्व, स्त्रीप्रत्यय, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित प्रकरण हैं।

हेमचन्द्रकृत व्याकरण विषयक अन्य ग्रन्थ

१. हैमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञा लघ्वी वृत्ति (६००० श्लोक परिमाण)।

२. मध्य वृत्ति (१२००० श्लोक परिमाण)।

३. बृहती वृत्ति (१८००० श्लोक परिमाण)।

४. हैमशब्दानुशासन पर बृहन्न्यास।

५. धातुपाठ और उसकी धातुपारायण नाम्नी व्याख्या।

६. गणपाठ और उसकी वृत्ति।

७. उणादि सूत्र और उसको स्वोपज्ञा वृत्ति।

८. लिङ्गानुशासन और उसकी वृत्ति।

हैमव्याकरण के व्याख्याता

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने समस्त मूल ग्रन्थों की स्वयं टीकाएँ लिखी हैं। उन्होंने अपने व्याकरण की निम्नलिखित तीन व्याख्याएँ लिखी हैं—

१. **लघ्वी वृत्ति**—यह शास्त्र में प्रवेश करने वाले बालकों के लिए है। इसका परिमाण लगभग छः सहस्र श्लोक है।

२. **मध्य वृत्ति**—यह मध्यमबुद्धि वालों के लिए है। इसका परिमाण १२०० श्लोक है।

३. **बृहती वृत्ति**—यह कुशाग्रबुद्धि प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए है। इसका परिमाण १८००० श्लोक है।

इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण पर ९० सहस्र श्लोक परिमाण का 'शब्दार्णव न्यास' अपर नाम 'बृहन्न्यास' नामक विवरण लिखा था। सम्प्रति यह आरम्भ से पञ्चम अध्याय तक ५ भागों में प्रकाशित हो चुका है।

हैमशब्दानुशासन में स्मृत ग्रन्थकार—हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण और उसकी वृत्तियों में निम्नलिखित आचार्यों का उल्लेख किया है—

आपिशलि, यास्क, शाकटायन, गार्ग्य, वेदमित्र, शाकल्य, इन्द्र, चन्द्र, शेषभट्टारक, पतञ्जलि, वार्तिककार, पाणिनि, देवनन्दी, जयादित्य, वामन, विश्रान्तविद्याधरकार, विश्रान्तन्यासकार (मल्लवादी सूरि), जैन शाकटायन, दुर्गसिंह, श्रुतपाल, भर्तृहरि, क्षीरस्वामी, भोज, नारायणकण्ठी, सारसंग्रहकार, द्रमिल, शिक्षाकार, उत्पल उपाध्याय (कैयट), जयन्तीकार, न्यासकार और पारायणकार।

हैमव्याकरण पर हेमचन्द्र के अतिरिक्त लगभग सत्रह विद्वानों ने टीका टिप्पणी आदि की रचना की। उनके ग्रन्थ प्रायः दुष्प्राप्य और अज्ञात हैं।

१४. मलयगिरि (सं० ११८८—११५० वि०)

जैन आचार्य मलयगिरि ने 'शब्दानुशासन' के नाम से एक साङ्गोपाङ्ग व्याकरण लिखा है। यह सं० २०२२ में प्रकाशित हो चुका है। इसके सम्पादक बेचरदास जीवराज दोशी ने मलयगिरि का परिचय ग्रन्थ की अंग्रेजी भाषानिबद्ध भूमिका में दिया है।

परिचय

मलयगिरि का जन्म सं० ११८८ वि० में सौराष्ट्र के वैदिक मतानुयायी ब्राह्मणकुल में हुआ था। उन्होंने १२ वर्ष की अवस्था में संन्यास लिया था। संन्यास के सात वर्ष पश्चात् मलयगिरि जैन साधु बने।

काल

जिनमण्डनगणि (१५ वीं शती वि०) विरचित 'कुमारपाल-प्रबन्ध' के अनुसार अचार्य हेमचन्द्र ने देवेन्द्र सूरि और मलयगिरि के साथ गौडदेश की यात्रा की थी। श्री दोशी जी ने लिखा है कि आचार्य हेमचन्द्र के निर्वाण (सं० १२२९) से कुछ पूर्व मलयगिरि ने अपने व्याकरण की रचना की थी। अपने इस व्याकरण की रचना के पश्चात् उन्होंने जैन आगमों तथा अन्य जैनग्रंथों पर लगभग दो लक्ष श्लोक परिमाण का वृत्ति-वाङ्मय लिखा जिसके

लिए कम-से--कम बीस-पच्चीस वर्ष का समय अवश्य अपेक्षित है। अतः मलयगिरि का काल सामान्यतया ११८८—१२५० वि० मानना युक्त होगा।

मलयगिरि का शब्दानुशासन

आचार्य मलयगिरि ने अपना शब्दानुशासन प्रक्रियाक्रमानुसार सन्धि, नाम, आख्यात, कृदन्त और तद्धित ५ भागों में विभक्त करके लिखा है। उनके भी पादसंज्ञक अवान्तर विभाग हैं। कुल मिलाकर ४१ पाद हैं। उपलब्ध ग्रन्थ खण्डित होने से सूत्रों की निश्चित संख्या नहीं कही जा सकती।

क्षेमकीर्ति ने इस व्याकरण का उल्लेख **मुष्टिव्याकरण** के नाम से किया है।

मलयगिरि ने अपने शब्दानुशासन पर वृत्ति लिखी है। वह शब्दानुशासन के साथ मुद्रित हो चुकी है।

अन्य ग्रन्थ

मलयगिरि ने व्याकरण सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे। जैसे-उणादि, धातुपारायण, गणपाठ, लिङ्गानुशासन और प्राकृत व्याकरण। किन्तु वे सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं।

मलयगिरि ने जैनमत के नौ आगमों तथा अन्य जैन आचार्यों के ग्रन्थों पर वृत्तियाँ लिखी हैं। ये अत्यन्त विस्तीर्ण और प्रौढ़ हैं। इनका परिमाण दो लक्ष श्लोक है।

१५. क्रमदीश्वर (सं० १३०० वि० से पूर्व)

क्रमदीश्वर ने 'संक्षितसार' नामक एक व्याकरण रचा है। यह सम्प्रति जुमरनन्दी परिष्कर्त्ता के नाम पर 'जौमर' नाम से प्रसिद्ध है। इस व्याकरण का प्रचलन सम्प्रति पश्चिमी बंगाल तक सीमित है।

क्रमदीश्वर ने अपने व्याकरण पर 'रसवती' नाम्नी एक वृत्ति भी रचा था। जुमरनन्दी ने इसी वृत्ति का परिष्कार किया था। इसीलिए अनेक हस्तलेखों के अन्त में निम्नपाठ उपलब्ध होता है—

'इति·········क्रमदीश्वरकृतौ संक्षिप्तसारे भहाराजाधिराजजुमर-नन्दिशोधितायां वृत्तौ रसवत्यां·········।'

उपर्युक्त उद्धरण से व्यक्त है कि जुमरनन्दी किसी प्रदेश का राजा था। जो लोग जुमर शब्द का सम्बन्ध जुलाहे से लगाते हैं, वह चिन्त्य है।

परिशिष्टकार—गोयीचन्द्र

गोयीचन्द्र औत्थासनिक ने सूत्रापाठ, उणादि और परिभाषापाठ पर टीकाएँ लिखीं और जौमर व्याकरण के परिशिष्टों की रचना की।

गोयीचन्द्र की टीका पर न्यायपञ्चानन, तारकपञ्चानन, चन्द्रशेखर विद्यालंकार, वंशी वादन, हरिराम और गोपाल चक्रवर्ती ने अपनी-अपनी व्याख्या लिखी।

१६. सारस्वत-व्याकरणकार (सं० ११५० वि० के लगभग)

सारस्वत व्याकरण के विषय में प्रसिद्ध है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य के मुख से वृद्धावस्था के कारण दन्तविहीन होने से किसी विद्वत्सभा में पुंसु के स्थान पर पुंक्षु अपशब्द निकल गया। उपहास होने पर अनुभूतिस्वरूप ने उक्त अपशब्द के साधुत्व ज्ञापन के लिए घर पर आकर सरस्वती देवी से प्रार्थना की। उसने प्रसन्न होकर ७०० सूत्र दिये। उन्हीं के आधार पर अनुभूतिस्वरूप ने इस व्याकरण की रचना की। सरस्वती देवी के द्वारा मूल सूत्रों का आगम होने से इसका 'सारस्वत' नाम हुआ।

इस किंवदन्ती में कहाँ तक सत्यता है, यह कहना कठिन है। फिर भी इससे इतना स्पष्ट है कि मध्यकालीन विद्वान् असत्य को भी सत्य सिद्ध करने में तत्पर हो जाते थे।

यद्यपि सारस्वत व्याकरण के अन्त में प्रायः 'अनुभूतिस्वरूपाचार्य विरचिते' पाठ मिलता है, तथापि उसके प्रारम्भिक श्लोक—

प्रणम्य परमात्मानं बालधीवृद्धिशिद्धये।
सारस्वतीमृजुं कुर्वे प्रक्रियां नातिविस्तराम्॥'

से विदित होता है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य व्याकरण के मूल लेखक नहीं है। वे तो उसकी प्रक्रिया को सरल करने वाले हैं।

सारस्वत सूत्रों का रचयिता

क्षेमेन्द्र कृत सारस्वतप्रक्रिया के अन्त में लिखा है—

इति श्रीनरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते क्षेमैन्द्रटिप्पनं समाप्तम्'।

इससे प्रतीत होता है कि सारस्वत सूत्रों का मूल रचयिता 'नरेन्द्राचार्य' नामक वैयाकरण है। विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका में नरेन्द्राचार्य को अनेकत्र उद्धृत किया है।

एक नरेन्द्रसेन वैयाकरण 'प्रमाणप्रमेयकलिका' का कर्त्ता है। इसके गुरु का नाम कनक सेन और परमगुरु (गुरु का गुरु) का नाम अजित सेन

था। नरेद्रसेन का चान्द्र, कातन्त्र, जैनेन्द्र और पाणिनीय तन्त्र पर पूरा अधिकार था। इसका काल शकाब्द ९७५ अर्थात् वि० सं० १११० है। यद्यपि नरेन्द्राचार्य और नरेन्द्रसेन की एकता में कोई उपोद्वलक प्रमाण नहीं प्राप्त होता है तथापि दोनों को एक मानने में कोई बाधा भी नहीं है।

उपर्युक्त प्रमाणों से इतना तो स्पष्ट है कि नरेद्र या नरेन्द्राचार्य ने कोई सारस्वत व्याकरण अवश्य रचा था, जो अभी तक मूल रूप में उपलब्ध नहीं हुआ।

वर्तमान सारस्वत व्याकरण की प्रथम वृत्ति तद्धित भाग पर्यन्त है। इसमें किंवदन्ती में प्रसिद्ध ७०० सूत्र पूर्ण हो जाते है। अतः इन ७०० सूत्रों का रचयिता नरेन्द्राचार्य हो सकता है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि सारस्वत व्याकरण की प्रथम वृत्ति के अन्त में अनुभूतिस्वरूप का नाम नहीं मिलता। द्वितीय और तृतीय वृत्ति के अन्त में '**इति**······**अनुभूतिस्वरूपाचार्यविरचितायां**······**समाप्तः**' पाठ मिलता है।

अतः यह सम्भावना अधिक युक्त प्रतीत होती है कि सारस्वत का प्रथम सात सौ सूत्रात्मक भाग नरेन्द्राचार्य विरचित हो और शेष भाग अनुभूति स्वरूपाचार्य विरचित। संस्कृत वाङ्मय अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनके लेखक दो-दो व्यक्ति हैं परन्तु पूरा ग्रन्थ किंसी एक के नाम पर ही प्रसिद्ध है। यथा स्कन्द और महेश्वर विरचित निरुक्त टीका स्कन्द के नाम से, बाण और उनके पुत्र द्वारा विरचित कादम्बरी बाण के नाम से, शर्व वर्मा और वररुचि विरचित कातन्त्र शर्ववर्मा के नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

सारस्वत के दो पाठ

जैसे जैनेन्द्र व्याकरण का मूल पाठ देवनन्दी प्रोक्त है और उसका दूसरा '**शब्दार्णव**' के नाम से प्रसिद्ध पाठ गुण नन्दी द्वारा परिबृंहित पाठ है, उसी प्रकार सारस्वत व्याकरण के भी दो पाठ हैं। इसका दूसरा परिबृंहित पाठ 'सिद्धान्तचन्द्रिका' नाम से प्रसिद्ध है। इसका परिबृंहण रामाश्रम भट्ट ने किया है। दोनों पाठों में लगभग ८०० सूत्रों का न्यूनाधिक्य है। प्रक्रियांश में कहीं-कहीं भेद है। दोनों के उणादि पाठ में भी अन्तर है। सारस्वत में उणादि सूत्रों की संख्या ३३ है जब कि सिद्धान्तचन्द्रिका में उनकी संख्या ३७० हो गयी है। दोनों व्याकरणों के वैषम्य को देखकर कई विद्वान् 'सिद्धान्तचन्द्रिका' को अलग एक स्वतन्त्र व्याकरण मानते हैं परन्तु उसे सारस्वत का परिबृंहित रूप ही मानना अधिक युक्त है।

सारस्वत के टीकाकार

सारस्वत व्याकरण पर जिनकी टीकाएँ प्राप्य या ज्ञात हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. क्षेमेन्द्र (काश्मीर देशज महाकवि क्षेमेन्द्र से भिन्न)— टिप्पण।
२. धनेश्वर—क्षेमेन्द्र-टिप्पण-खण्डन।
३. अनुभूतिस्वरूप (सं० १३०० वि०)—सारस्वत-प्रक्रिया।
३. अमृत भारती (सं० १५५० वि० से पूर्व)—सुबोधिनी।
५. पुञ्जराज (सं० १५५० वि०)—प्रक्रिया।
६. सत्यप्रबोध (सं० १५५६ वि० से पूर्व)—दीपिका।
७. माधव (सं० १५९१ वि० से पूर्व)—सिद्धान्तरत्नावली।
८. चन्द्रकीर्ति—सुबोधिका या दीपिका।
९. रघुनाथ—(सं० १६०० वि० के लगभग)—लघुभाष्य।
१०. मेघरत्न (सं० १६१४ वि० से पूर्व)—ढुंढिका अथवा दीपिका।
११. मण्डन (१६६२ वि० से पूर्व)—टीका।
१२. वासुदेव भट्ट (सं० १६३४ वि०)—प्रसाद।
१३. रामभट्ट (सं० १६५० के लगभग)—विद्वत्प्रबोधिनी।
१४. काशीनाथ भट्ट (सं० १६७२ वि० से पूर्व)—भाष्य।
१५. भट्टगोपाल (सं० १६७२ वि० से पूर्व)—सारस्वतव्याख्या।
१६. सहजकीर्ति (सं० १६८१ वि०)—प्रक्रियावार्तिक।
१७. हंसविजयगणि (सं० १७०८ वि०)—शब्दार्थचन्द्रिका।
१८. जगन्नाथ— सारप्रदीपिका (अनुपलब्ध)

सारास्वत के रूपान्तर

१. तर्कतिलक भट्टाचार्य (सं० १६७२ वि०)

तर्कतिलक भट्टाचार्य ने सारस्वत का एक रूपान्तर किया और उस पर स्वयम् एक वृत्ति लिखी। ये द्वारिका अथवा द्वारिकदास के पुत्र और मोहन मधुसूदन के लघु भ्राता थे। वृत्ति के लेखन काल के विषय में ग्रन्थकार ने स्वयं निर्देश किया है कि यह वृत्ति जहाँगीर के राज्य काल में सं० १६७२ में 'होडा' नगर में पूरित हुई।

२. रामाश्रम (सं० १७४१ वि० से पूर्व)

रामाश्रम ने भी सारस्वत का रूपान्तर करके उस पर सिद्धान्तचन्द्रिका नाम्नी व्याख्या लिखी।

लोकेशकर ने सं० १७४१ वि० में सिद्धान्तचन्द्रिका पर टीका लिखी है। अतः रामाश्रम, लोकेशकर से पूर्ववर्ती हैं। रामाश्रम ने अपनी व्याख्या का एक संक्षेप '**लघुसिद्धान्तचन्द्रिका**' भी लिखी है।

कुछ विद्वानों का मत है कि भट्टोजि दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित का ही रामाश्रम या रामचन्द्राश्रम नाम है।

सिद्धांतचंद्रिका के टीकाकार

(१) **लोकेशकर**—लोकेशकर ने सिद्धान्तचन्द्रिका पर तत्त्वदीपिका नाम्नी टीका लिखी है। इनके पितामह का नाम 'रामकर' और पिता का नाम 'क्षेमकर' था। टीका के लेखन काल के विषय में ग्रन्थकार ने स्वयं निर्देश किया है कि यह टीका सं० १७४१, श्रावण शुक्लपक्ष दशमी को पूर्ण हुई।

(२) **सदानन्द**—इन्होंने सिद्धान्तचन्द्रिका पर 'सुबोधिनी' टीका लिखी है। रचनाकाल १७९९ संवत् लिखा है।

(३) **व्युत्पत्तिसारकार**—सिद्धान्तचन्द्रिका के उणादि प्रकरण पर लिखे गये 'व्युत्पत्तिसार' नामक ग्रन्थ का हस्तलेख उपलब्ध है। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है। यह भी अज्ञात है कि इसने सम्पूर्ण सिद्धान्तचन्द्रिका की टीका की थी या उणादिभाग की ही।

३. जिनेन्द्र या जिनरत्न

जिनेन्द्र या जिनरत्न ने सारस्वत का रूपान्तर करके उस पर सिद्धान्त-रत्न' टीका लिखी है। यह बहुत अर्वाचीन है।

१७. बोपदेव (सं० १३२५—१३७० वि०)

बोपदेव ने 'मुग्धबोध' नामक लघु व्याकरण की रचना की है।

परिचय—बोपदेव के पिता केशव अपने समय के प्रसिद्ध वैद्य थे। बोपदेव के गुरू का नाम धनेश अथवा धनेश्वर था। ये वही धनेश्वर हैं जिन्होंने महा-भाष्य की 'चिन्तामणि' व्याख्या लिखी है।

बोपदेव की जन्म भूमि आधुनिकक दौलताबाद (दक्षिण) के समीप थी। उस समय देवगिरि पर यादवों का राज्य था। हेमाद्रि, महादेव और राम राजा का सचिव था। बोपदेव ने हेमाद्रि सचिव के लिए भागवत का संक्षेप किया था।

मल्लिनाथ ने कुमारसम्भव की टीका में बोपदेव को उद्धृत किया है। मल्लिनाथ का काल वि० सं० १४०० माना जाता है।

अन्य ग्रन्थ—बोपदेव ने 'कविकल्पद्रुम' नाम से धातुपाठ का संग्रह किया और उस पर 'कामधेनु' नाम्नी व्याख्या लिखी। इसके अतिरिक्त मुक्ताफल, हरिलीला- विवरण, शतश्लोकी (वैद्यकग्रन्थ) और हेमाद्रि नाम का धर्मशास्त्र पर निबन्ध लिखा है।

मुग्धबोध व्याकरण पर लगभग १६ टीकाएँ विज्ञात अथवा उपलब्ध हैं।

डॉ० बेल्वाल्कर के मतानुसार विभिन्न लेखकों ने मुग्धबोध के परिशिष्ट लिखे—

१. नन्दकिशोर, २. काशीश्वर, ३. रामतर्कवागीश। इनके अतिरिक्त—

४. रामचन्द्रतर्कवागीश ने परिभाषा पाठ पर वृत्ति लिखी।

१८. पद्मनाभदत्त (सं० १४०० वि०)

पद्मनाभदत्त ने **'सुपद्म'** नामक एक संक्षिप्त व्याकरण लिखा था। इनके पिता का नाम दामोदरदत्त और पितामह का नाम श्रीदत्त था। इनका काल १४०० वि० के आस-पास है। इन्होंने सं० १४२७ में 'पृषोदरादिवृत्ति' लिखी थी।

पद्मनाभदत्त ने अपने व्याकरण पर स्वयं **पञ्जिका** नाम्नी टीका लिखी है। इनके अतिरिक्त इनके व्याकरण पर विष्णुमिश्र, रामचन्द्र, श्रीधर चक्रवर्ती और काशीश्वर ने टीकाएँ लिखी हैं। इनमें विष्णुमिश्र की सुपद्ममकरन्द टीका सर्वश्रेष्ठ है।

पाणिनि से अर्वाचीन उपर्युक्त वैयाकरणों के अतिरिक्त कुछ और भी वैयाकरण हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने व्याकरणों की रचना की हैं किन्तु वे नाम मात्र के व्याकरण हैं और उनका प्रचार भी नहीं है। अतः उनका वर्णन नहीं किया गया।

———

अष्टादश अध्याय

शब्दानुशासन के खिलपाठ

वैयाकरण निकाय में व्याकरण की पूर्णता का द्योतन करने के लिए 'पञ्चाङ्ग व्याकरण आदि शब्दों का व्यवहार होता है। व्याकरण शास्त्र के पाँच अङ्ग अथवा ग्रन्थ इस प्रकार माने जाते हैं—

(१) शब्दानुशासन (सूत्रपाठ), (२) धातु पाठ, (३) गणपाठ (प्रतिपदिक पाठ), (४) उणादिपाठ, (५) लिङ्गानुशासन।

इन पाँचों अङ्गों में शब्दानुशासन (सूत्रपाठ) मुख्य है। शेषचार अंग शब्दानुशासन के उपकारी होने से उसकी अपेक्षा गौण हैं। अतएव ये धातु-पाठ आदि शब्दानुशासन के **खिल** माने जाते हैं।

खिल शब्द का अर्थ 'अवयव' है। कृत्स्न अर्थ वाची नञ् समासघटित **अखिल** शब्द में खिल का अर्थ अवयव = अङ्ग = भाग ही है।

'खिलपाठ' शब्द से धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गनुशासन इन चारों का संग्रह जानना चाहिए। इनका 'परिशिष्ट' शब्द से भी व्यवहार होता है।

धातुपाठ आदि के पृथक् प्रवचन का कारण—अति प्राचीन काल में धातु-पाठ आदि समस्त खिलपाठ शब्दानुशासन के अन्तर्गत ही तत्तत् प्रकरणों में संगृहीत होते थे; परन्तु उत्तरकाल में मनुष्यों की धारणाशक्ति और आयु के ह्रास के कारण जब समस्त विद्याग्रन्थों का उत्तरोत्तर संक्षेप होने लगा तब प्रधान भूत शब्दानुशासन के लाघव के लिए खिलपाठों को सूत्र पाठ से पृथक् किया गया।

पृथक्करण से हानि—खिलपाठों को सूत्र पाठ से पृथक् कर देने से शब्दानुशासन में निश्चय ही अति लाघव हो गया तथापि इस पृथक्करण से एक महती हानि भी हुई। व्याकरण शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में आजन्म निरत रहने वाले व्यक्ति भी खिलपाठों के अध्ययन-अध्यापन में उपेक्षा करने लगे। धातुपाठ और उणादि पाठ का तो थोड़ा बहुत पठन-पाठन चलता भी रहा परन्तुसूत्रपाठ के साथ साक्षात् संबद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गणपाठ तो अत्यन्त उपेक्षा का विषय बन गया। गण पठित शब्दों के अज्ञान की थैबात

तो दूर रही, उसका मूल पाठ भी सुरक्षित नहीं रहा। अन्य व्याकरण-सम्बद्ध गणपाठों के विषय में तो कहना ही क्या, सबसे अधिक प्रचलित पाणिनीय तन्त्र के गणपाठ पर भी कोई प्राचीन व्याख्यान ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। वर्धमान सूरि विरचित 'गणरत्नमहोदधि' ही गणपाठ के परिज्ञान के लिए समस्त वैयाकरणों का एक मात्र आश्रय है। और वह भी पूर्णरूप से परिज्ञात नहीं कि किस व्याकरण के गणपाठ पर आश्रित है। यदि यह व्याख्यान भी न होता तो हम गणपाठ के विषय में सर्वथा अन्धकार में ही रहते।

सूत्रपाठ में पुनः सन्निवेश—खिलपाठों को शब्दानुशासन से पृथक् कर देने से हुई महती हानि का अनुभव महाराज भोज को हुआ और उन्होंने अति प्राचीन परिपाटी के अनुसार अपने शब्दानुशासन में गणपाठ और उणादि पाठ को पुनः सन्निविष्ट किया परन्तु उनके शब्दानुशासन (सरस्वतीकण्ठाभरण) के अधिक प्रचलित न हो सकने के कारण महाराज भोज के उक्त प्रयत्न का कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

सूत्रपाठ और खिलपाठ के समान प्रवक्ता—पाणिनीय व्याकरण से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न-तन्त्र का **धातुपाठ** प्रकाश में आ चुका है। उसके **उणादिसूत्रों** में से कतिपय सूत्र धातुपाठ की कन्नड टीका में स्मृत हैं। आपिशलि आचार्य के भी धातुपाठ और गणपाठ के कई उद्धरण प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

पाणिनि ने भी अपने शब्दानुशासन से संबद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया। सम्पूर्ण पञ्चाङ्ग पाणिनीय तन्त्र विविध व्याख्यान ग्रन्थों के सहित आज उपलब्ध है।

पाणिनि से उत्तरकालीन उपलब्ध व्याकरण शास्त्र से संबद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन का प्रवचन प्रायः मूल शब्दानुशासन के प्रवक्ता वैयाकरणों ने ही किया है। एक मात्र कातन्त्र व्याकरण ऐसा है जिसके उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन मूलशास्त्र-प्रवक्ता के प्रवचन नहीं हैं।

व्याकरण शास्त्र का एक अन्य अङ्ग : परिभाषा पाठ

परिभाषा पाठ भी शब्दानुशासन के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखने वाला एक अङ्ग है। अनेक व्याकरणों के परिभाषा पाठ पृथक् पृथक् उपलब्ध होते हैं किन्तु वे प्रायः अन्य खिलपाठों के समान तत्तच्छास्त्र प्रवक्ता आचार्यों द्वारा

तो दूर रही, उसका मूल पाठ भी सुरक्षित नहीं रहा। अन्य व्याकरण-सम्बद्ध गणपाठों के विषय में तो कहना ही क्या, सबसे अधिक प्रचलित पाणिनीय तन्त्र के गणपाठ पर भी कोई प्राचीन व्याख्यान ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। वर्धमान सूरि विरचित **'गणरत्नमहोदधि'** ही गणपाठ के परिज्ञान के लिए समस्त वैयाकरणों का एक मात्र आश्रय है। और यह भी पूर्णरूप से परिज्ञात नहीं कि किस व्याकरण के गणपाठ पर आश्रित है। यदि यह व्याख्यान भी न होता तो हम गणपाठ के विषय में सर्वथा अन्धकार में ही रहते।

सूत्रपाठ में पुनः सन्निवेश—खिलपाठों को शब्दानुशासन से पृथक् कर देने से हुई महती हानि का अनुभव महाराज भोज को हुआ और उन्होंने अति प्राचीन परिपाटी के अनुसार अपने शब्दानुशासन में गणपाठ और उणादि पाठ को पुनः सन्निविष्ट किया परन्तु उनके शब्दानुशासन (सरस्वतीकण्ठाभरण) के अधिक प्रचलित न हो सकने के कारण महाराज भोज के उक्त प्रयत्न का कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

सूत्रपाठ और खिलपाठ के समान प्रवक्ता—पाणिनीय व्याकरण से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न-तन्त्र का **धातुपाठ** प्रकाश में आ चुका है। उसके **उणादिसूत्रों** में से कतिपय सूत्र धातुपाठ की कन्नड टीका में स्मृत हैं। आपिशलि आचार्य के भी धातुपाठ और गणपाठ के कई उद्धरण प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

पाणिनि ने भी अपने शब्दानुशासन से संबद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया। सम्पूर्ण पञ्चाङ्ग पाणिनीय तन्त्र विविध व्याख्यान ग्रन्थों के सहित आज उपलब्ध है।

पाणिनि से उत्तरकालीन उपलब्ध व्याकरण शास्त्र से संबद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन का प्रवचन प्रायः मूल शब्दानुशासन के प्रवक्ता वैयाकरणों ने ही किया है। एक मात्र कातन्त्र व्याकरण ऐसा है जिसके उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन मूलशास्त्र-प्रवक्ता के प्रवचन नहीं हैं।

व्याकरण शास्त्र का एक अन्य अङ्ग : परिभाषा पाठ

परिभाषा पाठ भी शब्दानुशासन के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखने वाला एक अङ्ग है। अनेक व्याकरणों के परिभाषा पाठ पृथक् पृथक् उपलब्ध होते हैं किन्तु वे प्रायः अन्य खिलपाठों के समान तत्तच्छास्त्र प्रवक्ता आचार्यों द्वारा

प्रोक्त नहीं है। उनका संग्रह तत्तत् शास्त्रों के उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने किया है।

परिभाषा पाठ के व्याख्याकारों का मत है कि ये परिभाषाएँ भी किसी प्राचीन व्याकरण के सूत्रपाठ के अन्तर्गत थीं। उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने इन्हें 'लोकसिद्ध', 'न्यायसिद्ध' अथवा 'ज्ञापकसिद्ध' मान कर अपने तन्त्र में सन्निविष्ट नहीं किया।

व्याकरण शास्त्र से संबद्ध अन्य ग्रन्थ—उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी कतिपय ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनका व्याकरणशास्त्र के साथ सम्बन्ध है। यथा-फिट्सूत्र, दार्शनिकग्रन्थ, लक्ष्य-प्रधान काव्य, वैदिक व्याकरण (प्रातिशाख्यादि)।

इनका संक्षिप्त इतिहास भी इस ग्रन्थ में यथा स्थान निबद्ध किया जायगा।

उन्नीसवाँ अध्याय

शब्दों के धातुजत्व और धातु के स्वरूप पर विचार

प्राचीन भारतीय भाषाविदों ने संस्कृत भाषा के पदों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया है। उनमें से प्रधान वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

(१) **चतुर्धा विभाग**—यास्क आदि ने पदों को चार विभागों में बाँटा है—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।

कर्मप्रवचनीयों को पृथक् गिन कर पाँच विभाग और गतिसंज्ञकों को भी अलग मान कर छः विभाग करना आवश्यक नहीं है क्योंकि कर्मप्रवचनीयों और गतिसंज्ञकों का निपातों और उपसर्गों में अन्तर्भाव हो जाता है।

पदों के चतुर्धा विभाग करने वाले आचार्य स्वर आदि अव्ययों का भी समावेश निपातों में करते हैं, जब कि पाणिनि के मत से उनमें अनेक शब्द द्रव्यवाची होने से निपातों में समाविष्ट नहीं हो सकते। अद्रव्यवाची चादि शब्दों की ही ('चादयोऽसत्त्वे' सूत्र से) निपात संज्ञा होती है। सम्भवतः प्राचीन आचार्य निपात संज्ञा में असत्त्व=अद्रव्यवाचकत्व का निर्देश नहीं करते थे। ऐसी अवस्था में स्वर् आदि अव्ययों का निपातों में कथंचित् अन्तर्भाव हो सकता है। इसकी पुष्टि गोपथ ब्राह्मण (१।१।२६) में लिखे **'निपातेषु चैनं वैयाकरणाः पठन्ति'** वचन से होती है। अर्थात् वैयाकरण (ब्रह्मवाची) ओम् का निपातों में पाठ मानते हैं। ऐसा तभी सम्भव है जब निपात संज्ञा में असत्त्व' का निर्देश न माना जाय। अन्यथा ब्रह्मवाची ओम् का निपातों में परिगणन नहीं हो सकता।

त्रिधा विभाग—पाणिनीय शब्दानुशासन के अनुसार शब्द तीन प्रकार के हैं—नाम, आख्यात और अव्यय। उपसर्ग और कर्मप्रवचनीयों का निपातों में और निपातों का अव्यय में अन्तर्भाव होता है।

द्विधा विभाग—पाणिनीय तथा अन्य कतिपय तन्त्रों की प्रक्रिया के अनुसार सुबन्त और तिङन्त दो ही विभाग हैं। पाणिनि आदि ने पदसंज्ञा की सिद्ध के लिए अव्ययों से भी स्वादि की उत्पत्ति करके उनके लोप का विधान किया है।

एकविधत्व—ऐन्द्र आदि कतिपय प्राचीन व्याकरण प्रवक्ताओं के मत में समस्त शब्द एकविध ही माने गये हैं।

पदों के स्वरूप की दृष्टि से उन्हें नाम, आख्यात और अव्यय (उभयविध विभक्ति से रहित) तीन विभागों में ही बाँटा जा सकता है। इसलिए पदों का त्रिधा विभाग ही युक्त है।

नाम शब्दों का त्रिधा विभाग—नाम शब्द यौगिक, योगरूढ़ और रूढ़ भेद से तीन प्रकार के माने जाते हैं।

नामशब्दों का अन्यथा विभाग—नाम शब्दों का एक अन्य प्रकार से भी विभाग किया जाता है—जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द।

यदृच्छा शब्द (अर्थात् नितान्त रूढ शब्द) संस्कृत भाषा में उत्तर काल में प्रविष्ट हुए हैं। ये संस्कृत भाषा के मूल शब्द नहीं हैं। अतएव कतिपय वैयाकरण प्राचीन परम्परा के अनुसार यदृच्छा शब्दों की गणना न करके तीन प्रकार के ही शब्द मानते हैं। आचार्य आपिशलि और पाणिनि भी यदृच्छा शब्दों को संस्कृत भाषा का अङ्ग नहीं मानते।

ये यदृच्छा शब्द संस्कृत भाषा का अङ्ग न होने के कारण अनित्य माने जाते हैं। कृत्रिम टि घु आदि संज्ञाओं का भी समावेश यदृच्छा शब्दों के अन्तर्गत होता है। महाभाष्यप्रदीपोद्योत (१।३।१) में टि घु आदि कृत्रिम संज्ञाओं को भी अनादि अर्थात् नित्यमानना शास्त्रसंमत नहीं है।

भाषा में यदृच्छा शब्दों की प्रवृत्ति अहंभाव और मूर्खता के कारण होती है। जगत् में ज्यों-ज्यों इन कारणों की वृद्धि होती जाती है, उसी अनुपात में त्यों-त्यों भाषा में यदृच्छा शब्दों की वृद्धि हीती जाती है। यदृच्छा शब्द, भाषा अथवा व्याकरण के नियमों के अनुसार सोच-विचार कर अर्थ-विशेष में प्रयुक्त नहीं किये जाते अतः वे समग्र वर्णसमुदाय से ही अर्थ विशेष के संकेत माना लिए जाते हैं। इसलिए यदृच्छा रूढ़ ही होते हैं।

इस प्रकार यदृच्छा शब्दों को संस्कृत भाषा का अङ्ग स्वीकार न करने पर नाम शब्दों में यौगिक और योगरूढ़ दो ही प्रकार अवशिष्ट रहते हैं। क्योंकि संस्कृत भाषा में यदृच्छा शब्दों के अतिरिक्त कोई भी शब्द मूलतः रूढ़ नहीं है।

सम्पूर्ण शब्द यौगिक—अति प्राचीनकाल में न केवल नाम शब्द, अपितु अव्यय भी यौगिक (अर्थात् धातुज) माने जाते थे। इस परम्परा के प्रायः नष्ट हो जाने पर भी निरुक्त और उणादिसूत्रों के प्रवक्ता अचार्यों तथा वेद भाष्यकारों ने अनेक अव्ययों की धातु से व्युत्पत्ति दर्शायी है।

काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड टीका में भी बहुत से अव्ययों का धातुजत्व दर्शाया गया है।

इस प्रकार इन आचार्यों ने नष्ट हुई प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करके उसे पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया है।

वैयाकरणों में हेमचन्द्राचार्य ने अपनी बृहद्वृत्ति के स्वोपज्ञ महान्यास में अनेक अव्ययों और निपातों का धातुजत्व दर्शाया है।

यौगिकत्व से रूढ़त्व की ओर गति—जिन शब्दों में धात्वर्थ का अनुगमन प्रतीत होता है, वे यौगिक माने जाते हैं। जिनमें धात्वर्थ का अनुगमन प्रतीत होने पर भी किसी अर्थ विशेष में नियत प्रतीत होते हैं, वे योगरूढ़ कहे जाते हैं। जिन शब्दों में धात्वर्थ का अनुगमन कथंचित् भी प्रतीत नहीं होता, वे रूढ़ माने जाते हैं। संस्कृत भाषा के इतिहास से स्पष्ट है कि मनुष्यों के उत्तरोत्तर मतिमान्द्य के कारण यौगिकत्व (=धात्वर्थ प्रतीति) में भी उत्तरोत्तर ह्रास हुआ। इस कारण शब्दों में यौगिकत्व से योगरूढ़त्व और योगरूढ़त्व से रूढ़त्व की ओर अधिकाधिक गति हुई है।

अव्ययों का रूढ़त्व—उक्त प्रवृत्ति के अनुसार जब धात्वर्थ के अनुगमन की प्रतीति का ह्रास हुआ, तब सब से प्रथम अव्ययों पर इसका प्रभाव पड़ा। उनमें धात्वर्थ अनुगमन की प्रतीति का नाश हो जाने पर उन्हें रूढ़ मान लिया गया अर्थात् सङ्चे वर्णसमुदाय के रूप उन्हें अर्थविशेष का वाचक अथवा द्योतक स्वीकार किया गया।

नाम शब्दों का योगरूढ़त्व और रूढ़त्व—उक्त प्रवृत्ति के अनुसार नाम शब्दों में भी जब धात्वर्थ अनुगमन अर्थ वैविध्य विस्मृत होने लगा, तब नाम शब्दों की भी शुद्ध यौगिकता से योगरूढ़त्व और योगरूढ़त्व से रूढ़त्व की ओर गति होने लगी। जैसे-जैसे धात्वर्थ अनुगमन की प्रतीति का नाश होने लगा, वैसे-वैसे भाषा में रूढ़ शब्दों की वृद्धि होती गयी।

रूढ़ माने गये शब्दों के विषय में विवाद—जब संस्कृत भाषा में शब्दों के रूढ़त्व की भावना दृढ़मूल हो गयी, तब रूढत्वेन स्वीकृत शब्दों के विषय में शास्त्रकारों में एक अत्यन्त रोचक किन्तु महत्त्वपूर्ण विवाद खड़ा हो गया। शास्त्रकारों में दो दल हो गये। एक दल में गार्ग्य के अतिरिक्त समस्त नैरुक्त आचार्य और महावैयाकरण शाकटायन थे। दूसरे दल में गार्ग्य नैरुक्त आचार्य तथा शाकटायनेतर वैयाकरण सम्मिलित थे। पहिला दल, लोक में रूढ़ माने जाने वाले शब्दों के धातुजत्व (अर्थात् यौगिकत्व) का प्रतिपादन करता था और दूसरा दल उनके अधातुजत्व (रूढ़त्व) का। पहिले दल के नेता यास्क ने अपने निरुक्त में रूढ़ शब्दों को अधातु मानने वाले आचार्यों की युक्तियों का बड़ी उत्तमता से निराकरण करके सम्पूर्ण नाम शब्दों के धातु-

जत्व सिद्धान्त का भले प्रकार स्थापन किया है। उनके मत में कोई भी शब्द रूढ़ (=अधातुज) नहीं है। यही मत महावैयाकरण शाकटायन का है।

उणादि सूत्रों के प्रवचन का उद्देश्य और उनके पार्थक्य का कारण—जब शब्दों के एक बड़े अंश के विषय में यौगिकत्व और रूढ़त्व सम्बन्धी मतभेद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया तब तात्कालिक वैयाकरणों ने एक ऐसा मार्ग ढूंढ निकाला जिससे दोनों मतों का समन्वय हो सके। इसके लिए उन्होंने उणादि पाठ का प्रवचन किया और उसे शब्दानुशासन के कृदन्त (अर्थात् धातुज शब्दों) के प्रकरण के खिल रूप में शब्दानुशासन से पृथक् कर दिया। इस प्रकार एक ओर रूढ़त्वेन अभिमत विवादास्पद शब्दों को धातुज मानने वालों की दृष्टि से शब्दानुशासनस्थ कृदन्त शब्दों के समान ही उनके प्रकृति-प्रत्यय अंश का प्रवचन कर दिया और दूसरी ओर शब्दानुशासन के कृदन्त प्रकरण से बहिर्भूत करके उनका रूढ़त्व भी अभिव्यक्त कर दिया।

उणादि सूत्रों के सम्बन्ध में भ्रान्ति—आधुनिक वैयाकरण निकाय में यह धारणा घर-सी कर गयी है कि वर्तमान पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायन प्रोक्त हैं। यह धारणा भ्रान्ति मूलक है। इस भ्रान्ति का कारण उणादयो बहुलम् (पा० ३।३।१) सूत्र पर महाभाष्यकार के निम्न शब्द हैं—

'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे च शकटस्य च तोकम्।'

वस्तुतः भाष्यकार के इस कथन का अभिप्राय केवल इतना भर है कि नैरुक्त आचार्य और वैयाकरणों में शाकटायन सभी नाम शब्दों को धातुज मानते हैं। महाभाष्यकार के किसी भी पद से यह इङ्गित नहीं होता कि वर्तमान पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायन प्रोक्त हैं। पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों ने उणादिसूत्रों का प्रवचन किया था। उसी परम्पर के अनुसार पाणिनि ने भी खिलपाठ के रूप में उणादिसूत्रों का प्रवचन किया। पाणिनि से उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने भी उणादि-प्रवचन द्वारा आजतक प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा।

औणादिक शब्दों के विषय में पाणिनि का मत—यद्यपि पाणिनि ने रूढ़ शब्दों के यौगिकत्व पक्ष को सुरक्षित रखने के लिए प्राचीन वैयाकरण परम्परा के अनुसार उणादिसूत्रों का पृथक् प्रवचन किया। वे वृक्षादि शब्दों को रूढ़ मानते हुए भी उन्हें सर्वथा अव्युत्पन्न नहीं मानते। अतएव पाणिनि ने आचार्य शन्तनु की तरह अव्युत्पन्न प्रातिपदिकों के स्वर ज्ञान के लिए प्राति-पदिक स्वरबोधक लक्षणों का निर्देश नहीं किया।

औणादिक शब्दों के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत—वैयाकरण निकाय में आचार्य शाकटायन के बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ही ऐसे वैयाकरण हैं जो औणादिक शब्दों में किसी को रूढ़ नहीं मानते। वे प्रत्येक औणादिक शब्दों को मूलतः यौगिक और उत्तर कालीन प्रसिद्धि के अनुसार योगरूढ स्वीकार करते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने प्रत्येक औणादिक शब्द के यौगिक और योगरूढ़ दो-दो प्रकार के अर्थ दर्शाये हैं। यथा—

पाति रक्षतीति पायुः, रक्षकः, गुदेन्द्रियं वा। उणादि कोश १।१ ॥

यहाँ पायु को यौगिक मान कर प्रथम 'रक्षक' अर्थ दर्शाया है, और योग-रूढ़ मानकर 'गुदेन्द्रिय'। इसी प्रकार सर्वत्र दो-दो अर्थ दर्शाए हैं।

सम्पूर्ण नाम शब्दों की रूढ़त्व में परिणति—धात्वर्थ अनुगमन के उत्तरोत्तर ह्रास के कारण संस्कृत भाषा के इतिहास में एक ऐसा समय भी आ गया कि पूर्वाचर्यों द्वारा असन्दिग्ध रूप से माने गये पाचक, पाठक अदि शब्द भी वृक्ष आदि शब्दों के समान रूढ़ मान लिये गये। यौगिक अथवा योग रूढ़ कोई शब्द रह ही नहीं गया। अतएव कातन्त्रव्याकरण के मूल प्रवक्ता ने सम्पूर्ण कृदन्त भाग के प्रवचन की आवश्यकता न समझकर उसे अपने तन्त्र में स्थान नहीं दिया। इस दुरवस्था का संकेत कातन्त्र के व्याख्याकार दुर्गसिंह के निम्न शब्दों में मिलता है—

'वृक्षादिवदमीरूढा न कृतिना कृताः कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुधप्रतिपत्तये।'

कृदन्त (पाचक आदि) शब्द भी वृक्ष आदि शब्द के समान रूढ़ हैं। अतः ग्रन्थकार (शर्ववर्मा) ने कृदन्त शब्द विषयक सूत्र नहीं रचे। विबुध लोगों के परिज्ञान के लिए कात्यायन ने इन्हें रचा है।

इस प्रकार सम्पूर्ण कृदन्त शब्दों को रूढ़ मान लेने पर भी उत्तरवर्त्ती वैयाकरण अपने व्याकरण ग्रन्थों की परिपूर्णता के लिए प्राचीन परम्परनुसार कृदन्त शब्दों का अन्वाख्यान करते रहे।

धातुस्वरूप

वैयाकरणों के मतानुसार शब्द तीन प्रकार के होते हैं—धातुज, अधातुज और नामज। धातुज भी दो प्रकार के होते हैं—पचति, पठति आदि क्रिया शब्द और पाचक, पाठक आदि नाम शब्द। वृक्षादिनाम, उपसर्ग, निपात, अव्यय अधातुज अर्थात् रूढ़ माने गये हैं। तद्धित प्रत्ययान्त शब्द नामज हैं।

समासयुक्त शब्दों की पृथक् गणना नहीं की जाती, क्योंकि वे उक्त विविध शब्दों के समुदाय मात्र होते हैं।

धातुलक्षण—वैयाकरण निकाय में धातुशब्द का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—

दधाति विविधं शब्दरूपं यः स धातुः।

जो शब्दों के विविध रूपों को धारण (निष्पादन) करने वाला [शब्द के अन्तः प्रविष्ट रूप] है वह 'धातु है।

शब्दों के धातुजत्व पर विचार—भाषावैज्ञानिकों ने इस प्रश्न पर गहरा विचार किया है कि मानव भाषा के प्रारम्भिक मूल शब्द कौन से रहे होंगे। कतिपय विद्वान् शब्दों के धातुजत्व सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर भाषा में प्रारम्भिक शब्द धातुमात्र स्वीकार किये। परन्तु यह पक्ष व्यावहारिक दृष्टि से अनुपपन्न है। केवल धातुमात्र शब्दों के साहाय्य से लोक-व्यवहार किसी भी प्रकार उपपन्न नहीं हो सकता। उसके लिए नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि सभी प्रकार के शब्द आवश्यक होते हैं। अतः भाषा के मूल शब्द धातुमात्र नहीं माने जा सकते। परन्तु शब्दों को धातुज मानने पर धातुओं की सत्ता उनसे पूर्व स्वीकार करनी पड़ती है।

भारतीय मत का स्पष्टीकरण—भारतीय भाषाशास्त्रविद् सम्पूर्ण नाम शब्दों को धातुज मानते हैं। इसलिए इस मत का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

अर्वाचीन स्पष्टीकरण—अर्वाचीन भारतीय भाषाविदों ने शब्दों के धातुजत्व पर गम्भीर विवेचन करने के बाद यह सिद्धान्त स्थिर किया कि शब्द नित्य हैं, अर्थात् पूर्वतः विद्यमान हैं। उन्हीं पूर्वतः विद्यमान शब्दों में शास्त्रकारों ने प्रकृति-प्रत्यय अंश की कल्पना करके उनके उपदेश का एक मार्ग बनाया है। उनका प्रकृति-प्रत्यय विभाग काल्पनिक है, पारमार्थिक नहीं। यही कारण है कि शब्द-निर्वचन के विषय में शास्त्रकारों में मतभेद भी देखा जाता है। यदि प्रकृति-प्रत्यय विभाग काल्पनिक न होता तो शास्त्रकारों में मतभेद न होता। इस स्पष्टीकरण के अनुसार धातुजत्व सिद्धान्त का कोई मूल्य नहीं रहता। अतः यह चिन्त्य है।

प्राचीन वाङ्मय के साहाय्य से स्पष्टीकरण—

भारतीय प्राचीनतम सिद्धान्त 'सब शब्द धातुमूलक हैं' सर्वथा सत्य है। इसमें भाषाशास्त्र की दृष्टि से अथवा व्यावहारिक दृष्टि से कोई दोष उपस्थापित नहीं किया जा सकता। परन्तु प्राचीनकाल में धातु का वह स्वरूप

नहीं था जो इस समय स्वीकार किया जाता है । अतएव धातु के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है ।

धातु का प्राचीन स्वरूप

वैयाकरणों द्वारा प्रदर्शित धातु-लक्षण **'दधाति शब्दस्वरूपं यः स धातुः'** निस्सन्देह सर्वथा सत्य है । परन्तु इसका तात्पर्य है—'विभिन्न प्रकार के शब्द-रूपों को धारण करने वाला जो मूल शब्द है, वह धातु कहलाता है ।' अर्थात् जो शब्द आवश्यकतानुसार नाम-विभक्तियों से युक्त होकर नाम बन जाये, आख्यात-बिभक्तियों से युक्त होकर क्रिया को द्योतित करने लगे और उभय-विध विभक्तियों से रहित होकर स्वार्थमात्र का द्योतक होवे वह (तीनों रूपों में परिणत होने वाला) मूल शब्द ही 'धातु' पदवाच्य होता है । आवश्य-कतानुसार विविध रूपों में परिणत होने वाले इस प्रकार के शब्द ही आदि भाषा संस्कृत के मूल शब्द थे । ये मूलभूत ('धातु' पदवाच्य) शब्द ही नाम आख्यात और अव्यय रूप विवध प्रकार के शब्दों में परिणत होते हैं, अतः 'सब शब्द धातुज हैं' यह भारतीय सिद्धान्त सर्वथा सत्य है । इन्हीं मूलभूत शब्दों को ही अति प्राचीनकाल के भारतीय भाषाविद् 'धातु' कहते थे ।

अति प्राचीनकाल में इन्हीं मूलभूत (धातु) शब्दों के लिए प्रातिपदिक शब्द का भी व्यवहार होता था । प्रातिपदिक शब्द का अपना अर्थ है—

'पदं पदं प्रति इति प्रतिपदम् । प्रतिपदेषु भवं प्रातिपदिकम् ।'

अर्थात् जो नाम, आख्यात और अव्यय (उपसर्ग-निपात) रूप सर्व-विधपदों में मूलरूप से विद्यमान रहे, वह 'प्रातिपदिक' कहलाता है ।

पाणिनि की धातु और प्रत्यय से भिन्न अर्थवान् शब्द के लिए निर्दिष्ट 'प्रातिपदिकसंज्ञा' भी अपनी अन्वर्थता की ओर संकेत करती हुई अपने अन्दर निहित [illegible] की [illegible] को अति प्राचीनतम [illegible] प्रक्रिया के स्वरूप को अभिव्यक्त कर रही है ।

अति प्राचीन शब्द-प्रवचन शैली—महाभाष्य (१।१। आ० १) से विदित होता है कि जब तक व्याकरणशास्त्र लक्षण-रूप में निबद्ध नहीं हुआ था, तब तक शब्दों का प्रतिपद उपदेश होता था । उस प्रतिपद उपदेश का क्या स्वरूप था, यद्यपि यह सम्प्रति निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता, तथापि बहुत संभव है कि एक मूल भूत शब्द को लेकर उससे आख्यात-विभक्तियाँ जोड़कर आख्यातरूपों के, तथा नाम-विभक्तियाँ जोड़कर नाम रूपों के निदर्शन की प्रथा थी । उसी मूल भूत शब्द से कृत् और तद्धित प्रत्यय

जोड़ कर कृदन्त और तद्धितान्त शब्दों का प्रवचन भी किया जाता था। उभय-विध विभक्तियों के बिना स्वार्थ मात्र में (अव्यय रूप में) प्रयोग होता था।

कण्ड्वादिगणस्थ शब्द आज भी धातु और प्रतिपदिक रूप माने जाते हैं। इस दृष्टि से कण्ड्वादिगणस्थ शब्दों की आज भी वही स्थिति है जो अति प्राचीन काल में शब्द मात्र की थी। 'उषस्' का कण्ड्वादिगण में पाठ होने से **उषस्यति** आदि क्रिया रूपों की, **उषस्यकः, उषसिता उषसितव्यम्** आदि कृदन्त शब्दों की सिद्धि दर्शायी जाती है। और नाम मान कर **उषाः उषसौ उषसः** आदि नाम रूपों की निष्पत्ति होती है। 'उषस्' शब्द का चादिगण में पाठ होने से उभयविध विभक्तियों से रहित यह निपात रूप अव्यय भी है। इसी अव्यय से **उषस्त्यम् उषस्तनम्** आदि तद्धित रूप निष्पन्न होते हैं।

उस काल में उपसर्गों की भी पृथक् सत्ता नहीं थी। वे मूल भूत शब्द के ही अवयव माने जाते थे अतः अट् आदि का आगम भी उपसर्गांश से पूर्व होता था। आज भी संग्राम (सम्+ग्राम), निवास (नि+वास), वीर (वि+ईर), व्यय (वि+अय) आदि कतिपय धातुओं में यह स्थिति देखी जाती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि व्याकरणशास्त्र के लक्षणबद्ध होने से पूर्व शब्दों का प्रतिपद उपदेश इसी प्रकार से होता था। अतएव उस काल में उक्त प्रकार के भूलभूत शब्दों को क्रम-विशेष से जिस ग्रन्थ में संग्रह किया गया, वह 'शब्दपारायण' कहलाता था।

उत्तरकालीन स्थिति—उक्त अति प्राचीनकाल की स्थिति के पश्चात् उपसर्ग, निपात और अव्ययों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी। परन्तु नाम और आख्यात पदों के मूल भूत शब्द पूर्ववत् ही बने रहे अर्थात् एक ही शब्द से उभयविध विभक्तियों से संबद्ध पदों की निष्पत्ति मानी जाती रही। इसी प्रक्रिया का स्वल्प स्वरूप कण्ड्वादिगण के रूप में आज भी विद्यमान है।

अवरकालीन स्थिति—उक्तकाल से अवर काल में—

(i) व्याकरणशास्त्र का अतिसंक्षेप से प्रवचन करने के लिए तत्कालीन वैयाकरणों ने मूलतः अनेक विध नाम और क्रियापदों की सिद्धि दर्शाने के लिए सूक्ष्म धात्वंश की कल्पना की।

(ii) उसी में विभिन्न प्रत्ययों के परे रहने पर गुण, वृद्धि, लोप, इट् आगम आदि विविध विषयों की कल्पना की। क्योंकि बिना ऐसा किये, मूलतः विभिन्न शब्दों की निष्पत्ति दर्शायी नहीं जा सकती थी।

(iii) मूल शब्दों के अवयवभूत उपसर्गांशों को भी पृथक् करना पड़ा। यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर विकसित होती गयी। फल यह हुआ कि मूलरूप से विभिन्न स्वतः सिद्ध शब्दों को आज एक कृत्रिम धातु से निष्पन्न करने का क्लिष्ट प्रयत्न करते हैं और उसी काल्पनिक धातु के अर्थ के अनुसार शब्दार्थ की कल्पना करते हैं।

वर्तमान धातुपाठों में प्राचीन मूलभूत शब्दों का निर्देश

सहस्रों वर्षों तक इस लघुतम कृत्रिम धात्वंश कल्पना के विकसित होने पर भी अति प्राचीनकाल की नाम आख्यात पदों के एकविध मूलशब्द की स्थिति को सर्वथा लुप्त नहीं किया जा सका। आज भी पाणिनीय व तदुत्तरवर्ती व्याकरण उस अति प्राचीन काल की एकविध मूलशब्द की स्थिति का अनेक प्रकार से बोध करा रहे हैं—

(१) पाणिनीय धातु पाठ में आज भी शतशः ऐसी धातुएँ पठित हैं जो उसी रूप में लोक में नाम रूप से भी व्यवहृत होती हैं। यथा—

पुष्प, शम, दम, व्यय, वृक्ष, शूर, वीर, हल, स्थल, स्थूल, कुल, बल, ऊह, पण, वास, निवास, कुमार, गोमय, संग्राम आदि-आदि।

(२) पाणिनीय धातुओं में विशिष्ट कार्य के लिए लगाये गये विभिन्न अनुबन्धों को हटाकर यदि अन्त में 'अ'-वर्ण जोड़ दें (जिसका क्रियारूप में लोप हो जाता है) तो शतशः ऐसी धातुएँ बन जायँगी, जो उसी रूप में नाम रूप में प्रयुक्त होती हैं। यथा—

अक्षू=अक्ष, श्लोकृ=श्लोक, आङ्रेकृ=आरेक, क्रमु=क्रम आदि।

(३) नुम् (न्) का आगम करने के उद्देश्य से लगाये गये इकार अनुबन्ध को हटाकर, यथा स्थान मूलभूत अनुनासिक वर्ण को बैठाकर अन्त में अ अथवा आ जोड़ने से धातुएँ मूल शब्द रूप में अनायास परिणत हो जाती हैं। पाणिनीय धातुपाठ में ऐसी धातुएँ अत्यधिक हैं। यथा—

स्कभि=स्कम्भ, जृभि=जृम्भा, पडि=पण्डा, यत्रि=यन्त्र, मुडि=मुण्ड, टकि=टङ्क, शुठि=शुण्ठ, मत्रि=मन्त्र आदि।

(४) मूल भूत अंश की उपसर्ग के रूप में पृथक कल्पना करने पर भी पाणिनीय अनेक धातुओं में वर्तमान दृष्टि से उपसर्गांश संयुक्त है। यथा—

संग्राम=सम्+ग्राम, व्यय=वि+अय, वीर=वि+ईर। इन धातुओं के लङ्, लुङ्, लृङ् के रूपों में अट् का आगम उपसर्गांश से पूर्व होता है। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

(५) आज भी कण्ड्वादिगण उस अति प्राचीन काल की स्थिति को व्यक्त कर रहा है जब एक ही शब्द आख्यात और नाम की उभयविध विभक्तियों से युक्त होकर क्रियारूपों और नामरूपों को धारण करते थे। चुरादिगण की भी प्रायः यही स्थिति है। अतएव पाणिनि ने चुरादिगणस्थ धातुओं से णिच् करने के लिए उन्हें सत्याप पाश रूप वीणा आदि ऐसे शब्दों के साथ पढ़ा है जिनका आख्यात और नाम विभक्तियों में प्रयोग होता है।

महाभाष्यकार ने भी मुण्डमिश्रेत्यादि (३।१।२१) सूत्र-पठित नाम शब्दों को पक्षान्तर में धातु स्वीकार किया है—

अथवा धातव एव मुण्डादयः। न चैव ह्यर्था आदिश्यन्ते क्रियावचनता च गम्यते। (महाभाष्य ३।१।८)

(६) आज भी सभी वैयाकरण नाम (प्रातिपदिक) शब्दों से आचार आदि अर्थों में क्विप्, क्यच्, क्यङ् आदि प्रत्यय करके उनसे आख्यात रूप बनाते हैं। यथा—

अश्व अश्वति, अश्वीयति (छन्द में अश्वायति), अश्वायते।

(७) आज के वैयाकरणों द्वारा व्यवहृत नामधातु रूप महती संज्ञा प्राचीनकाल की उसी प्रक्रिया को व्यक्त कर रही है जिसके अनुसार एक ही शब्द नाम और धातु उभयरूप माना जाता था।

(८) किन्हीं शब्द विशेषों के लिए वर्तमान वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति' परिभाषा भी वाच् स्रुच् आदि शब्दों के नाम और धातु उभयविध स्वरूप को प्रकट कर रही है।

(९) शब्द विशेषों की निष्पत्ति के लिए पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत, परस्पर विरुद्ध—'पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन' पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण'—परिभाषाएँ प्राचीनकाल की भाषाशास्त्र की उस महत्त्वपूर्ण स्थिति की ओर संकेत करती हैं, जब, आज उपसर्ग नाम से अभिहित अंश अनेक मूल शब्दों (धातुओं) का अवयव था, और कई एक शब्दों में पीछे से संयुक्त किया जाता था।

इस सारी विवेचना से स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल में मूल भूत एक ही प्रकार के शब्द थे। उन्हीं से आख्यात विभक्तियाँ जुड़ कर आख्यात—क्रिया के रूप बन जाते थे और नाम विभक्तियाँ जुड़कर 'नामिक' रूप। उभयविध विभक्तियों का योग न होने पर वे ही अव्यय नाम से व्यवहृत होते थे। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषाशास्त्र की इस अति प्राचीन काल की स्थिति का अत्यधिक महत्त्व है।

बीसवाँ अध्याय

धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता (१)

पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य

पहिले कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में सम्पूर्ण शब्द धातुज माने जाते थे। जिस काल में शब्दों का एक बड़ा भाग रूढ़ मान लिया गया उस समय भी नैरुक्त आचार्य और वैयाकरण शाकटायन सम्पूर्ण नाम शब्दों को आख्यातज ही मानते थे। इसलिए तात्कालिक वैयाकरणों ने रूढ़ माने जाने वाले वृक्ष आदि शब्दों का यौगिकत्व दर्शाने के लिए उणादि-पाठ का खिल-रूप से प्रवचन किया। अतः नाम चाहे यौगिक हों, योगरूढ़ हों अथवा रूढ़, उनके प्रकृति अंश की कल्पना के लिए किन्हीं वर्ण समूहों को प्रकृति रूप से पृथक् संगृहीत करना ही पड़ेगा। उसके बिना प्रत्ययांश का निर्देश अथवा विभाजन सर्वथा असम्भव है। अतएव वैयाकरणों ने अपने-अपने शब्दानुशासन से संबद्ध धातुओं का खिलपाठ में संग्रह किया। यही संग्रह वैयाकरण निकाय में 'धातु-पाठ' के नाम से व्यवहृत होता है।

इन्द्र और वायु

द्वितीय अध्याय में 'व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति' प्रसंग में कहा जा चुका है कि इन्द्र ने सर्वप्रथम 'वायु' की सहायता से प्रकृति-प्रत्यय विभाग कर शब्दोपदेश की प्रक्रिया की कल्पना की। अतः इन दोनों आचार्यों का धातु-प्रवक्तृत्व स्वतः सिद्ध है। किन्तु इनके द्वारा प्रकल्पित धातुओं का क्या स्वरूप था, यह इस समय अज्ञात है।

फिर भी इन्द्र को धातुपाठ का प्रवक्ता हम निस्सन्देह कह सकते हैं। पाणिनीय प्रत्याहार सूत्रों पर नन्दिकेश्वर विरचित काशिका (श्लोक २) की उपमन्युकृत तत्त्वविमर्शिनी टीका में लिखा है—

तथा चोक्तमिन्द्रेण—

अन्त्यवर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः।

भागुरि

आचार्य भागुरि के श्लोकबद्ध व्याकरण के उपलब्ध श्लोकों में दो श्लोक ऐसे हैं जिनमें अनेक धातुओं का उल्लेख मिलता है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

गुपूधूपविच्छिपणिपनेरायः कमेस्तु णिङ्।
ऋतेरियङ् चतुर्लेषु नित्यं स्वार्थे परत्र वा॥
इति भागुरिस्मृतेः।

गुपो वधेश्च निन्दायां क्षमायां तया तिजः।
प्रतीकाराद्यर्थकाच्च कितः स्वार्थे सनो विधिः॥
इति भागुरिस्मृतेः।

अतः भागुरि आचार्य ने निस्सन्देह स्वीय धातुपाठ का प्रवचन किया था।

काशकृत्स्न

पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य काशकृत्स्न का सम्पूर्ण धातुपाठ चन्नवीर कृत कन्नड टीका सहित कन्नड लिपि में प्रकाशित हो चुका है।

काशकृत्स्न धातुपाठ की विशेषता

१. इस धातु पाठ में नौ ही गण हैं। जुहोत्यादिगण को अदादिगण के अन्तर्गत कर दिया गया है।

२. इस धातु पाठ के प्रत्येक गण में पहले सभी परस्मैपदी, तत्पश्चात् आत्मनेपदी और अन्त में उभयपदी पढ़ी हैं।

३. इस धातुपाठ के भ्वादिगण में पाणिनीय धातुपाठ से ४५० धातुएँ संख्या में अधिक हैं। जो धातुएँ इसी धातुपाठ में उपलब्ध हैं, पाणिनीय में नहीं पठित हैं ऐसी धातुओं की संख्या ८०० है। किन्तु पाणिनीय धातु पाठ की भी बहुत-सी धातुएँ 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में नहीं हैं। अतः संख्या की दृष्टि से कुल ४५० धातुएँ पाणिनीय धातुपाठ की अपेक्षा अधिक हैं।

४. पाणिनीय धातुपाठ में एक विध पढ़ी गयी बहुत-सी धातुएँ 'काशकृत्स्नधातुपाठ' में द रूपों से पठित हैं। यथा—

(क) पाणिनीय धातुपाठ में पठित **ईड स्तुतौ** धातु 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में **ईड ईल** स्तुतौ पढ़ी हैं। फलतः इडा इला आदि की सिद्धि के लिए 'डलयोरेकत्वम्' नियम की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

(ख) **बृहि वृद्धौ** इस धातु की समानार्थक **ब्रह्** धातु भी 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में पठित है। फलतः ब्रह् धातु से सामान्य सूत्र विहित मनिन् प्रत्यय से ही 'ब्रह्मन्' शब्द निष्पन्न हो जाता है। उसके लिए 'बृंहेर्नोऽच्च' सूत्र द्वारा नकार को अकारादेश और ऋ को रेफादेश करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार **पृथु व्याप्तौ** स्वतन्त्र धातु पठित होने से **पृथु, पृथिवी** आदि शब्दों की सिद्धि के लिए प्रथ को सम्प्रसारणादेश करने की आवश्यकता नहीं रहती।

(ग) सिंह सिंहिका आदि शब्दों की मूल प्रकृति **षिहिहिंसायाम्** धातु काशकृत्स्नधातुपाठ में पठित है। इसलिए हिंसि=हिंस में वर्णव्यत्यय मानकर निर्वचन दिखाने की आवश्यकता नहीं रहती।

५. पाणिनि द्वारा अपठित किन्तु लोक वेद में उपलभ्यमान बहुत-सी धातुएँ 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में उपलब्ध होती हैं। यथा—

(क) अथर्व की प्रकृति 'थर्व' धातु हिंसार्थ में पठित है।

(ख) हिन्दी में प्रयुक्त 'ढूंढना' क्रिया की मूल प्रकृति 'ढुढि' (=ढुण्ढ) धातु का पाठ काशकृत्स्नधातुपाठ में उपलब्ध होता है।

इस धातु का निर्देश स्कन्दपुराण काशी खण्ड से भी मिलता है—

अन्वेषणे ढुण्ढिरयं प्रथितोऽस्ति धातुः।
सर्वार्थढुण्ढितया तव ढुण्ढिनाम ॥

(ग) वेद में **मरति** आदि भौवादिक प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में प्रयुज्यमान **'मरता है'** भी **मरति** का अपभ्रंश है, **म्रियते** का नहीं। 'काशकृत्स्नधातुपाठ' में **'मृ'** धातु भ्वादिगण में भी पठित है।

६. पाणिनि ने जिन धातुओं को परस्मैपदी अथवा आत्मने पदी पढ़ा है उनमें से बहुत-सी धातुओं को काशकृत्स्न ने उभयपदी पढ़ा है। यथा—

(क) पाणिनि ने **वद** धातु का परस्मैपद में पाठ करके 'भासन' आदि अर्थों में आत्मने पद का विधान किया है। काशकृत्स्न ने इसे उभयपदियों में पढ़ा है। तदनुसार **वदति वदते** दोनों प्रयोग भासनादि अर्थों से अतिरिक्त भी सामान्यतया उपपन्न हो जाते हैं। महाभारत में वद के आत्मनेपद प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं। उन्हें **आर्षत्वात् साधु** मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

(ख) पाणिनि द्वारा परस्मैपदियों में पठित **वसनिवासे टुओश्वि गति वृद्धयोः** धातुएँ भी 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में उभयपदी मानी गयी हैं।

७. काशकृत्स्न धातुपाठ में कई ऐसी मूल प्रकृतियाँ पढ़ी हैं जिनसे निष्पन्न शब्दों में पाणिनीय प्रक्रिया के समान लोप, आगम, वर्ण विकार आदि नहीं करने पड़ते । यथा—

(क) 'नौ' शब्द की सिद्धि पाणिनीय वैयाकरण 'ग्लानुदिभ्यां डौः' सूत्र से बनाते हैं । प्रत्यय के 'डित्' होने से 'नुद्' के 'उद्' का लोप होता है। परन्तु 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में 'णौ प्लवने' स्वतन्त्र धातु पठित है। उससे क्विप् प्रत्यय होकर बिना किसी झंझट के 'नौ' शब्द निष्पन्न हो जाता है।

(ख) 'क्ष्मा' पद की सिद्धि के लिए 'क्षमूष्' धातु के उपधा का लोप करना पड़ता है। परन्तु काशकृत्स्न धातुपाठ में **'क्ष्मै धारणे'** स्वतन्त्र धातु पढ़ी है। उससे एजन्तों को सामान्य विहित आत्व होकर क्विप् प्रत्यय में 'क्ष्मा' पद अनायास उपपन्न हो जाता है।

काशकृत्स्न धातुपाठ का उत्तरकालीन तन्त्रों पर प्रभाव

काकृत्स्न धातुपाठ का उत्तरकालीन तन्त्रों पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। कातन्त्रीय धातुपाठ तो काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षिप्त संस्करण ही है । हैमधातुपाठ और चान्द्रधातुपाठ पर भी उसका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

१. जैसे काशकृत्स्न धातुपाठ में जुहोत्यादिगण को अदादि गण के अन्तर्गत पढ़ने से कुल ६ गण हैं ऐसा ही 'हैमधातुपाठ' मिलता है।

२. जैसे काशकृत्स्न धातुपाठ में प्रत्येक गण में पहिले परस्मैपदी, तत्पश्चात् आत्मनेपदी और अन्त में उभयपदी पढ़ी हैं यही क्रम हैमधातुपाठ और चान्द्रपाठ में भी मिलता है।

काशकृत्स्न धातुपाठ की प्रामाणिकता

१. बौद्धवैयाकरण चन्द्रगोमी का शब्दानुशासन प्रसिद्ध है । चन्द्रगोमी सूत्रपाठ में प्रायः पाणिनीय सूत्रपाठ तथा वार्तिकपाठ का अनुसरण करता है किन्तु धातुपाठ में काशकृत्स्न धातुपाठ का प्रधानतया अनुसरण करता है। आचार्य ने भी धातुपाठ में प्रतिगण प्रथम परस्मैपदी, तत आत्मनेपदी और अन्त में उभयपदी धातुएँ पढ़ी हैं। इससे स्पष्ट है की काशकृत्स्न धातुपाठ चन्द्रगोमी से पूर्व निश्चित रूप से विद्यमान था।

२. काशकृत्स्न और कातन्त्र के धातुपाठों की परस्पर तुलना से स्पष्ट है कि कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप है जहाँ चन्द्रगोमी काश-

कृत्स्न क्रम को छोड़ कर पाणिनीयक्रम का अनुसरण करता है वहाँ कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ के क्रम का अनुसरण करता है।

३. पाणिनि ने जिन धातुओं को छान्दस माना है, उन्हें काशकृत्स्न धातुपाठ में अन्य सामान्य धातुओं के समान पढ़ा है। इससे विदित होता है कि काशकृत्स्न धातुपाठ का वह काल है जब उक्त धातुएँ लोक में व्यवहृत थीं। अतः काशकृत्स्न धातुपाठ पाणिनि से पूर्ववर्ती है।

४. काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों में उदात्त आदि स्वर की निष्पत्ति के लिए अनुबन्धों का पूर्ण ध्यान रखा गया है, उसी प्रकार तनद् विकरणों के अन् आदि अनुबन्धों में भी स्वर का ध्यान रखा गया है। इससे विदित होता है कि काशकृत्स्न शब्दानुशासन और धातुपाठ के प्रवचन का वह काल है जब लोक-भाषा में स्वर- निर्देश का प्रचलन था।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि काशकृत्स्न धातुपाठ आचार्य पाणिनि, चन्द्रगोमी और कातन्त्र प्रवक्ता से प्राचीन है। अतः इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह करना दुःसाहस मात्र होगा।

व्याख्याकार चन्नवीर कवि

काशकृत्स्न धातुपाठ पर चन्नवीरकविकृत कन्नड भाषा में टीका प्रकाशित हो चुका है। टीकाकार ने प्रत्येक गण के अन्त में परिचय दिया है। तदनुसार टीकाकार का पूरा नाम काशीकाण्ड चन्नवीर कवि था। यह अत्रिगोत्रोत्पन्न तैत्तिरीयशाखा का अध्येता और सह्याद्री मण्डलवर्ती कुण्टिकापुर का निवासी था। ग्रन्थ के सम्पादक ने श्री आर० नरसिंहाचार्य के मतानुसार चन्नवीर कवि का काल १५०० लिखा है।

टीका का वैशिष्टय

यह टीका अत्यन्त संक्षिप्त है, फिर भी किसी प्राचीन व्याख्या पर आधृत होने से इसमें अनेक विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। यथा—

१. इस टीका में काशकृत्स्न व्याकरण के १३७ सूत्र उद्धृत हैं।

२. इसी टीका में 'चौर्यम्' आदि अनेक ऐसे कृदन्त शब्दों का निर्देश किया गया है जिन्हें पाणिनीय वैयाकरण तद्धितान्त मानते हैं।

३. बहुत से ऐसे प्रत्यय जिन्हें पाणिनि कुछ विशिष्ट धातुओं से विहित मानते हैं इस टीका के अनुसार 'सामान्य' रूप में सभी धातुओं से विहित होते हैं। यथा—

रभ—रभ्यम्, राभ्यम्। (यत्, ण्यत्)
लभ—लभ्यम्, लाभ्यम् (यत्, ण्यत्)
रुच—रुच्यम्, रोच्यम्। (क्यप्, ण्यत्)
भिद—भेद्यम्, भैद्यम्। (यत्, ण्यत्)
पुठ—पुठ्यम्, पोठ्यम्, पौठ्यम्। (क्यप्, यत्, ण्यत्)

४. इस टीका में अनेक धातुओं के अर्थों की ऐसी व्याख्या की है जो अन्य धातुवृत्तियों में उपलब्ध नहीं होती।

५. शाकटायन

आचार्य शाकटायन उन प्रसिद्ध वैयाकरणों में हैं जो स्वकालीन वैयाकरण-निकाय की परवाह न कर नैरुक्त आचार्यों के स्वर में स्वर मिला कर मुक्त कण्ठ से सम्पूर्ण नाम शब्दों को धातुज मानते थे। किन्तु कहीं भी शाकटायन-प्रोक्त धातुपाठ का साक्षात् उद्धरण नहीं मिलता, यह आश्चर्यका विषय है। यास्क ने निरुक्त में और पतञ्जलि ने महाभाष्य में जिस वैयाकरण मूर्धन्य शाकटायन को सम्पूर्ण नाम शब्दों को आख्यातज मानने वाला कहा है, वह धातुपाठ प्रवचन न करे, इस पर विश्वास नहीं होता। क्योंकि विना धातु-पाठ का प्रवचन किये वह सम्पूर्ण नाम शब्दों के धातुजत्व का प्रतिपादन करने में कभी समर्थ न होता। अतः यह मानना पड़ेगा कि आचार्य शाकटायन ने किसी बृहत् धातुपाठ का प्रवचन भी किया जो पाणिनीय धातुपाठ से अधिक विस्तृत रहा होगा।

आपिशलि

यद्यपि आचार्य आपिशलि का धातुपाठ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है तथापि उसके उद्धरण अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यथा—

१. महाभाष्य (१।३।२२) में निम्न उदाहरण है—

'अस्ति सकारमातिष्ठते। आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते'।

ये उदाहरण काशिका (१।३।२२) में भी उपलब्ध होते हैं।

जिनेन्द्रबुद्धि ने इसे यों स्पष्ट किया है—

सकारमात्रमस्तिधातुमापिशलिराचार्यः प्रतिजानीते। तथाहि न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गणपाठः। किं तर्हि ? 'स भुवि' इति स पठति। आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठत इति। स त्वागमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते। एवं हि स प्रतिजानीते इत्यर्थः।

अर्थात्—आपिशलि आचार्य 'अस्' को 'स' मात्र स्वीकार करता है। उसका पाणिनि के समान 'अस भुवि' पाठ नहीं है, अपितु 'स भुवि' ऐसा वह पढ़ता है। [अस्ति आदि में] गुण (=अट्) और [आसीत् आदि में] वृद्धि (=आट्) का आगम मानता है। इस प्रकार वह [रूपसिद्धि] स्वीकार करता है।

काशिका के उक्त पाठ पर हरदत्त भी लिखता है—

'स्तः सन्तीत्यादौ सकारमात्रस्य दर्शनात् 'स भुवि' इत्येव धातुः पाठ्यः। आस्तीत्यादौ पिति सार्वधातुके अडागमो विधेयः। आस्तामासन्नित्यादौ आडागमः स्याद् इत्यापिशला मन्यन्ते।'

१. स्कन्द स्वामी निरुक्तव्याख्या में लिखता है—

'उषिजिघर्ती छान्दसौ धातू व्याकरणस्य शाखान्तर आपिशलादौ स्मरणात्'।

अर्थात्—'उष्' और 'घृ' ये छान्दस धातुएँ हैं। ऐसा व्याकरणशास्त्र के शाखान्तर आपिशल आदि में स्मृत है।

३. वामन काशिका (७।१।१०) में अनिट् कारिका की व्याख्या में लिखता है—

(क) इतरौ (रिहिलिही) तु धातुषु न पठ्येते, कैश्चिदभ्युपगम्येते'।

इसे न्यासकार स्पष्ट करता है—

'कैश्चिदिति—आपिशलिप्रभृतिभिरिति।'

(ख) 'तन्त्रान्तरे चत्वारोऽपरे पठ्यन्ते—सहिमुहिरिहिलिहयः।'

इसे न्यासकार स्पष्ट करता है—

'तन्त्रान्तर इति—आपिशलेर्व्याकरणे।'

(ग) तथा च तन्त्रान्तरे निजिविजिष्वञ्जिवर्जम् इत्युक्तम्।'

यहाँ भी न्यासकार लिखता है—

'तन्त्रान्तर इति आपिशलि व्याकरणे।'

४. पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता मैत्रेयरक्षित (धातुप्रदीप, पृष्ठ ८० में) 'तु' धातु के विषय में लिखता है—

'छान्दसोऽयमित्यापिशलिः'।

इन उद्धरणों से निष्कर्ष निकलता है कि—

(१) आपिशलि ने कोई धातुपाठ अवश्य रचा था।

(२) इसमें कई धातुओं का स्वरूप पाणिनीय से भिन्न था।

(३) धातु के स्वरूप में भिन्नता होने से आपिशलव्याकरण की प्रक्रिया में भी कुछ भेद था।

(४) आपिशल धातुपाठ में पाणिनीय धातुपाठ के समान छान्दस धातुओं का भी पाठ था।

(५) अनेक धातुएँ पाणिनीय धातुपाठ से अधिक थीं।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्मृत दस प्राचीन आचार्यों में आपिशलि ही ऐसे हैं जिनका धातुपाठ प्रवक्तृत्व प्राचीन ग्रन्थों में साक्षात् निर्दिष्ट है।

इन्द्र, वायु, भागुरि, शाकटायन, आपिशलि का धातुप्रवक्तृत्व तो सिद्ध है किन्तु सम्प्रति उनमें से किसी का धातुपाठ इस समय उपलब्ध नहीं है। एक काशकृत्स्न ही ऐसे पाणिनिपूर्ववर्ती आचार्य हैं जिनका सम्पूर्ण धातुपाठ हमारे सौभाग्य से उपलब्ध है।

इक्कीसवाँ अध्याय

धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता (२)

(पाणिनि तथा तत्प्रोक्त धातुपाठ के वृत्तिकार)

पाणिनि—सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में आचार्य पणिनि का शब्दानुशासन ही एक मात्र ऐसा आर्षतन्त्र है जो अपने पाँचों अवयवों सहित उपलब्ध है। इसलिए पाणिनीय तन्त्र का महत्त्व अत्यधिक है।

पाणिनि ने अपने शव्दानुशासन की कृत्स्नता के लिए स्वप्रोक्त धातुपाठ के अनुकूल ही सूत्रपाठ का प्रवचन किया, यह दोनों की तुलना से स्पष्ट होता है। पाणिनीय वैयाकरणों में जिस धातुपाठ का पठन-पठन प्रचलित है, उसे प्रायः सभी वैयाकरण पाणिनि प्रोक्त मानते हैं।

न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि और पाणिनीय धातुपाठ

पाणिनीय वैयाकरणों में काशिका का व्याख्याता जिनेन्द्रबुद्धि ही एक ऐसा है जो धातुपाठ को पाणिनि प्रोक्त नहीं मानता। उसने लिखा है—

१. 'प्रतिपादितं हि पूर्वं गणकारः पाणिनिर्न भवतीति। तथा चान्यो गणकारोऽन्यश्च सूत्रकारः।' ७।४।३, भाग २, पृष्ठ ७४०।

अर्थात् पहिले प्रतिपादन कर चुके हैं कि गणकार (= धातुगणकार) पाणिनि नहीं हैं। गणकार (=धातु पाठ-प्रवक्ता) अन्य है और सूत्रकार अन्य।

१. 'यद्यत्र त्रिग्रहणं क्रियते निजादीनामन्ते वृत्करणं किमर्थम्?' एतत् गणकारः प्रष्टव्यः, न सूत्रकारः। अन्यो हि गणकारोऽन्यश्च सूत्रकार इत्युक्तं प्राक्।' ७।४।७५: भाग २, पृ० ८७३।

यदि यहाँ (णिजां त्रयाणां, गुणः श्लौ। ७।४।७५ सूत्र में 'त्रि' ग्रहण किया है तो [धातु पाठ में] णिजादियों के अन्त में [समाप्त्यर्थ द्योतक] वृत्करण का क्या प्रयोजन है? [उत्तर—] यह गणकार (=धातुपाठकार) से पूछना चाहिए, सूत्रकार से नहीं। अन्य ही गणकार है, अन्य सूत्रकार, यह पहले कह चुके हैं।

यहां स्पष्ट ही न्यासकार ने पाणिनि के धातुपाठ-प्रवक्तृत्व का प्रत्याख्यान किया है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि 'गणकार' शब्दान्तर्गत 'गण' से न्यासकार की सामान्यतया धातुगण और प्रातिपदिकगण दोनों अभिप्रेत है।

किन्तु यही न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि धातुपाठ को पाणिनि का प्रवचन भी स्वीकार करता है—

न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गण पाठः।'

अर्थात् उस (आपिशलि) का, पाणिनि के समान 'अस भुवि' ऐसा गण (=धातुगण=धातुपाठ) का पाठ नहीं है।

इस उद्धरण में न्यासकार पाणिनि को भी आपिशलि के समान ही गणकार (धातुपाठ प्रवक्ता) स्वीकार करता है। अतः न्यायशस्त्रानुसार इस स्ववचनविरोध के कारण उसका वचन किसी तत्त्व के निर्णय में प्रमाण नहीं हो सकता।

धातुपाठ के पाणिनीयत्व में प्रमाण

१. पाणिनि ने अपने अनेक सूत्रों में धातुपाठ के अन्तर्गत धात्वनुपूर्वी को ध्यान में रखकर तत्कार्यों का विधान किया है। यथा—

पुषादिद्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५), किरश्च पञ्चभ्यः (७।२।७५), शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७।३।७४)।

इसी प्रकार धातुपाठस्थ धात्वनुबन्धों के द्वारा अपने शब्दानुशासन में अनेक कार्य दर्शाए हैं। यथा—

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२); स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२), ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८), ट्वितोऽथुच् (३।३।८९)

इससे स्पष्ट है कि सूत्रपाठ से पूर्व सर्वादि प्रातिपदिकगण के प्रवचन के समान पाणिनि ने सूत्रपाठ से पूर्व धातुपाठ का भी प्रवचन किया था क्योंकि धातुपाठ और तत्संबद्ध अनुबन्धों का पूर्व प्रवचन किये विना, सूत्रपाठ का प्रवचन किसी भी तरह नहीं हो सकता।

महाभाष्यकार पतञ्जलि, पदमञ्जरीकार हरदत्त अदि के अनेक वचन पाणिनि के धातुपाठ-प्रवक्तृत्व को सिद्ध करते हैं।

क्या धात्वर्थ-निर्देश अपाणिनीय है ?

जो वैयाकरण धातुपाठ को पाणिनीय मानते हैं, वे भी धात्वर्थ निर्देश के विषय में विरुद्ध मत रखते हैं। कई वैयाकरण धात्वर्थनिर्देशों को अपाणिनीय कहते हैं, कतिपय उन्हें पाणिनीय मानते हैं।

अपाणिनीयत्व-प्रतिपादक प्रमाण

१. 'परिमाणग्रहणं च कर्तव्यम् । इयानवधिर्धातुसंज्ञो भवति इति वक्तव्यम् । कुतो ह्येतद् भूशब्दो धातुसंज्ञो भवति, न पुनर्भ्वेधशब्दः ? (महाभाष्य १।३।१ ॥)

अर्थात्—[धातुसंज्ञाविधायक प्रकरण में] परिमाण का ग्रहण भी करना चाहिए । इतनी अवधि वाला शब्द धातुसंज्ञक होता है, ऐसा कहना चाहिए । किस हेतु से यह 'भू' शब्द धातुसंज्ञक होता हैं, 'भ्वेध' शब्द धातु-संज्ञक क्यों नहीं होता ?

इस उद्धरण में महाभाष्यकार ने परिमाण ग्रहण के अभाव में 'भ्वेध' शब्द की धातुसंज्ञा की प्रसक्ति दर्शायी है । यह प्रसक्ति तभी उपपन्न होती है, जब धातुपाठ में अर्थनिर्देश न हो, केवल धातुएँ **'भ्वेधस्पर्ध'** इस प्रकार संहिता पाठ से पठित हों । इसी लिए कैयट ने उक्त पाठ की व्याख्या में लिखा है—

न चार्थपाठः परिच्छेदकः, तस्यापाणिनीयत्वात्, अभियुक्तैरुप-लक्षणतयोक्तत्वात् इति ।'

अर्थात्—[सत्तायाम् आदि] अर्थ का पाठ धातुसंज्ञा का परिच्छेदक नहीं होगा, उसके अपाणिनीय होने से । प्रामाणिक पुरुषों ने अर्थ-निर्देश उपलक्षण रूप से पढ़े हैं ।

इसकी व्याख्या करते हुए नागेश ने लिखा है—

'भीमसेनेनेत्यैतिह्यम् ' ।

अर्थात् अर्थ-निर्देश भीमसेन ने किया है, यह इतिहास से विदित होता है ।

२. 'पाठेन धातुसंज्ञायां समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः । 'या' इति धातुः । 'या' इत्याबन्तः । 'वा' इति धातुः, 'वा' इति निपातः । 'नु' इति धातुः, 'नु' इति प्रत्ययः । 'दिव' इति धातुः 'दिव' इति प्रातिपदिकम् ।

अर्थात् पाठ से धातुसंज्ञा मानने पर भी उसके तुल्य-शब्दों का प्रतिषेध कहना चाहिए । 'या' यह धातु है, 'या' ऐसा आबन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द भी है । इसी प्रकार आगे भी समझ लिया जाय ।

इस भाष्यपाठ से यही प्रतीत होता है कि पाणिनि ने धात्वर्थनिर्देश नहीं किया था । धात्वर्थ निर्देश होने पर आबन्त 'या' निपात 'वा' और प्राति-

पदिक 'दिव' की धातु संज्ञा प्राप्त ही न होती, फिर प्रतिषेध की क्या आवश्यकता होती।

३. (क) न ह्यर्था आदिश्यन्ते, क्रियावचनता च गम्यते। (महा० ३।१।८,११,१९ ॥)

(ख) कः खल्वपि पचादीनां क्रियावचनत्वे यत्नं करोति। (महा० ३।१।१९ ॥)

(ग) को हि नाम समर्थो धातुप्रतिपदिकप्रत्ययनिपातानामर्थानामादेष्टुम्। (महा० २।१।१)

इन वचनों से भी यही ध्वनित होता है कि पाणिनि ने धात्वर्थ-निर्देश नहीं किया था।

४. शब्दकौस्तुभ (१।३।१) में भट्टोजिदीक्षित धात्वर्थ-निर्देष को अपाणिनिय मानते हैं—

"न च 'या प्रापणे' इत्याद्यर्थनिर्देशोनियामकः, तस्यापाणिनीयत्वात्। भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिक्षुरिति स्मर्यते। पाणिनिस्तु 'ञ्वेध' इत्याद्यपाठीत् इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्।"

५. शब्दकौस्तुभ १।२।२० में पुनः दीक्षित लिखते हैं—

'तितिक्षाग्रहणं ज्ञापकं भीमसेनादिकृतोऽर्थनिर्देश उदाहरणमात्रम्।'

इन प्रमाणें से स्पष्ट है कि पाणिनीय धातुपाठ में जो अर्थ निर्देश उपलब्ध होता है। वह अपाणिनीय है। पाणिनि ने तो ञ्वेधस्पर्श इस प्रकार अर्थनिर्देशरहित संहितापाठ का ही प्रवचन किया था।

पाणिनीयत्व-प्रतिपादक प्रमाण

१. महाभाष्य में अनेक धातुएँ अर्थनिर्देशपूर्वक उद्धृत हैं। अतः विदित होता है कि महाभाष्य से पूर्व ही पाणिनीय धातुपाठ में अर्थ-निर्देश विद्यमान था।

२. 'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नैवं जातीयकानामिद्विधिर्भवतीति यदयमिरितः कांश्चिन्नुमनुषक्तान् पठति—उबुन्दिर् निशामने, स्कन्दिर् गतिशोषणयोरिति। (महाभाष्य १।३।७)

जिस पाणिनि आचार्य उबुन्दिर् और स्कन्दिर् को नुम् से युक्त पढ़ा, उसी ने इनके 'निशामन' और 'गतिशोषण' अर्थों का भी निर्देश किया, यह इस वचन से स्पष्ट है।

३. महाभाष्यकार ने भूवादयो धातवः (१।३।१) सूत्र के भाष्य में लिखा है—

'वपिः प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्तते—केशश्मश्रु वपतीति। ईडिः स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्टः, प्रेरणे चापि वर्तते—अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति इति। करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्तते—पुष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते।'

इस वचन में महाभाष्यकार ने वप-ईड-कृ धातुओं के कपितय अर्थों को दृष्ट कहा है अर्थात् वे अर्थ धातुपाठ में पठित हैं अथवा देखे गये हैं; और कतिपय अर्थों में इनका **वर्तन** (= व्यवहार) बताया है अर्थात् वे अर्थ लोक-व्यवहृत हैं।

४. पदमञ्जरीकार हरदत्त धात्वर्थ-निर्देश को पाणिनीय मानता है—

'येषां त्वपाणिनीयोऽर्थनिर्देश इति पक्षः।' भाग २, पृष्ठ ८१३।

यहाँ 'येषां पक्षः' से स्पष्ट है कि वह स्वयम् इस पक्ष को नहीं मानता।

५. धातुवृत्तिकार अनेक स्थानों में धातुसूत्रों के संहितापाठ को प्रामाणिक मान कर उनके विच्छेद में एकमत नहीं दिखायी पड़ते हैं। यथा—

(क) **तपऐश्वर्यवावृतुवरणे** इस पाठ में मध्य में पठ्यमान **वा** पद पूर्व सूत्र का अवयव है अथवा उत्तर सूत्र का, इसमें व्याख्याकारों में मतभेद है। यदि '**वा**' पद पूर्वसूत्र का अवयव है तो भूवादिगण में पठित 'तपसन्तापे' इसी धातु का ऐश्वर्य अर्थ में विकल्प से दैवादिकत्व होगा अर्थात् ऐश्वर्य अर्थ में विकल्प से श्यन् होगा। यदि '**वा**' पद उत्तर सूत्र का अवयव है तो भी दो व्याख्याएँ होंगी। 'वा' पृथक् स्वतन्त्र पद मानने पर भ्वादि में पठित 'वृतु' धातु का वरण अर्थ में विकल्प से दैवादिकत्व होगा अर्थात् वृतु से वरण अर्थ में विकल्प से श्यन् होगा। 'वा' को पृथक् स्वतन्त्र पद न मानने पर 'वावृतु' धातु होगी।

(ख) '**पतगतौवापशअनुपसर्गात्**' इस सूत्र में भी 'वा' पद को लेकर व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। कुछ व्याख्याकार 'वा' को सूत्र का अवयव मानकर 'पत्' धातु से विकल्प से णिच् होता है, ऐसी व्याख्या करते हैं। अन्य व्याख्याकार उत्तर सूत्र का अवयव मानकर 'वा' को स्वतन्त्र पद मानते हुए 'पश' धातु अनुपसर्ग से णिच् परे विकल्प से अदन्त है, ऐसी व्याख्या करते हैं। इसी पक्ष में जो 'वा' को स्वतन्त्र पद नहीं मानते वे 'वापश' धातु स्वीकार करते हैं।

उपरिनिर्दिष्ट प्रकार की समस्त व्याख्याएँ धात्वर्थनिर्देशों को पाणिनीय मानकर ही उपपन्न हो सकती हैं। यदि **श्वेधस्पर्श** के समान उपर्युक्त स्थलों में भी अर्थ-निर्देश-विरहित संहितापाठ (**'तपवावृतु'**, 'पतवापश' ऐसा) होता तो वावृतु तथा वापश धातुओं के स्वरूप में सन्देह ही न उत्पन्न होता। यदि होता भी तो **तप वावृतु, तपवा वृतु; पत वापश, पतवा पश** ऐसा सन्देह होता। वृत्तिकारों द्वारा निर्दिष्ट व्याख्या-भेद तो विना धात्वर्थ निर्देश के सम्भव ही नहीं है।

सायणाचार्य को 'तपऐश्वर्ये वा वृतुवरणे' तथा 'तप ऐश्वर्ये वावृतुवरणे दोनों प्रकार का सूत्रविच्छेद मान्य है अर्थात् उसे धात्वर्थ निर्देश का पाणिनीयत्व मान्य है—

'अस्माकं तूभयमपि प्रमाणमाचार्येणोभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात्।'

६. यदि पाणिनीय धातुपाठ में अर्थनिर्देश अपाणिनीय हो तो कई प्रघट्टकों में अथवा दण्डकों में एक ही धातु का दो बार पाठ नहीं होना चाहिए। धातु के स्वरूप-निर्देश के लिए एक धातु का एक स्थान पर पाठ पर्याप्त है। किन्तु धातुपाठ में समान प्रघट्टक में एक ही धातु का दो-दो बार पाठ बहुत उपलब्ध होता है। यथा—

(क) अट्टादि में हुडि का—**हुडि संघाते, हुडि वरणे।**

(ख) शौट्टादि में किट का—**किट खिट त्रासे, इट किट कटी गतौ।**

इस प्रकार के और अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यह द्विः पाठ तभी सम्भव है जब धातुपाठ का प्रवचन धात्वर्थ निर्देश पूर्वक हो, अन्यथा नहीं।

७. इसी प्रकार धात्वर्थनिर्देश को अपाणिनीय मानने पर समानार्थक धातुओं में पठित धातु का पुनः अन्यार्थ-निर्देश के लिए स्वतन्त्र पाठ नहीं हो सकता। यथा—

(क) **रघि लघि गत्यर्थाः, लघि भोजननिवृत्तावपि**

(ख) **गज गजि······शब्दार्थाः, गज मदने च**

(ग) **तय नय गतौ, तय रक्षणे च**

इस प्रकार का धात्वर्थनिर्देशसमुच्चायक पुनः पाठ भी धात्वर्थनिर्देश के पाणिनीयत्व का ज्ञापन करता है।

उक्त दोनों प्रकार के धातु के पुन: पाठ में 'अर्थ भेद से पुन: पाठ है' ऐसा हेतु व्याख्याकारों ने दिया है। अर्थ-निर्देश के अभाव में न तो यह हेतु बन सकता है और न उसके अभाव में द्विः पाठ किसी तरह सम्भव हो सकता है।

धातुपाठ का द्विविध प्रवचन

धातुपाठ में पठित अर्थनिर्देश पाणिनीय है, अथवा अपाणिनीय इस विवाद का वास्तविक निर्णय यह है कि आचार्य पाणिनि ने धातुपाठ का अर्थनिर्देश युक्त और अर्थनिर्देशरहित दोनों प्रकार का प्रवचन किया था। किन्हीं शिष्यों के लिए अर्थनिर्देश के विना **भ्वेधस्पर्श** इस प्रकार संहितापाठ से प्रवचन किया और किन्हीं के लिए' भूसत्तायाम् उदात्तः एध वृद्धौ' इस प्रकार। इसी कारण महाभाष्य में दोनों प्रकार के निर्देश उपलब्ध होते हैं। प्रथम प्रकार का पाठ **लघुपाठ** है और दूसरे प्रकार का पाठ वृद्धपाठ है।

यह तो प्रसिद्ध ही है कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी का भी द्विविध प्रवचन किया था। वर्तिककार कात्यायन ने अष्टाधायी के लघुपाठ पर वार्तिक रचे। उसी प्रकार वार्तिककार कात्यायन ने धातु पाठ के अर्थरहित लघुपाठ को स्वीकार करके **'परिमाणग्रहणं च'** (महा० १।३।१) वार्तिक की रचना की।

पणिनि ने सूत्र पाठ का प्रवचन करते हुऐ वृद्धपाठ को ध्यान में रखा था। पाणिनि के अनेक नियम धातुपाठ के लघुपाठ के आधार पर उपपन्न ही नहीं हो सकते।

वृद्धपाठ के भी देशभेद से प्राच्य, उदीच्य और दाक्षिणात्य तीन प्रकार के पाठ हैं।

भीमसेन—औत्तरकालिक अनेक पाणिनीय विद्वान् नागेशभट्ट, भट्टोजि दीक्षित, मैत्रेयरक्षित, सिद्धसेन गणी आदि का कथन है कि धातुपाठ में निर्दिष्ट अर्थ भीमसेन नामक किसी वैयाकरण ने पाणिनि के पश्चात् पढ़े है। अब प्राचीन सुदृढ़ प्रमाणों द्वारा धात्वर्थ-निर्देश का पणिनीयत्व सिद्ध हो चुका है अतः उक्त विद्वानों का मत चिन्त्य है। हाँ; उनके कथन से इतना अवश्य विदित होता है कि किसी भीमसेन का पाणिनीय धातुपाठ के साथ कुछ विशिष्ट सम्बन्ध है।

भीमसेन नामक कोई वैयाकरण पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्यता था, सम्भव है, इसी सम्बन्ध के कारण धात्वर्थनिर्देशविषयक पूर्वनिर्दिष्ट भ्रान्ति हुई हो।

इतिहास से अनभिज्ञ कई वैयाकरण नामसादृश्य के कारण धातुवृत्तिकार भीमसेन को पाण्डुपुत्र समझते हैं। यह सर्वथा चिन्त्य है। पाणिनि भारतयुद्ध से लगभग दो सौ वर्ष पीछे हुए, अतः यह भीमसेन, पाण्डुपुत्र नहीं हो सकता।

पाणिनीय धातुपाठ का साम्प्रतिकपाठ

पाणिनीय वैयाकरणों में धातुपाठ का जो पाठ इस समय पठन-पाठन में व्यवहृत हो रहा है वह प्राचीन आर्ष पाठ नहीं है। अपितु सायण द्वारा परिष्कृत पाठ है। सायण ने इस परिष्कार में बड़ी स्वच्छन्दता से कार्य किया है। इसमें तन्त्रान्तर-प्रसिद्ध पचासों धातुओं का प्रक्षेप किया गया है और साथ ही स्वशास्त्रपठित बहुत सी धातुओं का परित्याग भी किया गया।

सायण के पश्चात् भट्टोजि दीक्षित ने भी धातुपाठ में कुछ परिष्कार किया है।

संहितापाठ का प्रामाण्य

प्रायः सभी प्राचीन आर्षग्रन्थों में मन्त्रसंहिता के समान संहितापाठ ही प्रामाणिक माना जाता है। पतञ्जलि आदि आचार्यों ने अष्टाध्यायी के संहितापाठ को ही प्रामाणिक माना है। इसी प्रकार धातुपाठ में भी धातुसूत्रों का संहितापाठ ही प्रामाणिक माना जाता है इसी लिए धातुसूत्रों के विच्छेद में वृत्तिकारों का बहुत मतभेद देखा जाता है।

धातुपाठ के संहितापाठ को प्रामाणिक मान कर वृत्तिकारों ने जो विविध प्रकार का सूत्रविच्छेद दर्शाया है वह पाणिनीय है, ऐसा वैयाकरणों का मत है। इसी लिए सायण लिखता है—

'अस्माकं तूभयमपि प्रमाणम्, आचार्येणोभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात्'।

धातुपाठ सस्वर था

पूर्वकाल में चुरादिगण को छोड़कर शेष ६ गणों का धातुपाठ सस्वर था। चुरादिगण का धातुपाठ स्वरनिर्देश सम्बन्धी कार्य न होने के कारण एकश्रुति था अर्थात् स्वरयुक्त नहीं पढ़ा गया था। धीरे-धीरे उत्तरकाल में धातुपाठ से अनुनासिक चिह्नों के समान उदात्त, अनुदात्तनिर्देशक चिह्न भी समाप्त हो गये। पाणिनि ने इड्विधान के लिए जिन धातुओं का उदात्तत्व इष्ट था, उन्हें उदात्त पढ़ा था और जिनसे इडागम इष्ट नहीं था उन्हें अनुदात्त पढ़ा था। **'एकाच उपदेशे अनुदात्तात्'** आदि सूत्रों में उसी का निर्देश किया गया था।

इसी प्रकार इत्संज्ञा विशिष्ट स्वर भी कोई उदात्त तो कोई अनुदात्त पढ़े गये हैं। उन्हीं का निर्देश पाणिनि ने **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' आदि सूत्रों में किया है।

इसी लिये क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी (१०।१३१) में लिखा है—

'अत एव चुरादि भूतान् स्वरान्वितान् नाकरोत्।'

'क्षीरस्वामी से पूर्ववर्ती काश्यप ने (धातुवृत्ति पृष्ठ ३७० में) लिखा—

'कार्याभावादेकश्रुत्या पठ्यन्ते इति।'

अर्थात् स्वर निर्देश का कार्य न होने से चुरादियों को एकश्रुति मे पढ़ा है।

पाणिनीय धातुपाठ का आश्रय प्राचीन धातुपाठ

धातुपाठ पाणिनि का प्रोक्त ग्रन्थ है, कृत ग्रन्थ नहीं। प्रोक्त ग्रन्थ की सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी प्रवक्ता की नहीं होती। वह पूर्वग्रन्थों से ही उपयोगी अंशों को शब्दतः और अर्थतः संग्रह करता है। इस लिए पाणिनि ने सूत्रपाठ की तरह धातुपाठ में भी प्रायः प्राचीन आचार्यों के धातुसूत्रों का ही आश्रयण किया है। यथा—

१. जिस प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्र, आपिशलि, काशकृत्स्न तथा भागुरि आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के सूत्रों से मिलते हैं, पाणिनीय शिक्षा, आपिशल शिक्षा से मिलती है, उसी प्रकार पाणिनि के धातुसूत्र भी क्रम वैपरीत्य होने पर भी काशकृत्स्नधातुसूत्रों से प्रायः अक्षरशः मिलते हैं।

२. जिस प्रकार अष्टाध्यायी में यत्र-तत्र प्राचीन श्लोकवद्ध सूत्र मिलते हैं और 'परिपन्थं च तिष्ठति' सूत्र में चकार का पाठ छन्दोनुरोध से अस्थान में पठित है उसी प्रकार धातुपाठ में भी किसी प्राचीन छन्दोबद्ध धातुपाठ के कतिपय अंश सुरक्षित हैं जिनमें बहुत्र छन्दोनुरोध से चकार का पाठ अस्थान में पठित है। यथा—

चते चदे च याचने। लाज लाजि च भर्त्सने। उपसर्गाच्च दैर्घ्ये, इनमें चकार का छन्दोनुरोध से अस्थान में पाठ है।

चुरादिगण के कुछ सूत्र लीजिए—

रच प्रतियत्ने, कलगतौ संख्याने च, चहकल्कने, महपूजायाम्, शा'र कृप श्रथ दौर्बल्ये।

इनको निम्नरूप से पढ़ने पर ज्ञात होता है कि भुरिक (एकाक्षर अधिक) अनुष्टुप् हैं—

रक्षप्रतियत्ने कल, गतौ संख्याने च चह् ।
कल्कने मह पूजायाम्, क्षार कृप श्रथ दौर्बल्ये ।।

२. पूर्व आचार्यों के अनुरोध से ही पाणिनीय धातुपाठ में अनेकत्र प्रकरण-विरोध उपलब्ध होता है। अर्थात् कहीं-कहीं अनुदात्तों के मध्य में उदात्त, और उदात्तों के मध्य में अनुदात्त धातुओं का पाठ उपलब्ध होता है।

पाणिनीय और काशकृत्स्नीय दोनों धातुपाठों में चवर्गान्त उदात्तधातुओं के मध्य में इकारान्त अनुदात्त क्षि धातु का पाठ उपलब्ध होता है।

इससे स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपने धातुपाठ में पूर्वाचार्यों के धातुपाठ का पर्याप्त आश्रय लिया है।

श्लोकबद्ध धातुपाठ

पाणिनीय धातुपाठ में यत्र-तत्र प्राचीन छन्दोबद्ध सूत्रों के सद्भाव से विदित होता है कि पाणिनि से पूर्व किसी आचार्य का **श्लोकबद्ध धातुपाठ** भी विद्यमान था। लीलाशुकमुनिकृत 'पुरुषकार' और देवराजयज्वाविरचित 'निघण्टुव्याख्या' में श्लोकबद्ध धातुपाठ के कतिपय वचन उपलब्ध होते हैं जिससे विदित होता है कि उनके समय में कोई श्लोकबद्ध धातुपाठ भी विद्यमान था।

धातुपाठ से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ

धातुपाठ से सम्बद्ध कतिपय अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं। उनमें बहुतों का सम्बन्ध पाणिनीय धातुपाठ से प्रतीत होता है। वे ग्रन्थ निम्न लिखित हैं—

१. **आख्यातनिघण्टु**। २. **आख्यातचन्द्रिका** (भट्टमल्लकृत)। ३. **कविरहस्य** (हलायुधकृत)। ४. विजयानन्द कृत **क्रियाकलाप**। कहीं-कहीं ग्रन्थकार का नाम 'विद्यानन्द' भी मिलता है। ५. **क्रियापर्यायदीपिका** (वीर पाण्ड्यकृत)। ६. **क्रियाकोश** (विश्वनाथ सूनुरामचन्द्रकृत)। ७. **प्रयुक्ताख्यातमञ्जरी** (कवि सारङ्गकृत)। ८. **क्रियारत्नसमुच्चय** (गुणरत्नसूरिकृत)। ९. **धातुरूपभेद** (दशवल अथवा वरदराज कृत)। १०. धातुसंग्रह। ११. **ओष्ठ्यकारिका**। १२. **अनिट्कारिका**।

धातुपाठ के व्याख्याता

पाणिनीय धातुपाठ पर पाणिनि के प्रवचनकाल से लेकर आज तक अनेक आचार्यों ने व्याख्याएँ लिखीं किन्तु सम्प्रति उनमें से कतिपय व्याख्या-ग्रन्थ ही उपलब्ध अथवा ज्ञात हैं। बहुतों के तो नाम भी लुप्त हो गये।

जिनके नाम अथवा ग्रन्थ ज्ञात हैं उन धातुवृत्तिकारों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

पाणिनि

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन के संबद्ध वृत्ति के समान धातुपाठ का प्रवचन करते समय उसकी भी कोई वृत्ति शिष्यों को अवश्य बताई होगी। बिना वृत्ति बताये सूत्रग्रन्थ का प्रवचन हो नहीं सकता। इस अनुमान के प्रमाण भी हैं।

१. अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ तथा वृत्ति के द्विविध प्रवचन के समान पाणिनि ने धातुपाठ के प्रवचन काल में किन्हीं शिष्यों को किसी धातुसूत्र का किसी प्रकार का विच्छेद बताया, अन्यों को उसी धातुसूत्र का दूसरे प्रकार का विच्छेद बताया। इसी बात को दृष्टि में रखकर आचार्य सायण ने अपनी धातुवृत्ति (पृष्ठ २९३) में लिखा है—

"अस्माकं तूभयमपि प्रमाणम् आचार्येण उभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात्।"

२. उदात्त चकारान्त धातुओं के प्रकरण में अनुदात्त इकारान्त श्वि धातु के पाठ के कारण का निर्देश करते हुए क्षीरस्वामी ने लिखा है—

वक्ष्यति च

पाठमध्येऽनुदात्तानामुदात्तः कथितः क्वचित्।

अनुदात्तोऽप्युदात्तानां पूर्वेषामनुरोधतः॥

उक्त 'वक्ष्यति' क्रियापद का कर्ता निश्चय ही भगवान् पाणिनि हैं। उन्होंने धातुपाठ का प्रवचन करते हुए और व्याख्या समझाने के लिये जो वृत्ति लिखी होगी या पढ़ाई होगी उसी में उक्त श्लोक रहा होगा।

सुनाग

सुनाग, कात्यायन से अर्वाचीन वार्तिककार हैं। इनके वार्तिक महाभाष्य में उपलब्ध हैं।

वार्तिकों के प्रवचनकर्ता सुनाग ने पाणिनीय धातुपाठ पर कोई व्याख्यान लिखा था यह क्षीरतरङ्गिणी के आदि और अन्त में उद्धृत सुनाग के धात्वर्थ सम्बन्धी मत से विदित होता है जो निश्चय ही उसके धातुव्याख्यान का ही हो सकता है—

धातूनामर्थनिर्देशोऽयं निदर्शनार्थ इति सीनागाः। यदाहुः—

क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकोऽत्रार्थः प्रदर्शितः।

प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥

धातुओं का अर्थ निदर्शनार्थ है, ऐसा सीनागों का मत है। जैसा कि कहा है—यहाँ धातुओं का क्रियावाचित्व दर्शाने के लिए एक अर्थ लिखा है। धातुएँ अनेकार्थ हैं, उनके अर्थ प्रयोग से जानने चाहिए।

भीमसेन

किसी भीमसेन नामक वैयाकरण का पाणिनीय धातुपाठ के साथ कोई महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। ऐसा गणरत्न सूरि, सर्वानन्द, मैत्रेयरक्षित भट्टोजि-दीक्षित और नागेशभट्ट आदि अनेक ग्रन्थकारों के वचनों से स्पष्ट विदित होता है।

भीमसेन से पाणिनीय धातुपाठ पर कोई वृत्ति लिखी थी। ऐसा कवि-कल्पद्रुम की टीका में दुर्गादास के वचन से विदित होता है। वचन इस प्रकार है—

'स्तम्भ इह क्रियानिरोध इति भीमसेनः।' (पृष्ठ १७१)

स्तुम्भु स्तम्भे सौत्रधातु है। भीमसेन स्तम्भ का अर्थ क्रियानिरोध धातु-वृत्ति में ही लिख सकता है, धात्वर्थ निर्देश में नही क्योंकि वहाँ धात्वर्थ निर्देश स्तम्भ तो है ही अतः स्पष्ट है कि भीमसेन ने कोई धातुवृत्ति लिखा था जिसमें स्तम्भ का क्रिया निरोध अर्थ दर्शाया था।

'दैव' ग्रन्थ के व्याख्याता लीलाशुकमुनि ने भीमसेन को धातुवृत्तिकार स्पष्ट शब्दों में कहा है—

क्षप प्रेरणे भीमसेनेन कथादिष्वपठितोऽप्ययं बहुलमेतन्निदर्शनम्' इत्युदाहरणत्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते'। (पृ० ८८)

स्पष्ट है कि 'धातुवृत्तौ पठ्यते' का कर्ता भीमसेन ही है क्योंकि वाक्य में दूसरे कर्ता का निर्देश नहीं है।

धातुपारायणकार

धातुपाठ पर 'पारायण' नाम का ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण से सम्बद्ध ग्रन्थों में निर्दिष्ट है जिससे प्रतीत होता है कि यह पाणिनीय धातुपाठ पर था। इसके उद्धरण काशिका और दैवपुरुषकार में देखे जा सकते हैं।

सम्भवतः हेमचन्द्र ने अपने धातु-व्याख्यान का नाम 'धातुपारायण' इसी की अनुकृति पर रखा है।

अज्ञातकर्तृक धातुवृत्ति

किसी अज्ञातनामा वैयाकरण ने धातुपाठ पर वृत्ति ग्रन्थ लिखा था। इसके अनेक उद्धरण क्षीरतरङ्गिणी, पुरुषकार और निघण्टु व्याख्या में उपलब्ध होते हैं।

शश्रन्थे......इदित्त्वादनुनासिकलोपाभावः। श्रेथे इति तूदाहरन् वृत्तिकृद् भ्रान्तः। (क्षीरतरङ्गिणी १।२६१)

यहाँ वृत्तिकृद् पद धातुवृत्ति के रचयिता का बोधक है—ऐसा सायणाचार्य ने लिखा है।

अत्र वृत्तिकारो धातुवृत्तिकृदुच्यते। (धातुवृत्ति पृष्ठ ४६)

नन्दिस्वामी

पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता नन्दिस्वामी क्षीरतरङ्गिणी में बहुत्र उद्धृत है। यह जैनेन्द्रव्याकरणप्रवक्ता देवनन्दी से भिन्न होने पर ही पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता हो सकता है, अन्यथा सन्दिग्ध है।

राजश्री धातुवृत्तिकार (१२१५ वि० से पू०)

राजश्री धातुवृत्ति का उल्लेख सर्वानन्दकृत अमरटीकासर्वस्व भाग १ पृ० १५३ पर मिलता है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। सम्भव है लेखक का नाम राजश्री हो।

नाथीय धातुवृत्ति (१२१५ वि० से पूर्व)

इस धातुवृत्ति का भी उल्लेख अमरटीकासर्वस्व (२।६।१००) में, हुआ है।

इसके लेखक का नाम अज्ञात है। इसका सम्बन्ध किस व्याकरण के साथ है, यह भी अज्ञात है।

रमानाथ–विरचित कातन्त्र धातुवृत्ति तो यह हो नहीं सकती क्योंकि रमानाथ का काल १५९३ वि० सं० है।

प्रक्रियासर्वस्वकार ने सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार दण्डनाथ को प्रायः 'नाथ' नाम से व्यवहृत किया है। अतः यह वृत्ति दण्डनाथ की हो

सकती है परन्तु इस अवस्था में इसे सरस्वती कण्ठाभरण के धातुपाठ की वृत्ति माननी पड़ेगी।

क्षीरस्वामी (११०० वि० से पूर्व)

क्षीरस्वामी ने पाणिनीय धातुपाठ के औदीच्य पाठ पर **क्षीरतरङ्गिणी** नामक एकवृत्ति ग्रन्थ लिखा है। इसका एक अभिनव संस्करण प्रकाशित किया जा चुका है जो रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की ग्रन्थमाला में छपा है।

परिचय

क्षीरस्वामी की क्षीतरङ्गिणी से केवल इतना ही विदित होता है कि इनके पिता का नाम भट्ट ईश्वरस्वामी था।

कल्हण स्मृत 'क्षीर' से क्षीरस्वामी भिन्न—कल्हणकृत राजतरङ्गिणी में लिखा है–जयापोड नृपति ने देशान्तर से क्षीरसंज्ञक वैयाकरण को बुलाकर अपने मण्डल (काश्मीर) में विच्छिन्न महाभाष्य को पुनः प्रवृत्त किया।

काश्मीरनृपति जयापीड का काल सं० ८०८–८३६ माना जाता है।

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोशटीका में भोज और उसके सरस्वतीकण्ठाभरण को बहुधा उद्धृत किया है। यजुर्वेद भाष्य में उव्वट ने 'महीं भोजे प्रशासति' लिखा है। उव्वट यजुर्वेदभाष्य में क्षीरस्वामी को उद्धृत करता है।

अतः क्षीरस्वामी का काल सं० ११०० से पूर्व होना चाहिए। इस लिए क्षीरस्वामी कल्हण द्वारा स्मृत क्षीरसंज्ञक वैयाकरण से भिन्न हैं।

देश—क्षीरस्वामी के क्षीरतरङ्गिणी तथा अमरकोशटीका के आदि में वाग्देवी की प्रशंसा होने से तथा अन्त के श्लोक से प्रतीत होता है कि क्षीर-स्वामी सम्भवतः कश्मीर प्रदेश के निवासी थे। क्षीरस्वामी का कठशाखा-ध्यायी होना भी इस अनुमान को पुष्ट करता है। कठशाखाध्यायीब्राह्मण कश्मीर में ही मिलते हैं।

मैत्रेयरक्षित

बौद्धविद्वान् मैत्रेयरक्षित ने धातुपाठ पर 'धातुप्रदीप' नाम्नी एक लघुवृत्ति रची है। ये सम्भवतः वङ्गवासी थे। इनका ग्रन्थलेखनकाल वि० सं० ११४०—११६५ माना जाता है।

मैत्रेयरक्षित ने न्यास पर 'तन्त्रप्रदीप' जो विस्तृत व्याख्या लिखी है उससे इनकी असाधारण विद्वत्ता का परिचय प्राप्त होता है। परिभाषावृत्ति-कार सीरदेव ने इनकी विद्वत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

मैत्रेयरक्षित के 'धातुप्रदीप' की किसी विद्वान् ने टीका की थी। उसके उद्धरण सर्वानन्दकृत अमरटीकासर्वस्व में मिलते हैं।

हरियोगी

हरियोगी ने पाणिनीय धातुपाठ पर 'शाब्दिकाभरण' नामक एक व्याख्या लिखी है। इनके पिता का नाम प्रोलनाचार्य अथवा शैलवाचार्य था। इनका काल सं० १२०० वि० के लगभग माना जाना चाहिए। लीलाशुकमुनि (सं० १२५० के लगभग) ने दैवपुरुषकार में हरियोगी का स्मरण किया है।

मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान इस ग्रन्थ के एक हस्तलेख में **शाब्दिकाभरण** के साथ **धातुप्रत्ययपञ्जिका** नाम भी निर्दिष्ट है। या तो यह शाब्दिकाभरण का नामान्तर है अथवा शाब्दिकाभरण विस्तृत ग्रन्थ के अन्तर्गत धातु प्रकरण की व्यख्या है।

एक अन्य **धातुप्रत्ययपञ्जिका** का हस्तलेख तञ्जौर के हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। उसके रचयिता का नाम धर्मकीर्ति लिखा है। एक धर्मकीर्ति 'रूपावतार' व्याकरण ग्रन्थ का रचयिता है। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं या एक, यह अज्ञात है।

देव

देव ने पाणिनीय धातुपाठ पर दो सौ श्लोकों में 'दैव' नामक श्लोकात्मक ग्रन्थ बनाया। इस ग्रन्थ में, अनेक गणों में पठित समान रूप वाली धातुओं को विभिन्न गणों में पढ़ने का क्या प्रयोजन है, इस पर विचार किया है।

देव ने 'दैव' ग्रन्थ की रचना विक्रम की १२ वीं सती के अन्तर्गत चरण में की। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

(१) क्षीरस्वामी (११६५ वि० पर्यन्त) ने 'दैव' ग्रन्थ को कहीं स्मरण नहीं किया।

(२) 'दैव' के व्यखयाता लीलाशुकमुनि कृत निर्देशानुसार देव मैत्रेय-रक्षित का अनुसरण करता है।

अत: मैत्रेयरक्षित से उत्तरवर्ती देव का काल ११५०—१२०० के मध्य मानना चाहिए।

'दैव' ग्रन्थ पर लीलाशुकमुनि (सं० १२२५–१३५० वि०) ने 'पुरुषकार' नामक वार्तिक ग्रन्थ लिखा है।

सायण (सं० १३७२–१४४४ वि०)

संस्कृत वाङ्मय में आचार्य सायण का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। सायण ने पाणिनीय धातुपाठ पर अपने ज्येष्ठ भ्राता माधव के नाम पर एक वृत्ति लिखी है जो माधवीया धातुवृत्ति अथवा धातुवृत्ति दो नामों से प्रसिद्ध है।

परिचय

सायण के पिता का नाम **मायण**, माता का नाम **श्रीमती**, ज्येष्ठ भ्राता का नाम **माधव**, लघु भ्राता का नाम **भोगनाथ** था। इनका जन्म सं० १३७२ वि० और स्वर्गवास १४४४ वि० में हुआ था।

सायण ने ३१ वर्ष की अवस्था से लेकर ७२ वर्ष की अवस्था (देहावसान) तक विजयनगर के राजा कम्पण, संगम, बुक्क प्रथम तथा हरिहर द्वितीय का क्रमशः अमात्यपद सुशोभित किया।

धातुवृत्ति के आदि और अन्त के पाठ से विदित होता है कि धातुवृत्ति की रचना महाराज संगम के राज्यकाल (वि० सं० १४१२–१४२०) में हुई।

धातुवृत्ति का निर्माता

सायण ने अमात्यपद का भार वहन करते हुए महती ग्रन्थराशि की रचना की, इस पर विश्वास नहीं होता। सायण के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर परस्पर विरोध भी दिखायी देता है। इससे प्रतीत होता है कि सायण ने अपने निर्देश में अनेक विद्वानों के द्वारा ग्रन्थ लिखवाये। माधवीया धातुवृत्ति में दो स्थानों पर ऐसे पाठ उपलब्ध होते हैं जिनसे विदित होता है कि धातुवृत्ति रचना की किसी यज्ञनारायण नामक विद्वान् ने की थी।

माधवीया धातुवृत्ति का वैशिष्ट्य

सायण की धातुवृत्ति से प्राचीन मैत्रेयरक्षित और क्षीरस्वामी की उपलब्ध दो वृत्तियाँ अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण उपयोगिता की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखतीं। माधवीया धातुवृत्ति में पूर्णता के साथ ही अन्यान्य आचार्यों के मतों के विषय में भी बहुत-सी प्रामाणिक सूचनाएँ दी गयी हैं। इसीलिए पाणिनीय धातुपाठ की दृष्टि से साम्प्रतिक सभी अन्य धातुवृत्तियों से प्रामाणिक मानी गयी है। आर्षक्रम से पाणिनीय तन्त्र का पठन-पाठन करने वालों के लिए वह 'धातुवृत्ति' ग्रन्थ काशिकावृत्ति के समान ही परम उपयोगी है।

बाइसवाँ अध्याय

धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता (३)

(पाणिनि से उत्तरवर्ती)

कातन्त्र धातुपाठ

कातन्त्र व्याकरण का अपना एक स्वतन्त्र धातुपाठ है। इस पर दुर्ग, मैत्रेय आदि अनेक वैयाकरणों ने वृत्तियाँ लिखी हैं।

कातन्त्र धातुपाठ, काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप है। कदाचित् कातन्त्र धातुपाठ का ही संक्षिप्त रूप वह धातुपाठ है जिसका 'शर्ववर्मधातुपाठ' के रूप में तिब्बती अनुवाद जर्मन विद्वान् लिबिश ने प्रकाशित किया है।

वृत्तिकार

शर्ववर्मा

कविकल्पद्रुम की दुर्गादासकृत 'धातुदीपिका' व्याख्या में लिखा है—

विशेषतः पाणिनेरिष्टः सामान्यं शर्ववर्मणः। (पृष्ठ ८)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शर्ववर्मा ने कातन्त्र धातुपाठ पर कोई वृत्ति लिखी थी।

दुर्गसिंह

दुर्गसिंह की कातन्त्र धातुपाठ पर महत्त्वपूर्ण वृत्ति है। दुर्गवृत्ति के जो हस्तलेख मिलते हैं, वे सब प्रायः अपूर्ण हैं।

आत्रेय

आत्रेय ने धातुपाठ पर कोई वृत्ति ग्रन्थ लिखा था। इसका साक्षात् निर्देश सायण के अथर्वभाष्य (२।२८।५) में मिलता है।

आत्रेय के मतों को सायण ने अपनी धातुवृत्ति में उद्धृत किया है और उसी में यह भी निर्देश किया है कि इस धातुवृत्ति का सम्बन्ध कातन्त्र धातुपाठ से है।

रमानाथ

रमानाथ ने शकाब्द १४५८ (वि० सं० १५६३) में कातन्त्र धातुपाठ पर 'मनोरमा' नाम्नी वृत्ति लिखी है।

उक्त चारों धातुपाठ की वृत्तियों में रमानाथ की 'मनोरमा' वृत्ति ही उपलब्ध है।

चान्द्रधातुपाठ

आचार्य चन्द्रगोमी ने अपने शब्दानुशासन के लिए उपयोगी धातुपाठ का भी प्रवचन किया था। यह धातुपाठ सम्प्रति उपलब्ध है। चान्द्रधातुपाठ पर काशकृत्स्न धातुपाठ की प्रवचन-शैली का पर्याप्त प्रभाव है, इसे काशकृत्स्न धातुपाठ-प्रकरण में दिखा चुके हैं।

वृत्तिकार

आचार्य चन्द्र

आचार्य चन्द्र ने अपने शब्दानुशासन पर जैसे स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी थी उसी प्रकार अपने धातुपाठ पर भी स्वोपज्ञ वृत्ति अवश्य लिखी थी। नीचे कतिपय प्रमाण ऐसे दिये जा रहे हैं जो उद्धृत पाठों को चान्द्रधातुवृत्ति से ही सम्बद्ध सिद्ध करते हैं—

१—'चन्द्रस्तु गुणाभावं न सहते। यदाह—अर्णोतीत्युदाहृत्य क्षिणेर्धातोर्लघोरुपान्त्यस्य गुणो नेष्यत इति।'

(सायण, धातुवृत्ति पृ० ३५७)

२—'चन्द्रस्त्वत्राप्युभयपदित्वमाम्नासीत् णिज् विकल्पं च।' (क्षीरस्वामी, क्षीरत० १०।१)

३—'चन्द्रः प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे (१०।२६५) इत्यनेनैव साधयति।' (क्षीरतरङ्गिणी, १०।१८१)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आचार्य चन्द्र ने स्वधातुपाठ पर कोई वृत्ति लिखी थी। उसी से विभिन्न धातुवृत्तिकारों ने चन्द्राचार्य के मतों को लेकर अपनी-अपनी वृत्तियों में उद्धृत किया।

पूर्णचन्द्र

पूर्णचन्द्र ने चान्द्रधातुपाठ पर 'धातुपारायण' नाम्नी वृत्ति लिखी थी। इसके अनेक उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

क्षीरस्वामी ने पूर्णचन्द्रविरचित 'धातुपारायण' का पारायण नाम से उल्लेख किया है। दो स्थानों पर उसके साथ चन्द्र तथा चान्द्र विशेषण का भी निर्देश किया है। क्षीरस्वामी का काल सं० १११५–११६५ के मध्य है। अतः पूर्णचन्द्र उससे पूर्ववर्ती है।

कश्यपभिक्षु

कश्यपभिक्षु ने सं० १२५७ के लगभग चान्द्रसूत्रों पर एक वृत्ति लिखी थी। अतः कश्यपभिक्षु ने चान्द्रधातु पाठ पर भी कोई वृत्ति अवश्य लिखी थी, इसमें सन्देह नहीं। माधवीया धातुवृत्ति में कश्यप तथा काश्यप (कश्यप मतानुयायी) के मत अनेक स्थानों पर उद्धृत हैं। वह कश्यप यही कश्यपभिक्षु हैं और उसके मत सायण ने उसकी चान्द्रधातुवृत्ति से ही उद्धृत किए हैं।

क्षपणक का धातुपाठ

क्षपणक ने अपने व्याकरण पर वृत्ति और महान्यास नामक ग्रन्थ लिखे थे। उज्ज्वलदत्त ने क्षपणक की उणादिवृत्ति का उल्लेख किया है। अतः प्रतीत होता है कि क्षपणक ने अपने धातुपाठ पर भी कोई वृत्ति अवश्य लिखी होगी।

जैनेन्द्र धातुपाठ

आचार्य पूज्यपाद अपरनाम देवनन्दी के जैनेन्द्र व्याकरण का धातुपाठ मूलरूप में इस समय उपलब्ध नहीं है। जैनेन्द्र व्याकरण के दाक्षिणात्य संस्करण को '**शब्दार्णव**' कहा जाता है। यह गुणनन्दी की कृति है। '**शब्दार्णव**' का जो संस्करण काशी से प्रकाशित हुआ है, उसके अन्त में जैनेन्द्र धातुपाठ छपा है। यह धातुपाठ आचार्य गुणनन्दी द्वारा संशोधित है—ऐसा इसके अन्त में दिये श्लोक से ध्वनित होता है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि प्राचीन धातुग्रन्थों में नन्दी (=देवनन्दी) के नाम से जो धातुनिर्देश उपलब्ध होते हैं, वे उसी रूप में इस धातुपाठ में सर्वथा नहीं मिलते।

वृत्तिकार

आचार्य देवनन्दी

हैमलिंगानुशासन स्वोपज्ञविवरण में **नान्दि धातुपारायण** तथा **नन्दि पारायण** के पाठ उद्धृत हैं। इनसे इतना स्पष्ट है कि देवनन्दी ने धातुपाठ पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था जिसका नाम धातुपारायण था। धातुपारायण नाम

का एक ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ पर भी था। इसके पाठ अमरटीकासर्वस्व और माधवीया धातुवृत्ति में उद्धृत हैं।

ऐसी अवस्था में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि देवनन्दी का धातुपारायण पाणिनीय धातुपाठ पर था अथवा जैनेन्द्र धातुपाठ पर।

श्रुतपाल

जैनेन्द्रधातुपाठ पर श्रुतपालकृत व्याख्यानग्रन्थ के अनेक उद्धरण प्राचीन-व्याकरणग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इसका काल विक्रम की नवीं शती अथवा उससे कुछ पूर्व है।

आर्य श्रुतकीर्ति

आर्य श्रुतकीर्ति ने 'जैनेन्द्रव्याकरण' पर 'पञ्चवस्तु' नाम का जो प्रक्रिया ग्रन्थ लिखा, उसके अन्त में जैनेन्द्र धातुपाठ का भी व्याख्यान है। अत: आर्य श्रुतकीर्ति ही प्रामाणिक रूप में 'जैनेन्द्रधातुपाठ' के व्याख्याता कहे जा सकते हैं। इनका काल वि० की १२ वीं शती का प्रथम चरण है।

वंशीधर

वंशीधर नामक आधुनिक वैयाकरण ने एक जैनेन्द्र प्रक्रियाग्रन्थ लिखा है, उसका पूर्वार्ध ही प्रकाशित हुआ है। उत्तरार्ध में धातुपाठ के व्याख्यान होने की सम्भावना पायी जाती है।

शब्दार्णवसम्बद्ध जैनेन्द्रधातुपाठ

शब्दार्णव पर किसी वैयाकरण ने एक प्रक्रियाग्रन्थ लिखा है। उसके अन्तर्गत गुणनन्दी परिष्कृत जैनेन्द्रधातुपाठ की व्याख्या भी है।

वामन व्याकरणसम्बद्ध धातुपाठ

वामन ने **'विश्रान्तविद्याधर'** नामक व्याकरणग्रन्थ लिखा है। उसने अपने व्याकरण से सम्बद्ध धातुपाठ का प्रवचन भी अवश्य किया होगा। परन्तु इस धातुपाठ और इसकी किसी व्याख्या का साक्षाद् उद्धरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

पाल्यकीर्ति (शाकटायन)

पाल्यकीर्ति ने अपने शब्दानुशासन से संबद्ध धातुपाठ का भी प्रवचन किया था। यह धातुपाठ काशी से मुद्रित लघुवृत्ति के अन्त में छपा है। शाकटायनधातुपाठ पाणिनि के उदीच्य पाठ से अधिक मिलता है।

वृत्तिकार

शाकटायन

शाकटायन ने अपने धातुपाठ पर 'धातुविवरण' नाम से वृत्ति लिखी थी। ऐसा माधवीया धातुवृत्ति में सायण द्वारा शाकटायन के दो उद्धृत पाठ प्रमाण हैं—

१. शाकटायनक्षीरस्वामिभ्यामयं धातुर्न पठ्यते।···शाकटायनः पुनस्तत्र (स्वादौ) छान्दसमेवाह। (पृष्ठ ३५६)

२. तदेतदमोघायां शाकटायनधातुवृत्तौ अर्थनिर्देशरहितेऽपि गण-पाठे······(धातुवृत्ति, पृष्ठ ४०४)

इन उद्धरणों से शाकटायन की धातुवृत्ति का सद्भाव विस्पष्ट है। धातुवृत्ति का उक्तपाठ कुछ भ्रष्ट है। शाकटायन को धातुवृत्ति का नाम 'धातुविवरण' था।

पुरुषकार (पृष्ठ २२) में भी लिखा है—

व्यक्तं चैतद् धनपालशाकटायनवृत्त्योः।

धनपाल

धनपाल ने भी शाकटायन धातुपाठ पर एक व्याख्या लिखी थी। पुरुष-कार के पूर्वोक्त पाठ से ऐसा प्रतीत होता है।

शिवस्वामीप्रोक्त शब्दानुशासनसम्बद्ध धातुपाठ

क्षीरस्वामी की क्षीरतरङ्गिणी (५।१० और १।१२२) में तथा माध-वीया धातुवृत्ति (पृष्ठ ३१६ और पृष्ठ ३५७) में शिवस्वामी के नाम से ऐसे पाठ उद्धृत हैं जिनसे स्पष्ट विदित होता है कि शिवस्वामी ने अपने शब्दानु-शासन से संबद्ध धातुपाठ का प्रवचन और उसकी व्याख्या की थी।

भोजदेवीय धातुपाठ

भोजदेव ने अपने शब्दानुशासन 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ग्रन्थ में धातुपाठ को छोड़कर सभी अङ्गों का यथास्थान सन्निवेश कर दिया, केवल धातुपाठ का पृथक् प्रवचन किया। भोजदेव के धातुपाठ के उद्धरण क्षीरस्वामी, सायण आदि ने प्रचुरमात्रा में दिये हैं।

गुणरत्न सूरि

आचार्य गुणरत्न ने वि० सं० १४६६ में हैमधातुपाठ पर 'क्रियारत्न-समुच्चय' नाम्नी व्याख्या लिखी।

क्रियारत्नसमुच्चय : वैशिष्ट्य

यह ग्रन्थ हैमधातुपारायण के अनुसार लिखा गया है। इसमें प्राचीनमत के अनुसार सभी धातुओं के सभी प्रक्रियाओं में रूपों का संक्षिप्त निर्देश है।

इसमें धातुरूप सम्बन्धी अनेक ऐसे प्राचीन मतों का उल्लेख है जो किसी भी अन्य व्याकरण ग्रन्थ में नहीं मिलते। इस दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

जयवीर गणि

हैमधातुपाठ पर जयवीर गणि की 'अवचूरी' व्याख्या उपलब्ध होती है।

अज्ञातनाम-टिप्पणीकार

हैमधातुपाठ पर किसी विद्वान् की सं० १५१६ की लिखी टिप्पणी भी मिलती है।

श्री हर्षकुल गणि

श्री हर्षकुल गणि ने हैमधातुपाठ को पद्यबद्ध किया है। इसका नाम 'कविकल्पद्रुम' है। इन्होंने स्वयं 'कविकल्पद्रुम' पर 'धातुचिन्तामणि' नाम्नी टीका भी लिखी है।

प्रक्रियाग्रन्थों में धातु व्याख्यान

हैमसिद्धशब्दानुशासन पर विनयविजयगणी का 'हैमलघुप्रक्रिया' और मेघविजय का हैमकौमुदी नामक प्रक्रियाग्रन्थ हैं। इनमें हैमधातुपाठ की धातुओं का व्याख्यान उपलब्ध होता है।

अन्य वैयाकरणों के धातुपाठ और व्याख्या

मलयगिरि, क्रमदीश्वर, सारस्वतकार, बोपदेव और पद्मनाभदत्त आदि आचार्यों ने भी अपने-अपने शब्दानुशासनों से सम्बद्ध धातुपाठ की रचना की थी। उन धातुपाठों पर भी कतिपय वैयाकरणों के व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

सारस्वत धातुपाठ पर हर्षकीर्ति ने व्याख्या लिखी है।

बोपदेव ने अपना धातुपाठ पद्यबद्ध लिखा है। इसका नाम 'कविकल्पद्रुम' है। एक 'कविकल्पद्रुम' ग्रन्थ हर्षकुल गणि का है जो हैमधातुपाठ पर है।

बोपदेव के धातुपाठ 'कविकल्पद्रुम' की व्याख्या

कविकल्पद्रुम की व्याख्या बोपदेव ने स्वयं भी लिखी है उस व्याख्या का नाम 'कविकामधेनु' है।

ज्ञातव्य है कि इस 'कविकामधेनु' व्याख्याग्रन्थ से भिन्न एक 'कविकामधेनु' नामक 'दैव' की व्याख्या पुरुषकार में उद्धृत है जिसमें पाणिनीय सूत्र उद्धृत हैं।

बोपदेव के अतिरिक्त, बोपदेवीय धातुपाठ कविकल्पद्रुम की रामनाथकृत टीका उपलब्ध है। दूसरी टीका दुर्गादास विद्यावागीश ने लिखा है, उसका नाम **धातुदीपिका है**।

इसके अतिरिक्त विभिन्न धातुवृत्तियों में धातुपाठ से सम्बद्ध अनेक ग्रंथों और ग्रन्थकारों के नाम उपलब्ध होते हैं किन्तु उनके विषय में यह ज्ञात नहीं होता कि उनका किस तन्त्र विशेष से सम्बन्ध है।

———

तेइसवाँ अध्याय

गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता

गणपाठ का स्थान—पञ्चाङ्गी व्याकरण में गणपाठ का तृतीय स्थान है। शब्दानुशासन को सूत्रपाठ तक ही सीमित करने पर शेष चारों ग्रन्थों को खिल अथवा परिशिष्ट रूप जब देते हैं तब उन चारों ग्रन्थों अथवा अङ्गों में गणपाठ का धातुपाठ के बाद अर्थात् द्वितीय स्थान है।

गणपाठ शब्द का अर्थ—गण शब्द 'गण संख्याने' धातु से निष्पन्न होता है जिसका मूल अर्थ है जिसकी गणना की जाय। गण, समूह, समुदाय आदि शब्द यद्यपि समानार्थक हैं तथापि उनमें मौलिक भेद है। गण में पौर्वापर्य का कोई विशिष्ट क्रम अभिप्रेत होता है किन्तु समूह अथवा समुदाय में क्रम की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए जिस ग्रन्थ में गणों का (= क्रमविशेष से पढ़े गये शब्द समूहों का) पाठ होता है उसे गणपाठ कहते हैं। यह गणपाठ का सामन्य अर्थ है। इसी सामान्य अर्थ के अनुसार धातुपाठ के लिए कहीं-कहीं गणपाठ शब्द का प्रयोग मिलता है। परन्तु वैयाकरण वाङ्मय में गणपाठ शब्द का अर्थ विशेष ही अभीष्ट है अर्थात् गणपाठ शब्द शुद्ध यौगिक न रह कर योगरूढ़ बन गया है अतः गणपाठ शब्द से उसी ग्रन्थ का बोध होता है जिसमें केवल प्रातिपदिक शब्दों के समूहों का संकलन है।

गणपाठ का सूत्रपाठ से पार्थक्य—अति प्राचीनकाल में शब्दों का उपदेश प्रतिपद पाठ द्वारा होने के कारण शब्द स्वरूपों के आधार पर कुछ शब्द-समूह निर्धारित किये गये होंगे। उसके उत्तरकाल में शब्दोपदेश ने जब प्रतिपद पाठ की प्रक्रिया का परित्याग कर लक्षणात्मक रूप ग्रहण किया तब भी समान कार्य के ज्ञापन के लिए निर्देष्टव्य प्रातिपदिक शब्दसमूहों को तत्तत् सूत्रों में ही स्थान दिया गया। उसके बाद जब अध्येताओं के मतिमान्द्य और आयुर्ह्रास के कारण समस्त वाङ्मय में संक्षेपीकरण आरम्भ हुआ तब शब्दानुशासनों को भी संक्षिप्त करने के लिए तत्तत्सूत्रान्तर्गत तत्तद् गण अथवा समुदाय के प्रथम शब्द के साथ आदि अथावा प्रभृति शब्द को जोड़कर सूत्रपाठ में रखा और आदि पद से निर्देष्टव्य शब्द समूहों को सूत्रपाठ से पृथक् पढ़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गणशैली के उद्भव के मूल में शास्त्र का संक्षेपीकरण मुख्य हेतु है। उसी लाघव के लिए शास्त्रकारों ने गणशैली को जन्म दिया। इस शैली का प्रयोग पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी अपने शब्दानुशासनों में किया है। उनके कतिपय निर्देश पूर्व वैयाकरणों के उपलब्ध सूत्रों और वैदिक व्याकरणों में उपपलब्ध होते हैं।

पाणिनि से पूर्ववर्ती गणपाठप्रवक्ता

भागुरि

जगदीशतर्कालङ्कारकृत 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में भागुरि सम्बन्धी निम्न श्लोक हैं—

मुण्डादेस्तत्करोत्यर्थे गृह्णात्यर्थे कृतादितः।
वक्तीत्यर्थे च सत्यादेरङ्गादेस्तन्निरस्यति॥
तूस्ताद्विघाते संछादेर्वस्त्रात् पुच्छादितस्तथा।
सेनातश्चाभियाने च णिः श्लोकादेरप्युपस्तुतौ॥

इन उद्धरणों में मुण्डादि, कृतादि, सत्यादि, पुच्छादि और श्लोकादि पाँच गणों का निर्देश है। बिना गणपाठ के पृथक प्रवचन के इस प्रकार के आदि पद-घटित निर्देशों का कोई अर्थ नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि भागुरि ने गणपाठ का प्रवचन अवश्य किया था।

शन्तनु

आचार्य शन्तनु कृत शब्दानुशासन के उपलभ्यमान एकदेश फिट् सूत्रों में कुछ गणों का निर्देश मिलता है। यथा—घृतादि, ग्रामादि। आधुनिक व्याख्याताओं के मतानुसार इन गणों को आकृतिग ही मानें, नियत पठित गण न मानें तब भी शन्तनु के शब्दानुशासन में गणपाठ परम्परा तो माननी ही होगी।

काशकृत्स्न

काशकृत्स्न ने धातुपाठ प्रवचन के समान गणपाठ का भी प्रवचन अवश्य किया होगा। काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों में एक सूत्र है—

क्षिप्नादीनां न नोणः

अर्थात् क्षिप्ना आदि शब्दों में 'न' के स्थान पर 'ण' नहीं होता।

इस सूत्र की पाणिनि के 'क्षुभ्नादिषु' (८।४।३९) सूत्र से तुलना करने पर स्पष्ट है कि काशकृत्स्न ने कोई क्षिप्नादिगण अवश्य पढ़ा था। इससे सिद्ध है कि काशकृत्स्न के व्याकरण में 'गणों' का भी उल्लेख था।

आपिशलि

आचार्य आपिशलि ने अपने शब्दानुशासन से पृथक् तत्सम्बद्ध गणपाठ का प्रवचन किया था। इसमें भर्तृहरि का वचन प्रमाण है—

इह त्यदादीन्यापिशलेः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि, ततः पूर्वापराध-रेति……'

अर्थात् आपिशलि के गणपाठ में त्यदादि—किम् से लेकर अस्मत् पर्यन्त थे, तत्पश्चात पूर्वपराधर आदि गणसूत्र पठित थे। (महाभाष्य दीपिका)

इसका भाव यह है कि पाणिनि जिसे त्यदादि कहते हैं, भर्तृहरि के वक्तव्य के अनुसार, उसे ही आपिशलि 'किम्' से लेकर 'अस्मद्' तक मानते हैं। पूर्व, पर, अवर आदि का प्रसंग वे बाद में ही उठाते हैं।

पाणिनिपूर्ववर्ती अन्य गणकार

पाणिनि के पूर्ववर्ती अन्य वैयाकरणों ने भी गणपाठ का प्रवचन किया होगा, इसमें सन्देह नहीं, यद्यपि उनके स्पष्ट निर्देशक प्रमाण आज उपलब्ध नहीं होते हैं। प्रातिशाख्य प्रवक्ता आचार्यों में भी कुछ ने गणपाठ का आश्रय लिया था, यह उनके विभिन्न सूत्रों से स्पष्ट होता है।

पाणिनीय गणपाठ में विद्यमान कतिपय अंशों से भी प्रतीत होता है कि आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणों के गणपाठ विद्यमान थे। पाणिनि ने उनमें कहीं परिष्कार करके और कहीं पर ज्यों के त्यों रूप में ही उनको अपने गणपाठ में स्वीकार कर लिया है।

पाणिनि

'धातुपाठ' की भाँति 'गणपाठ' की पाणिनीयता के सम्बन्ध में भी आचार्य वैयाकरणों में मतवैविध्य पाया जाता है। एक ओर महाभाष्यकार और उनके मतानुयायी गणपाठ को पाणिनीय मानते हैं तो दूसरी ओर काशिका के व्याख्याता न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि और उसके कुछ अनुयायी गण-पाठ को अपाणिनीय मानते हैं किन्तु न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि जिसप्रकार धातु-पाठ के अपाणिनीयत्व का प्रतिपादन करते हुए अनेक स्थानों में अवरुद्ध कण्ठ से उसे पाणिनीय भी स्वीकार करता है उसी प्रकार वह अपने न्यास (४।१।१०६; ५।३।२) में गणपाठ के अपाणिनीयत्व का प्रतिपादन करते हुए, अष्टा० (१।३।२) की काशिका की व्याख्या में तथा अष्टा० (५।१।३) की व्याख्या में अवरुद्ध कण्ठ से गणपाठ को पाणिनीय भी स्वीकार करता है।

जो भी हो, यह तो निश्चित स्वीकार करना ही होगा कि गणशैली को अपनाने वाला कोई भी वैयाकरण बिना गणपाठ का निर्धारण किए अपने शब्दानुशासन का प्रवचन नहीं कर सकता। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में सर्वत्र गणशैली का आश्रयण किया है, इसलिए आवश्यक है कि पाणिनि शब्दानुशासन के प्रवचन से पूर्व गणों के स्वरूप का निर्धारण करे तब उसके साहाय्य से गण सम्बद्ध सूत्रों का प्रवचन करे। इस दृष्टि से यह सुतरां सिद्ध है कि पाणिनि ने अपने गणसंबद्ध सूत्रों के प्रवचन से पूर्व उन-उन गणों के स्वरूप का निर्धारण अवश्य किया होगा और वह निर्धारण ही वर्तमान पाणिनीय-सम्प्रदाय-सम्बद्ध गणपाठ है।

गणपाठ के दो पाठ—जिस प्रकार अष्टाध्यायी और धातुपाठ के कम से कम दो-दो संस्करण हैं। एक लघुपाठ और दूसरा वृद्धपाठ। इसी प्रकार गणपाठ के भी पाणिनि के दो प्रवचन हैं, अर्थात् दो प्रकार के पाठ हैं—एक लघुपाठ और दूसरा वृद्धपाठ। गणपाठ का जो साम्प्रतिक पाठ है वह उसका वृद्धपाठ है, लघुपाठ इस समय अप्राप्त है। गणपाठ के वृद्ध और लघु दोनों पाठ पाणिनि-प्रोक्त हैं। यह अष्टाध्यायी और धातुपाठ के वृद्ध और लघुपाठ की तुलना से स्पष्ट है।

गणपाठ का अनेकधा प्रवचन—पाणिनि ने अष्टाध्यायी और धातुपाठ के समान गणपाठ का भी अनेकधा प्रवचन किया था। प्रवचन भेद से गणपाठ के कम से कम दो प्रकार के पाठ उपपन्न हुए। नद्यादिगण (४।२।९७) में पठित **पूर्वनगरी** पद की व्याख्या में काशिकाकार ने लिखा है—

पौर्वनगरेयम्। केचित्तु पूर्वनगिरीति पठन्ति, विच्छिद्य च प्रत्ययं कुर्वन्ति पौरेयम्, वानेयम्, गैरेयम्। तदुभयमपि दर्शनं प्रमाणम्।

हरदत्त ने उसे यों स्पष्ट किया है—

उभयथाप्याचार्येण शिष्याणां प्रतिपादनात्।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्य पाणिनि ने गणपाठ का अनेकधा प्रवचन किया था।

गणों के दो भेद

गणों को दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है। १—नियतगण या विशिष्टगण, २—आकृतिगण।

१. **नियतगण या विशिष्टगण** वे गण हैं जिनमें शब्द नियमित हैं अर्थात् उस गण में जितने शब्द पढ़े हैं, उतने ही शब्दों से उस गण का कार्य होता है। यथा—सर्वादिगण।

२. **आकृतिगण** वे गण हैं जिनमें शब्दों की नियत संख्या अभिप्रेत नहीं है। उस गण का कार्य अन्य शब्दों से भी होता है। इस प्रकार के गण वैयाकरणों की परिभाषा में आकृतिगण कहाते हैं (आकृत्या प्रयोगानुसारेण गण्यते बुध्यते इत्याकृतिगणः)।

द्योतकचिन्ह—जिन गणों में शब्दों का संकलन सीमित होता है, उनके अन्त में शब्द संकलन की समाप्ति के द्योतन के लिए समाप्त्यर्थक वृत् शब्द पढ़ा जाता है। जो आकृतिगण होते हैं, उनके अन्त में वृत् शब्द का पाठ नहीं होता। यथा—

'अवृत्करणादाकृतिगणोऽयम्।' (काशिका २।१।४८)

कहीं-कहीं नियत रूप से पठित गण को भी **'च'** शब्द के पाठ से आकृतिगण माना जाता है। यथा—

आकृतिगणश्च प्रवृद्धादिर्द्रष्टव्य इति। कुत एतत्? आकृतिगणतां तस्य सूचयितुमनुक्तसमुच्चयार्थस्य चकारस्येह करणात्।
(न्यास ६।२।१४७)

गणपाठ के व्याख्याता

पाणिनि

पाणिनि ने स्वयम् अपने गणपाठ के प्रवचन के साथ-साथ उसकी किसी वृत्ति का भी प्रवचन किया था। ऐसा, नद्यादि (४।२।६७) गण में पठित **पूर्वनगरी** की काशिकाकार की व्याख्या से, तथा न्यासकार की स्थूलादि (५।४।३) गण में पठित स्थूलाणुमाषेषु की तीन प्रकार की व्याख्याओं से एवं गणरत्नमहोदधि में वर्धमान सूरि द्वारा क्रोडचान्तर्गत 'चैतयत' पद पर लिखे वचन से स्पष्ट विदित होता है।

क्षीरस्वामी

क्षीरस्वामी ने एक **'गणवृत्ति'** ग्रन्थ लिखा था। इसमें गणपाठ की व्याख्या रही होगी। यह इसके नाम से ही स्पष्ट है। यह 'गणवृत्ति' इस समय अनुपलब्ध है। इसके उद्धरण भी कहीं अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं।

विशेष ज्ञातव्य—सायण ने माधवीया धातुवृत्ति में **'गणवृत्ति'** के जो उद्धरण दिये हैं, वे क्षीरस्वामीविरचित 'गणवृत्ति' के नहीं हैं। वे सब उद्धरण वर्धमानविरचित गणरत्नमहोदधि से प्रायः शब्दतः और कुछ एक अर्थतः उद्धृत किये गये हैं। यह 'धातुवृत्ति' में उद्धृत उद्धरणों की 'गणरत्नमहोदधि' के तत्तद् पाठों से तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है।

इसी प्रकार मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा रघुवंश आदि में 'गणव्याख्यान' नाम से कई उद्धरण दिये हैं। वे सब गणरत्नमहोदधि में अक्षरशः उपलब्ध होते हैं। अतः वहाँ का 'गणव्याख्यान', 'गणरत्नमहोदधि' ही है, अन्य नहीं।

पुरुषोत्तमदेव

'भाषावृत्ति' के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने भूमिका के पृष्ठ १ पर ऐसी सूचना दी है कि भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने कोई 'गणवृत्ति' ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ भी अनुपलब्ध है।

नारायण न्यायपञ्चानन

नारायण न्यायपञ्चानन ने गणपाठ पर 'गणप्रकाश' नाम की एक व्याख्या लिखी थी।

यज्ञेश्वर भट्ट

यज्ञेश्वरभट्ट नामक आधुनिक वैयाकरण ने पाणिनीय गणपाठ पर 'गण-रत्नावली' नाम की व्याख्या लिखी है। इसमें गणरत्नमहोदधि के अनुकरण पर पहले गणशब्दों को श्लोकबद्ध किया है, तत्पश्चात् उनकी व्याख्या की है।

पाणिनीय सम्प्रदाय में गणपाठ पर एक मात्र 'गणरत्नावली' ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। यह बहुत उपयोगी ग्रन्थ है।

परिचय तथा काल

यज्ञेश्वर भट्ट ने अपने एक अन्य ग्रन्थ 'आर्यविद्यासुधाकर' ग्रन्थ में अपने पिता का नाम चिमणा जी और गुरु का नाम महाशंकर लिखा है। गणरत्ना-वली का आरम्भ वि० सं १९३० में हुआ और समाप्ति शकाब्द १७९६ (वि० सं० १९३१) आषाढ मास में हुई। गणरत्नावली का मुख्य आधार गणरत्न महोदधि है, यह उसने स्वयं मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

पाणिनीयेतर गणपाठ

कातन्त्रगणकार

कातन्त्र व्याकरण के प्रवक्ता ने अपने शब्दानुशासन से संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। कातन्त्र व्याकरण का विभाजन तीन भागों में है—

१. आख्यातान्त	मूलग्रन्थकार द्वारा प्रोक्त
२. कृदन्त भाग	वररुचि कात्यायनकृत
३. छन्दः प्रक्रिया	परिशिष्टकार

तीनों गणों की सूची—

आख्यातान्त भाग में—

१ सर्वादि	६. कुब्जादि
२. त्यदादि (अवान्तरगण)	७. बाह्वादि
३. गर्गादि	८. गवादि
४. यस्कादि	९. शरत्प्रभृति
५. विदादि	

कृदन्त भाग में—

१. पचादि	३. ग्रहादि	५. भीमादी	७. गम्यादि
२. नन्द्यादि	४. भिदादि	६. न्यङ् क्वादि	

छन्दःप्रक्रिया में—

१. केवलादि, २. कद्र्वादि, ३. छन्दोगादि, ४. सोमादि

कातन्त्रव्याकरण के गणपाठ पर किसी वैयाकरण ने कोई व्याख्या लिखी या नहीं, इस विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

चन्द्रगोमी

आचार्य चन्द्रगोमी ने अपने शब्दानुशासन से संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। चन्द्रगोमी का गणपाठ उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति में उपलब्ध होता है।

चान्द्रगण पाठ की विशिष्टता

चन्द्रगोमी ने गणपाठ के प्रवचन में पाणिनि का ही अन्धानुसरण नहीं किया। उसने अपने प्रवचन में पाणिनि और पाणिनि से पूर्ववर्ती एवम् उत्तरवर्ती सभी सामग्री का उपयोग किया है। अतः उसके गणपाठ में पाणिनि से कुछ विशिष्ट भिन्नताएँ हैं। यथा—

१. कात्यायन आदि वार्तिककारों द्वारा निर्दिष्ट शब्दों को भी गण का रूप दे दिया।

२. कई स्थानों में पाणिनीय सूत्रों और वार्तिकों को मिला कर नये गण बनाये।

३. कुछ नये गण बनाये।

४. लाघवार्थ पाणिनि के कई गणों को मिला कर एक गण बना दिया।

लाघवार्थ गणों का एकीकरण करके चन्द्राचार्य ने महती भूल की है। पाणिनि ने उनगणों को पृथक् इसलिए पढ़ा था कि उनसे निष्पन्न शब्दों में स्वरभेद होने से उसे स्वर के अनुरोध से पृथक्-पृथक् अण्-अञ् और ठक्-ठञ् आदि प्रत्यय पढ़ने पड़े। चन्द्रगोमी ने तथा-कथित लाघव करके, पाणिनि द्वारा बड़े कौशल और लाघव के साथ दर्शाये गये, शब्दों के स्वर—जैसे सूक्ष्म भेद को ही नष्ट कर दिया। यहाँ स्वर-भेद की उपेक्षा कर चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण के स्वर प्रकरण के निर्देश को भी महत्त्वहीन कर दिया।

५. पाणिनि के कई गण छोड़ दिये।

६. चन्द्राचार्य ने लाघवार्थ पाणिनि के कई गणों के बहुत अक्षरों वाले आदि पद को हटा कर उसके स्थान पर उसी गण का लघु पद रख कर नाम परिवर्तन कर दिया। यथा—

अपूपादि (पा० ५।१।४) को यूपादि (४।१।३) रूप में। आदि-आदि। ऐसा लाघव बहुत उपलब्ध होता है।

७. पाणिनि के कई गणों का परिष्कार किया। यथा—अर्धर्चादिगण।

८. पाणिनि के कई नियत अथवा विशिष्ट गणों को आकृति गण बना दिया। यथा—शरादि।

क्षपणक

उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिसूत्रवृत्ति में लिखा है—

'क्षपणकवृत्तौ अत्र 'इति' शब्द आद्यर्थे व्याख्यातः।' पृष्ठ ६०

इस उद्धरण से क्षपणक का उणादिसूत्र-प्रवक्तृत्व तो सिद्ध होता ही है, उणादिवृत्तिकर्तृत्व का भी ज्ञान होता है। अतः जिस वैयाकरण ने अपने शब्दानुशासन, धातुपाठ और उणादिसूत्र तथा उसकी वृत्ति का प्रवचन किया हो, उसने अपने शब्दानुशासन से सम्बद्ध गणपाठ का प्रवचन न किया हो, यह बात किसी भी प्रकार बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकती। अतः साक्षान्निर्देश उपलब्ध न होने पर भी क्षपणक प्रोक्त गणपाठ की सत्ता अवश्य माननी पड़ती है।

देवनन्दी

आचार्य देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद ने अपने शब्दानुशासन से संबद्ध गणपाठ का प्रवचन किया था। यह गणपाठ अभयनन्दी की महावृत्ति में

संप्रविष्ट उपलब्ध होता है। इस गणपाठ में कोई मौलिक वैशिष्ट्य नहीं है। केवल कुछ विभिन्नताएँ मिलती हैं। वे हैं—

१. अनेक स्थानों पर पूर्व आचार्य प्रोक्त गण सूत्रों को गणपाठ में स्थान न देकर स्वतन्त्र सूत्र रूप में प्रतिष्ठित किया।

२. कतिपय विभिन्न गणों को मिलाकर एक गण कर दिया। यथा पिच्छादि का और तुन्दादि का।

३. आकृतिगणों में प्रयोगानुसार कतिपय शब्दों की वृद्धि की गयी।

४. काशिका तथा चान्द्रवृत्ति दोनों के भिन्न-भिन्न शब्दों का संग्रह। यथा—कुर्वादिगण में काशिका का पाठ अभ्र है, चान्द्रवृत्ति का शुभ्र। जैनेन्द्र में दोनों का पाठ उपलब्ध होता है।

५. प्रायः सर्वत्र तालव्य श को दन्त्य स के रूप में पढ़ा है। यथा—शंकुलाद ओ संकुलाद, सर्वकेश को सर्वकेस।

इस गणपाठ की भी किसी व्याख्या का ज्ञान नहीं है।

गुणनन्दी

जैनेन्द्र व्याकरण का गुणनन्दी ने परिष्कार किया था। उसका स्वतन्त्र नाम 'शब्दार्णव' है। गुणनन्दी ने देवनन्दी के गणपाठ का भी परिष्कार किया था, या उसी रूप में स्वीकार किया था, यह अज्ञात है क्योंकि शब्दार्णव संबद्ध गणपाठ अनुपलब्ध है। बहुत सम्भव है कि जैसे गुणनन्दी ने जैनेन्द्र धातुपाठ का कुछ-कुछ परिष्कार किया उसी प्रकार गणपाठ का भी परिष्कार अवश्य किया होगा।

वामन

वामन का 'विश्रान्तविद्याधर' शब्दानुशासन-ग्रन्थ है। वामन ने अपने तन्त्र से संवद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। वामन के गणपाठ का निर्देश वर्धमान की गणरत्नमहोदधि में बहुत्र मिलता है।

गणरत्नमहोदधि में उद्धृत उद्धरणों से निम्न विशेषताएँ ज्ञात होती हैं—

१. **नये गणों का संग्रह**—वामन ने अपने गणपाठ में कई नये गणों का संग्रह किया है। यथा—केदारादि।

'केदारादौ वामनाचार्यदृष्टे' (गणरत्नमहोदधि, श्लोक २५८)

२. **पाठ भेद से गणों का नामकरण**—वामन के कई गण ऐसे हैं जो प्रथम शब्द के पाठभेद के कारण नाम भेद होने से भिन्नगणवद् प्रतीत होते हैं।

यथा—पाणिनि के **शण्डिकादि** (पा० ४।३।३२) का वामन के मत में **शुण्डिकादि** नाम है।

पाल्यकीर्ति (शाकटायन)

पाल्यकीर्ति ने सम्प्रति **शाकटायन** नाम से प्रसिद्ध शब्दानुशासन का प्रवचन किया था। उसने अपने तन्त्र से संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। पल्यकीर्ति प्रोक्त गणपाठ उसकी स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में पढ़ा है। यक्ष-वर्म विरचित चिन्तामणि अपर नाम लघुवृत्ति के अन्त में भी छपा मिलता है।

इस गणपाठ में पुराने गणपाठों से अनेक भिन्नताएँ हैं—

१. **नामकरण की लघुता**—पुराने बड़े नामों के स्थान पर लघु नामों का निर्देश है। यथा—

लोहितादि के स्थान पर **निद्रादि**
अश्वपत्यादि के स्थान पर **धनादि**

२. **गणों का न्यूनीकरण**—जिन पाणिनीयगणों में दो ही चार शब्द थे उन्हें सूत्रों में पढ़कर गणपाठ से हटा दिया।

३. **नये गणों का निर्माण**—जिन पाणिनीयसूत्रों में अनेक पद हैं, उन्हें सूत्र से हटाकर नये गणों के रूप में परिवर्तित कर दिया। यथा—

देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः (५।४।५६) के स्थान में **देवादिगण**।

द्वितीयाश्रितातीत (२।१।२४) इत्यादि के स्थान में श्रितादिगण।

४. **नये गणों का प्रयोग**—कई स्थानों में ऐसे नये गणों का भी प्रयोग किया है जो पाणिनीय शास्त्र में गण रूप से निर्दिष्ट नहीं हैं। यथा—

'तेन प्रोक्तम्' (पा० ४।३।१०१) जैसे सूत्रों में गण अनुक्त होने पर भी शाकटायन ने अपने **मोदादिभ्यः** (३।१।१७०) सूत्र में **मोदादिगण** का निर्देश किया है।

५. **सन्देह निवारण**—पाणिनीयतन्त्र के एक नाम वाले दो गणों का संदेह निवारणार्थ विभिन्न नाम रख दिया। यथा—

पाणिनि ने (४।२।८० में) दो कुमुदादि गण पढ़े हैं। शाकटायन ने पहले को **कुमुदादि** ही रखा और दूसरे कुमुदादि का नाम अश्वत्थादि कर दिया।

६—**गणों का एकीकरण**—पाणिनि के अनेक गणों को मिलाकर एक गण कर दिया। यथा—

पाणिनि के **भिक्षादि** (४।२।३८) और **खण्डिकादि** (४।२।४५) को मिलाकर एक **भिक्षादिगण** (२।४।१२८) कर दिया।

इसी प्रकार अन्यत्र भी यह एकीकरण देखा जाता है।

पाल्यकीर्ति आदि ने लाघव की दृष्टि से पाणिनि के विभिन्न गणों का जहाँ-जहाँ एकीकरण किया है, वहाँ सर्वत्र एक महान् दोष उपस्थित हो जाता है। पाणिनि आदि पुराने आचार्यों ने शब्दों के स्वर-भेद के ज्ञापनार्थ जो महान् प्रयत्न किया था, वह परवर्ती आचार्यों के लाघव के नाम पर किये गये प्रयत्नों से सदा के लिए विलुप्त हो गया।

७—**गणसूत्रों का पृथक्करण**—पाणिनि आदि ने गणपाठ में जो अनेक गणसूत्र पढ़े थे, उनको पाल्यकीर्ति ने गणपाठ से हटाकर शब्दानुशासन में स्वतन्त्र सूत्ररूप में पढ़ा है। यथा—

पाणिनि के **स्थूलादिगण** (५।४।३८) में पठित **कृष्णतिलेषु, यवव्रीहिषु** आदि गणसूत्रों को गणपाठ से हटाकर पाल्यकीर्ति ने अपने शब्दानुशासन में **'कृष्णयवजीर्णे'** (३।३।१८१) आदि स्वतन्त्र सूत्र का रूप दे दिया।

८—**चान्द्र नामों का परिवर्तन**—चान्द्र शब्दानुशासन का एक अनुकरण करते हुए भी पाल्यकीर्ति ने कई जगहों पर चन्द्राचार्य द्वारा निर्दिष्ट गणनामों का परित्याग कर नये गणनाम दिये हैं। यथा—

चन्द्राचार्य के **हिमादिभ्यः** (चान्द्र ५।२।१३६) सूत्र में निर्दिष्ट **हिमादि-गण** का नाम पाल्यकीर्ति ने **गुणादि** (३।३।१५८) रखा है।

महाराज भोजदेव

पूर्वाचार्यों द्वारा गणपाठ को शब्दानुशासन से पृथक् खिलपाठ के रूप में पढ़ने से इसके पठन-पाठन में जो उपेक्षा हुई उसके दुष्परिणामों के परिमार्जन के लिए भोज ने गणपाठ को पुनः शब्दानुशासन (सूत्रपाठ) में यथास्थान सन्निविष्ट कर दिया है। इससे कुछ सूत्रों का आकार भले ही दीर्घ हो गया है, किन्तु इससे गणपाठ अब उपेक्षित नहीं रह गया और भ्रान्ति की सम्भावना भी जाती रही। ऐसा करते हुए भोज ने निम्न वैशिष्टच का आधान किया है—

१—आकृतिगणों के निर्देश के लिए 'आदि' शब्द पढ़ा है।

२—वार्तिकादि में पठित शब्दों को भी सूत्रो में समाहित किया है।

३—कुछ जगहों पर नवीन गणों का भी पाठ किया है। यथा— **किंशु-कादि, जपादि** आदि।

४—कुछ जगह नामान्तर भी अपनाएँ हैं। यथा—**अपूपादि** का **यूपादि** तथा **बह्वादि** का **शोणादि**।

५—शब्दों के विभिन्न पाठान्तरों को पृथक् शब्दों के रूप में स्वीकार किया है। यथा—कुर्वादिगण में काशिकापठित 'मुर' और चन्द्रपठित 'पुर' दोनों शब्दों का पाठ किया।

६—चन्द्राचार्य का अत्यधिक अनुकरण करने पर भी कहीं-कहीं स्वतन्त्र मार्ग भी अपनाया है।

व्याख्याकार

भोजीय सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याता दण्डनाथ ने शब्दानुशासन की व्याख्या में गणसूत्रों की भी व्याख्या की है। किन्तु जैसी व्याख्या होनी चाहिए, केवल स्वरादि, चादि प्रादि आदि कतिपयगणों की ही हुई है।

भद्रेश्वर सूरि

गणरत्नमहोदधि (पृष्ठ ६८) में वर्धमान सूरि ने आचार्य भद्रेश्वरसूरि के श्लोकबद्ध 'स्वादिगण' का पाठ उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट होता है कि भद्रेश्वर सूरि ने अपने अनुशासन से सम्बद्ध श्लोकबद्ध गणपाठ का प्रवचन किया था।

भद्रेश्वर सूरि का उक्त **'स्वादि'** नाम पाणिनि प्रोक्त **'प्रियादि'** (६।३।३३) गण का है। इससे प्रतीत होता है कि भद्रेश्वर सूरि ने भी पूर्वाचार्यों की तरह पाणिनिर्निर्दिष्ट कतिपय गणनामों का परिवर्तन किया था।

हेमचन्द्र सूरि

हेमचन्द्र ने गणपाठ में प्राय: पाल्यकीर्त्ति के गणपाठ का अनुकरण किया है। पुनरपि उसमें हेमचन्द्र की प्रतिभा का अपना चमत्कार भी स्पष्ट हुआ है। हेमचन्द्र के गणपाठ की निम्न विशेषताएँ हैं—

(१) कुछ नये गण निर्धारित किये गये हैं। यथा—

पाणिनि के **सायंचिरं** (४।३।२३) सूत्रपठित शब्दों के लिए सायाह्नादि।

(२) कुछ जगह नाम परिवर्तन किया है। यथा—पाल्यकीर्ति के **'अर्थादि'** की जगह **'हितादि'**।

(३) कुछ गणों को दो विभागों में विभाजित कर के पढ़ा हैं। यथा—

पाणिनि के पुष्करादि (५।२।१३५) गण को **पुष्करादि** और **अब्जादि** दो गणों में विभक्त कर पढ़ा है।

(४) कतिपय शब्दों को संगृहीत (समस्त) तथा विगृहीत (विभक्त) दोनों रूपों में पढ़ा हैं।

यथा—उत्करादिगण में **इडाजिर** संगृहीत रूप में तथा **इडा अजिर** विगृहीत रूप में।

(५) सभी पाठान्तरों को अपने गणपाठ में संगृहीत कर दिया है।

हेमचन्द्र के कतिपय गणों के शब्दों की व्याख्या उसके 'बृहन्न्यास' में मिलती है।

वर्धमान

वर्धमान का नाम गणकारों में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण गण-पाठ के वाङ्मय से वर्धमान के गणपाठ की स्वोपज्ञ व्याख्या **'गणरत्नमहोदधि'** ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसके साहाय्य से गणपाठ के सन्बन्ध में हमें कुछ ज्ञान होता है। इस ग्रन्थ का रचना काल सं० ११९७ वि० है।

वर्धमान ने अपने व्याकरण से संबद्ध गणपाठ का श्लोकवद्ध संकलन एवम् उसकी व्याख्या 'गणरत्नमहोदधि' ग्रन्थ में अपने से सभी प्राचीन वैया-करणों के गणपाठस्थ तत्तत् शब्दविषयक सभी पाठभेदों और मतों का विस्तार से निर्देश किया है। अनेक स्थानों पर उनके पढ़े जाने के प्रयोजन, गणसूत्रों की व्याख्या तथा विशिष्ट शब्दों के प्रयोग निदर्शन के लिए स्वरचित और प्राचीन कवियों के पद्यों को उद्धृत किया है।

गणरत्नमहोदधि का वैशिष्ट्य

१. स्वर वैदिक प्रकरण के अतिरिक्त पाणिनीय गणपाठ के प्रायः सभी गणों का समावेश किया गया है, किन्हीं का सर्वथा अभिन्न रूप में और किन्हीं का नाम-परिवर्तन करके।

२. इसी प्रकार कात्यायन के वार्तिकगणों को भी समाविष्ट कर लिया गया है।

३. पाणिनि के कतिपय दीर्घकाय सूत्रों और एक प्रकरण के दो चार सहपठित सूत्रों के आधार पर कतिपय नये गण निर्धारित किये हैं।

४. इसी प्रकार कतिपय वार्तिकों के आधार पर भी नये गण निर्धारित किये हैं।

५. कहीं-कहीं पाणिनि के अनेक गणों को एक गण में समाविष्ट कर दिया है।

६. आचार्य चन्द्र, पाल्यकीर्ति और हेमचन्द्र द्वारा निर्धारित गणों को प्रायः उसी रूप में स्वीकार कर लिया है किन्हीं गणों के नाम परिवर्तित अवश्य किये गये हैं।

७. वामन और भोज द्वारा निर्धारित भागों को भी इसमें स्थान दिया गया है।

८. अरुणदत्त के मतानुसार अर्धर्चादि गण के शब्दों की एक विस्तृत सूची उपस्थित की है।

अतः सम्प्रति गणपाठ के शब्दों के अर्थ, पाठभेद और प्रयोग ज्ञान के लिए 'गणरत्नमहोदधि' एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

गङ्गाधर और गोवर्धन

गङ्गाधर और गोवर्धन ने 'गणरत्नमहोदधि' पर अपनी-अपनी टीका लिखी थी। गङ्गाधर की टीका का हस्तलेख इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन के सूचीपत्र भाग२, खण्ड १ में निर्दिष्ट है। गोवर्धन का गणरत्न-महोदधि के टीकाकार के रूप में उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपने हस्तलेख सूचीपत्र में किया है।

क्रमदीश्वर

क्रमदीश्वरप्रोक्त व्याकरण ग्रन्थ का नाम 'संक्षिप्तसार' है। इसका परिष्कार जुमरनन्दी नामक किसी प्रदेश के राजा ने किया है। इसीलिये यह जौमर व्याकरण के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस व्याकरण से सम्बद्ध गणपाठ का प्रवचन स्वयं क्रमदीश्वर ने किया अथवा परिष्कर्त्ता जुमरनन्दी ने किया, यह अज्ञात है। इस गणपाठ में अनेक प्रधानभूत गणों का ही संकलन है।

व्याख्याता-न्यायपञ्चानन

जौमर गणपाठ पर न्यायपञ्चानन नामक वैयाकरण ने **'गणप्रकाश'** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है।

ज्ञातव्य है कि इसी विद्वान् ने जौमर व्याकरण पर गोयीचन्द्र विरचित टीका पर एक टीका भी लिखी है।

सारस्वत व्याकरणकार

सारस्वत सूत्रों के रचयिता नरेन्द्राचार्य (अथवा अनुभूतिस्वरूपाचार्य) ने अपने सूत्रों में अनेक गणों का निर्देश किया है। इस गणपाठ में भी प्राचीन गणपाठों के समान कुछ वैचित्र्य है। यथा—

१. पाणिनीय **स्वरादि** और **चादि** गणों का एक में समावेश है।

२. कात्यायन द्वारा उपसंख्यात **श्रत्** और **अन्तर्** शब्द का प्रादिगण में समावेश है और **संभस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्** आदि वार्तिक के उदाहरणों का **अजादि** में समावेश है।

३. पाणिनीय गणनामों का कहीं-कहीं परिवर्तन भी देखा जाता है। यथा—**गौरादिगण** का **नदादि** नामकरण।

४. कहीं-कहीं पाणिनि के विस्तृत सूत्रनिर्दिष्ट शब्दों के लिए भी गणों का निर्धारण किया है। यथा—

इन्द्रवरुणभवशर्व की दृष्टि से **इन्द्रादि** गण।

५. कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों द्वारा निर्धारित गणों की उपेक्षा भी की गयी है। सारस्वत गणपाठ इसकी **चन्द्रिका** टीका में उपलब्ध होता है।

बोपदेव

बोपदेव ने 'मुग्धबोध' व्याकरण से सम्बन्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। इसमें पणिनि के कुछ गणों के नामों में परिर्वतन किया गया है, अनेक अपरिवर्तित रूप से मिलते हैं। कल्याण्यादि, **शरत्प्रभृति** और **द्वारादि** जैसे कतिपय गणों के शब्दों को सूत्रों में ही पढ़ दिया गया है। मुग्धबोधकार द्वारा निर्धारित एक **तन्व्यादिगण** ही इसका मौलिक गण कहा जा सकता है। मुग्धबोध के **सर्वादिगण** में **पूर्वादि** शब्दों का निर्देश '**द्वि**' शब्दों के पीछे उपलब्ध होता है। यही क्रम सम्भवतः आपिशलि के गणपाठ में भी था।

पद्मनाभदत्त

पद्मनाभदत्त ने **सुपद्म** नामक एक संक्षिप्त व्याकरण लिखा था। इसकी उणादिवृत्ति में **सुपद्मनाभ** नाम मिलता है। डॉ० बेल्वाल्कर का मत है कि सौपद्मसम्प्रदाय के गणपाठ का निर्धारण काशीश्वर नाम के विद्वान् ने किया

था और रमाकान्त नामक वैयाकरण ने इस गण पाठ पर एक वृत्ति लिखी थी। पद्मनाभ ने 'पृषोदरादिवृत्ति' नामक एक विशिष्टग्रंथ सं० १४२७ वि० में लिखा।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित कतिपय वैयाकरण हैं जिनकी गणपाठ से सम्बन्ध कृतियाँ मिलती हैं। किन्तु उनका किसी व्याकरण विशेष से सम्बन्ध ज्ञात नहीं है—

कुमारपाल, बालकृष्णशास्त्री, अरुणदत्त, द्रविड वैयाकरण, नामपारायण ग्रंथ से सम्बद्ध पारायणिक, वसुक्र, वृद्धवैयाकरण तथा सुधाकर।

चौबीसवाँ अध्याय

उणादिसूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता

उणादिसूत्रों का शब्दानुशासन के खिलपाठ में समावेश

जब अत्यन्त प्राचीनकाल में सम्पूर्ण नाम शब्द यौगिक माने जाते थे, उस समय उणादिसूत्र शब्दानुशासन के कृदन्त प्रकरण के अन्तर्गत ही थे। जब संस्कृत भाषा के सहस्रों शब्द वैयाकरणों द्वारा रूढ मान लिए गये उस समय यौगिकत्वरूपी प्राचीनपक्ष की रक्षा के लिए शब्दों के धातु-प्रत्यय-निदर्शनार्थ वैयाकरणों ने उणादिसूत्रों को शब्दानुशासन से पृथक् कर उसे शब्दानुशासन के खिलपाठ अथवा परिशिष्ट का रूप दिया।

ऐसा करने पर वैयाकरणों की दृष्टि में उणादि सूत्रों का मूल्य कुछ भले ही कम हो गया हो किन्तु सम्पूर्ण शब्दों को यौगिक मानने वाले विद्वानों की दृष्टि में इनका मूल्य शब्दानुशासन के कृदन्त भाग से किसी प्रकार कम नहीं है।

यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने उणादिपाठ के लिए उणादि-कोश, उणादिनिघंटु तथा उणादिगण शब्दों का भी व्यवहार किया है।

उपलभ्यमान प्राचीन उणादिसूत्र

सम्प्रति उपलब्ध उणादिसूत्रों में पञ्चपादी और दशपादी उणादिसूत्र प्राचीन हैं। इनमें भी पञ्चपादी प्राचीनतर है।

पाणिनीय वैयाकरण इन दोनों प्रकार के उणादि सूत्रों को महत्त्व देते हैं। भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में पञ्चपादी उणादिसूत्रों को स्थान दिया है, जब कि प्रक्रिया कौमुदी के व्याख्याता विट्ठल ने अपनी व्याख्या में दशपादी उणादिसूत्रों की व्याख्या की है। अन्य अनेक पाणिनीय वैयाकरणों ने दोनों प्रकार के उणादिसूत्रों पर वृत्ति ग्रन्थ लिखे हैं।

प्रत्येक शब्दानुशासन प्रवक्ता को अपने व्याकरण की कृत्स्नता के लिए खिलपाठों का प्रवचन करना होता है। इस लिए प्रत्येक प्रवक्ता ने उणादि-सूत्रों का भी—खिल रूप से प्रवचन किया होगा किन्तु सम्प्रति न पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के उणादिपाठ ही उपलब्ध हैं, और न इस सम्बन्ध में कोई सूचना ही प्राप्त होती है।

जिन प्राचीन वैयाकरणों के उणादिसूत्रप्रवक्ता होने का संकेत अथवा उणादिपाठ उपलब्ध हैं, उनके विषय में आगे लिखा जाता है—

काशकृत्स्न

काशकृत्स्नप्रोक्त उणादिसूत्र उपलब्ध नहीं है। काशकृत्स्नधातुपाठ की कन्नड टीका के सम्पादक ने अपनी भूमिका में लिखा है कि चन्नवीर ने पुरुष-सूक्त की भी कन्नड टीका लिखी है। उस प्रसंग में सम्पादक महोदय ने काश-कृत्स्न ने दशपादी उणादि का निर्देश किया है। सम्पादक ने यह संकेत नहीं दिया है कि उसे काशकृत्स्न के दशपादी उणादि का संकेत कहाँ से मिला। सम्प्रति उपलब्ध दशपादी उणादिसूत्र पञ्चपादी सूत्रों से उत्तरकालीन हैं, अतः यह काशकृत्स्न का दशपादी उणादि पाठ नहीं हो सकता।

शन्तनु

आफ्रेक्ट ने अपनी बृहद् हस्तलेखसूची में आचार्य शन्तनु के उणादिसूत्र के हस्तलेख का संकेत किया है। शन्तनु का फिट्सूत्र उनके व्याकरण का ही एक अंश है, अतः शन्तनु ने किसी उणादिपाठ का प्रवचन भी किया हो, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

आपिशलि

आचार्य आपिशलि ने खिलरूप धातुपाठ और गणपाठ का प्रवचन किया था, यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है, अतः उणादिपाठ का भी प्रवचन अवश्य किया होगा,—यह स्वतः सिद्ध है। पुनरपि उनका उणादिपाठ सम्बन्धी कोई वचन अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

पञ्चपादी उणादिसूत्र भी इस विषय में सहायता नहीं करते क्योंकि आपिशल तथा पाणिनीय धातु, प्रत्यय और तत्सम्बद्ध अनुबन्ध प्रायः समान हैं, अतः यह निर्णय कठिन है कि पञ्चपादी उणादि का सम्बन्ध आपिशल व्याकरण से है या पाणिनीय व्याकरण से।

पाणिनीय प्रत्याहार सूत्र ञमङणनम् में जो वर्णानुपूर्वी है, उसे यदि **ङ ञ ण न म म्** इस प्रकार वर्णक्रम से रखा जाय तो पाणिनीय शब्दानुशासन में कोई दोष नहीं होगा क्योंकि उसमें ञकारान्त पद नहीं है, परन्तु इससे मकारान्तों को मुट् का आगम प्राप्त हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। तथापि आपिशलि के '**ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च**' शिक्षासूत्र और पाणिनि के '**ङ ञ ण न माः स्वस्थाना नासिकास्थानाः**' शिक्षासूत्र के अनुनासिक वर्णों के

पाठक्रम पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्याहार सूत्र का ञ म ङ ण न वर्णक्रम आपिशल अभिप्रेत है और इसी कारण उसने अपनी शिक्षा में भी उसी क्रम को अपनाया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनीय प्रत्याहारसूत्र में आपिशल वर्णक्रम को ही स्वीकार किया है, यह क्रम उसका अपना नहीं है।

आपिशलि ने प्रत्याहार सूत्र में वर्णक्रम का परित्याग करके ञ म ङ ण् नम् यह क्रम जो अपनाया, उसका उद्देश्य ञम् प्रत्याहार बनाना रहा हो। वह **ञम्** प्रत्याहार उणादिपाठ के **ञमन्ताड्डः** सूत्र में उपलब्ध होता है। यद्यपि यह सूत्र पञ्चपादी और दशपादी दोनों पाठों में सामान रूप से पठित है, पुनरपि दशपादी पाठ का प्रवचन पञ्चपादी पाठ के आधार पर हुआ है, इसलिए पञ्चपादी मूल होने से प्राचीन है। कई वैयाकरण पञ्चपादी उणादिपाठ को पाणिनि का प्रवचन मानते हैं परन्तु **ञमङणनम्** प्रत्याहार सूत्र **ञमङणनाः स्वस्थाना०** आपिशल शिक्षासूत्र और **'ञमन्ताड्डः'** उणादिसूत्र की तुलना करने पर यही प्रतीत होता है कि दशपादी पाठ का मूल आधार पञ्चपादी पाठ आचार्य आपिशलि द्वारा प्रोक्त है और दशपादी पाठ सम्भवतः आचर्य पाणिनि द्वारा परिष्कृत है। ध्यान रहे कि यह अनुमानमात्र है, इसलिए यदि पञ्चपादी सूत्र आपिशलिप्रोक्त नहीं हों, तो ये निश्यचय ही पणिनि प्रोक्त होंगे।

पाणिनि

आचार्य पाणिनि ने अपने पञ्चाङ्ग व्याकरण की पूर्ति के लिए तथा **उणादयो बहुलम्** (अष्टा० ३।३।१) सूत्र संकेतित उणादिप्रत्ययों के निदर्शन के लिए किसी उणादिपाठ का प्रवचन किया था, यह निश्चित है। किन्तु सम्प्रति उपलभ्यमान पञ्चपादी और दशपादी दोनों प्रकार के उणादिसूत्रों में कौन सा पाणिनिप्रोक्त है, इसकी विवेचना आवश्यक है।

पञ्चपादी का प्रवक्ता

कैयट, पञ्चपादीवृत्तिकार श्वतेवनवाशी, नागेशभट्ट, सिद्धदान्तकौमुदी के व्यख्याता वासुदेव दीक्षित आदि कतिपय अर्वाचीन वैयाकरण, महाभाष्य के **'व्याकरणे शकटस्य च तोकम्'** वचन के आधार पर उणादिपाठ को शाकटायन प्रोक्त मानते हैं; जब कि महाभाष्यकार ने अपने वचन से इनना ही संकेत किया है कि वैयाकरणों में शाकटायन सम्पूर्ण नामशब्दों को धातुज मानता है।

दूसरी ओर प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने पञ्चपादी उणादिपाठ के 'मकुरदुर्दुरौ' सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि पाणिनि मकुर और दुर्दुर कहता

है और भोजराट् मुकुर और दर्दुर मानता है। स्पष्ट है कि नारायणभट्ट इस पाठ को पाणिनीय मानता है।

शिशुपालवध (१६।७५) में माघकवि किसी उणादिपाठ को पाणिनि प्रोक्त मानता है। शिशुपालवध के प्राचीन टीकाकार वल्लभदेव ने जो उणादि सूत्र उद्धृत किया है वह पञ्चपादी सूत्रों के कतिपय पाठों के अनुकूल है।

पञ्चपादी उणादिसूत्रों के व्याख्याता स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इन्हें पाणिनीय मानते हैं।

दशपादी पाठ का प्रवक्ता

दशपादी पाठ का प्रवक्ता कौन है, यह अभी तक निश्चित रूप से अज्ञात है। प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता बिट्ठल ने उणादिप्रकरण में दशपादी उणादिपाठ की व्याख्या की है। कतिपय पाणिनीय वैयाकरणों ने दशपादी पाठ पर वृत्तियाँ भी लिखी हैं। इसके अतिरिक्त इसकी पाणिनीयता में अन्य हेतु भी उपस्थित किये जा सकते हैं। यथा—

१. **हयवरट्** प्रत्यहार सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि द्वारा उद्धृत प्राचीन सूत्र 'जीवेरदानुक्' दशपादी पाठ में ही उपलब्ध होता है, पञ्चपादी में नहीं। इस सूत्र को काशिकाकार ने भी ६।१।६६ की वृत्ति में उद्धृत किया है।

२- पाणिनीय व्याकरण के अनेक व्याख्याताओं ने दशपादी सूत्रों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। यथा—वामन ने काशिकावृत्ति (६।२।४३) में यूप शब्द के लिए **'कुसुयुभ्यश्च'** और हरदत्त मिश्र ने काशिका (७।४।४८) में वार्तिक के उषस् शब्द की सिद्ध के लिए **वसेः** किद् सूत्र उद्धृत किया है।

३. क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में उणादिसूत्रों के उद्धारण में दशपादी पाठ को स्वीकार किया है।

४. (क) देवराज यज्वा द्वारा निघण्टुटीका २।५।१६, पृष्ठ १६८ में उद्धृत सूत्र 'वृक्षावयवाच्च' दशपादी के **'वृक्षावयव आ च'** का ही लेखक प्रमादजन्य पाठ है। अन्यत्र यह नहीं मिलता।

(ख) निघण्टुटीका २।३।६, पृष्ठ १८० में देवराज यज्वा द्वारा उद्धृत सूत्र **'अहनिभ्यामुन्'** दशापादी में ही उपलब्ध होता है।

(ग) अमरकोष के व्याख्याकार क्षीरस्वामी, सर्वानन्द, भानुजिदीक्षित प्रभृति ने 'अनड्वान्' पद के निर्वचन (अमर० २।६।६०) में जो सूत्र उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

'अनसि वहेः क्विनसो डश्च'

न्यास (भाग २, पृष्ठ २६८) तथा पदमञ्जरी(भाग २, पृष्ठ ५०३) में भी यह सूत्र उद्धृत है । वहाँ इसका पाठ **'अनसि वहेः क्विब् डश्चानसः'** है । उक्त सूत्र केवल दशपादी पाठ में ही उपलब्ध होता है वहाँ इसका पाठ **'वहेः क्विबनसो डश्च'** है । अमरकोष की टीकाओं न्यास तथा पदमञ्जरी में उद्धृत पाठ सम्भव है अर्थानुवाद रूप में हों परन्तु इन पाठों का मूल दशपादी उणादिसूत्र ही है । यह सूत्र पञ्चपादी में किसी रूप में भी उपलब्ध नहीं होता ।

५. दशपादी पाठ में अकार विशिष्ट कान्त से लेकर हान्त शब्दों में साधक सूत्रों का पाठ है । यह अन्त्यवर्णानुसारी संकलन प्रकार पाणिनीय लिङ्गानुशासन में भी **'कोपधः' 'टोपधः' 'णोपधः'** आदि में देखा जाता है ।

६. पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा दशपादी उणादिपाठ दोनों में, जो प्रत्यय धातुमात्र से इष्ट हैं, उनमें 'सर्वधातु' शब्द का निर्देश न करके प्रत्यय मात्र का निर्देश मिलता है । यथा—

अष्टाध्यायी—ण्वुल्तृचौ । तृन् । वर्तमाने लट् । लुङ् ।

दशपादी उणादिपाठ—इन् । असुन् । ष्ट्रन् । मनिन् ।

पञ्चपादी पाठ में इन प्रत्ययों के प्रसंग में सर्वत्र 'सर्वधातु' शब्द का निर्देश उपलब्ध होता है । यथा—सर्वधातुभ्य इन् । सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । सर्वधातुभ्योऽसुन् । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उपर्युक्त प्रमाणों से प्रतीत होता है कि उपरिर्निदिष्ट ग्रन्थकार दशपादी पाठ को पाणिनीय मानते हैं ।

दशपादी पाठ को पाणिनीय न मानने में एक युक्ति यह दी जा सकती है कि पाणिनि ने **'उणादयो बहुलम्'** सूत्र में उण प्रत्यय के साथ आदि पद का संयोग किया है । दशपादीपाठ में अनि प्रत्यय प्रारम्भ में है, उण प्रत्यय का निर्देश प्रथम पाद के अस्सीवें सूत्र में ही पठित है ।

इसका समाधान यह हो सकता है कि पाणिनि ने अपने कई सूत्रों में 'आदि' पद को प्रकारवाची माना है । पतञ्जलि ने भी 'भूवादयोधातवः' सूत्र में 'वा' पद के साथ संयोजित आदि पद को पक्षान्तर में प्रकारवाची कहा है । ऐसी अवस्था में पूर्व आचार्यों के निर्देशानुसार 'उणादयो बहुलम्' सूत्र पढ़ते हुए 'आदि' पद को प्रकारवाची माना जा सकता है ।

आपिशलि के प्रकरण में पञ्चपादी उणादिसूत्रों के आपिशलिप्रोक्त होने की संभावना में जो युक्त उपस्थित की गयी है, उसके अनुसार पञ्चपादी उणादिसूत्र आपिशलि-प्रोक्त और दशपादी उणादिसूत्र पाणिनिप्रोक्त है, ऐसा माना जा सकता है ।

वास्तविकता यह है कि पञ्चपादी और दशपादी दोनों उणादिपाठों के प्रवक्ता अनिर्ज्ञात हैं।

पञ्चपादी—उणादिपाठ

पञ्चपादी का मूल त्रिपादी—वर्तमान पञ्चपादी उणादिसूत्रों में दो शैली उपलब्ध होती है। एक शैली तो यह है कि पूर्वपाद के अन्त का और उत्तर पाद का आदि प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं। यथा—प्रथम पाद के अन्त में **कनिन्** प्रत्यय और द्वितीय पाद के आरम्भ में **ऐणु** प्रत्यय। इसी प्रकार चतुर्थपाद के अन्त में **कनसि** प्रत्यय और पञ्चम पाद के आरम्भ में डुतच् प्रत्यय।

दूसरी शैली यह है कि पूर्वपाद के अन्त में वर्तमान प्रत्यय का ही उत्तर पाद के प्रथम सूत्र में सम्बन्ध रहता है। यथा—द्वितीय पाद के अन्त में श्रूयमाण **ष्वरच्** प्रत्यय का तृतीय पाद के प्रथम सूत्र में, तथा तृतीय पाद के अन्त में श्रूयमाण '**ई**' प्रत्यय का ही चतुर्थ पाद के प्रथम सूत्र में सम्बन्ध है।

यह द्वितीय शैली प्राचीन है। निरुक्त और शतपथ में भी इस शैली का दर्शन होता है। इस प्राचीन शैली के अनुसार यदि विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि पञ्चपादी उणादिपाठ के मूल पाठ में तीन ही पाद थे।

(१) पूर्वपाठ के प्रथम पाद में—वर्तमान प्रथम और द्वितीय पाद।
(२) ,, ,, द्वितीय पाद में—वर्तमान तृतीय पाद।
(३) ,, ,, तृतीय पाद में—वर्तमान चतुर्थ और पञ्चम पाद थे।

पञ्चपादी के व्याख्याकार

यों तो पञ्चपादी पर प्राप्य-अप्राप्य कुल मिलाकर २२ बाईस वृत्तियों और वृत्तिकारों के विविधकालिक अस्तित्व का उल्लेख मिलता है, किन्तु इस लघुकाय ग्रंथ में केवल उन्हीं प्रसिद्धतम वृतिकारों के विषय में कुछ संक्षेप में लिखा जायगा जिनकी वृत्तियाँ सम्प्रति उपलब्ध हैं।

उज्ज्वलदत्त

उज्ज्वलदत्त 'पञ्चपादी उणादि' के सर्वप्रसिद्ध वृत्तिकार हैं। इनकी वृत्ति सम्प्रति उपलब्ध है। इसका प्रथम सम्पादन थोडेर आफ्रेक्ट ने किया था।

उज्ज्वलदत्त का दूसरा नाम जाजलि था। इनकी उणादिवृत्ति के एक पाठ (जिसमें वल्गु शब्द को बल्गु समझ लिया है) से ज्ञात होता है कि ये बंगाल के निवासी थे।

सायण ने माधवीया धातुवृत्ति में उज्ज्वलदत्त का नामोल्लेख किया है, जब कि उज्ज्वलदत्त ने मेदिनीकार का उल्लेख किया है। सायण का काल वि० सं० १३७२—१४४४ निश्चित है। मेदिनीकार का काल विक्रम की १२ वीं शती के उत्तरार्ध से पूर्व है। उधर उज्ज्वलदत्त ने पुरुषोत्तमदेव का भी उल्लेख किया है। उनके बाद के किसी लेखक का उल्लेख उज्ज्वलदत्त की वृत्ति में नहीं है। स्पष्ट है कि उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति का प्रणयन पुरुषोत्तमदेव के ग्रन्थप्रणयन और टीका सर्वस्व लेखन के मध्य किया है। इसलिए उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति का काल सामान्यतया वि० सं० १२०० के आस-पास मानना युक्त है।

श्वेतवनवासी

श्वेतवनवासी नामक वैयाकरण ने पञ्चपादी उणादिपाठ पर एक उत्कृष्ट वृत्ति लिखी है। इसका प्रकाशन मद्रास विश्वविद्यालय से हुआ है।

श्वेतवनवासी के पिता का नाम आर्यभट्ट था। ये धर्मशास्त्र में पारंगत और गार्ग्य गोत्र के थे। श्वेतवनवासी इन्दु ग्राम समीपवर्ती अग्रहार (= ब्राह्मण वसति) का निवासी था। इसके पूर्वज उत्तरमेरु (मद्रास प्रान्त के चंगलपट नामक जिले में स्थित) में रहते थे। इन सब बातों का संकेत श्वेतवनवासी ने स्वयं किया है।

इस वृत्ति के सम्पादक ने श्वेतवनवासी का काल विक्रम की ११वीं शती से लेकर १७ वीं शती के मध्य सामान्य रूप से माना है। किन्तु अनेक उपलब्ध प्रमाणों पर विचार करने के बाद इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि श्वेत-वनवासी का काल विक्रम की १२ वीं शताब्दी है। १३ वीं शती से अर्वाचीन तो उसे किसी प्रकार नहीं मान सकते।

भट्टोजि दीक्षित

भट्टोजि दीक्षित सर्वप्रथम पाणिनीय वैयाकरण हैं जिन्होंने पंचपादी को पाणिनीय व्याकरण का अभिन्न अंग मानकर अपनी 'सिद्धान्तकौमुदी' में उसे स्थान दिया और उसपर वृत्ति लिखी। यह वृत्ति प्राच्य पाठ पर है। सिद्धान्त-कौमुदी के सभी परवर्ती टीकाकारों ने दीक्षित की उणादिवृत्ति पर भी टीकाएँ कीं।

इनके अतिरिक्त जिन लेखकों ने दीक्षित कृत प्रौढमनोरमा, नागेश के लघुशब्देन्दुशेखर, बृहत्शब्देन्दुशेखर आदि पर टीका ग्रन्थ लिखे, उन्होंने भी प्रसंगवश उणादिभाग पर कुछ न कुछ लिखा है।

नारायणभट्ट

नारायण भट्ट ने पाणिनीय व्याकरण पर **'प्रक्रियासर्वस्व'** नामक एक ग्रन्थ लिखा है। उसके कृदन्त प्रकरण में उणादि सूत्रों पर भी संक्षिप्त वृत्ति लिखी है। इसवृत्ति में नारायण भट ने स्थान स्थान पर भोजदेव द्वारा विवृत औणादिक शब्दों का भी संग्रह किया है, यह इसकी एक विशेषता है। यह वृत्ति उणादि के दाक्षिणात्यपाठ पर है।

नारायण भट्ट के प्रक्रियासर्वस्व पर जिन विद्वानों ने टीकाएँ की हैं, उन्होंने प्रसङ्ग प्राप्त उणादिवृत्ति की भी टीकाएँ कीं।

महादेव वेदान्ती

महादेव वेदान्ती ने उणादिसूत्रों पर लघ्वी वृत्ति लिखी है। इसका प्रकाशन अडियार (मद्रास) से हो चुका है।

परिचय—महादेव वेदान्ती ने सांख्यदर्शन पर भी वृत्ति लिखी है। महादेव वेदान्ती का उल्लेख वेदान्ती महादेव, महादेव सरस्वती वेदान्ती के नाम से भी मिलता है। वाचस्पति गैरोला ने अंग्रेजी भाषाविज्ञों के अनुकरण पर महादेव वेदान्तिन् पद का प्रयोग किया है, वह चिन्त्य है। महादेव वेदान्ती के गुरु का नाम स्वयंप्रकाश सरस्वती है। महादेव वेदान्ती ने इन्हीं का नाम स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती लिखा है। तत्त्वचन्द्रिका में इन्हीं का नाम सच्चिदानन्द सरस्वती मिलता है।

काल—रिचॅर्ड गार्बे ने अनिरुद्ध वृत्ति के उपोद्घात में महादेव वेदान्ती का काल १६०० ई० (वि० सं० १६५७) माना है। 'सांख्यदर्शन का इतिहास' के लेखक उदयवीर शास्त्री, महादेव वेदान्ती का काल १३ वीं शती मानते हैं।

महादेव वेदान्ती ने अपनी 'विष्णुसहस्रनाम' की टीका का लेखनकाल स्वयं वि० सं० १७५० लिखा है। अतः इनका यही निश्चित काल मानना युक्त है। महादेव वेदान्ती ने अपनी उणादिवृत्ति का नाम 'निजविनोदा' लिखा है।

वाचस्पति गैरोला ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ के कोश प्रकरण में महादेव वेदान्तिन् विरचित 'अनादिकोश' का उल्लेख किया है (द्र०—पृष्ठ ७८२)। इसमें दो भूल हैं। प्रथम—ग्रन्थ का नाम 'उणादिकोश' है, 'अनादिकोष' नहीं। द्वितीय—यह व्याकरण ग्रन्थ है, कोशग्रन्थ नहीं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादि पाठ पर एक व्याख्या लिखी है। यह 'उणादिकोष' के नाम से वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित हुई।

स्वामी दयानन्द ने इसकी रचना महाराणा सज्जनसिंह के राज्यकाल में मेवाड़ की राजधानी उदयपुर नगर में वि० सं० १९३९ में की थी। इसकी भूमिका के अन्त में ग्रन्थ रचना का समय वि० सं० १९३९, माघ कृष्णा प्रतिपद् अङ्कित है।

वृत्ति का वैशिष्ट्य

यह वृत्ति स्वल्पाक्षरा होने पर भी उणादिवाङ्मय में सबसे महत्त्व-पूर्ण है।

महाभाष्यकार ने 'उणादयो बहुलम्' (अष्टा० ३।३।१) सूत्रस्थ बहुल पद का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि नैगम और रूढ़ और औणादिक शब्दों के भले प्रकार साधुत्वज्ञापन के लिए पाणिनि ने 'बहुल' पद का निर्देश किया है।

इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार वैदिक शब्दों को रूढ नहीं, यौगिक तथा योगरूढ़ मानते हैं। इसी प्रसङ्ग में पतञ्जलि ने शाकटायन के मत में सम्पूर्ण शब्दों को धातुज कहा है। नैरुक्त आचार्यों का भी यही मत है।

ऐसी अवस्था में उणादिवृत्तिकार का कर्तव्य है कि वह दोनों पक्षों का समन्वय करता हुआ प्रत्येक औणादि पद का यौगिक, योगरूढ तथा रूढ अर्थों का निर्देश करे। सम्प्रति उणादि सूत्रों की जितनी वृत्तियाँ उपलब्ध हैं, उन सभी में औणादिक शब्दों को रूढ मान कर ही अर्थ-निर्देश किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने दोनों पक्षों के समन्वयात्मक दृष्टि से उक्त परम्परा का परित्याग कर अपनी वृत्ति में अनेक औणादिक शब्द के यौगिक और रूढ दोनों प्रकार के अर्थों का निर्देश किया है। यथा——

करोतीति कारुः—कर्ता शिल्पी वा।

वाति गच्छति जानाति वेति वायुः—पवनः परमेश्वरो वा।

पाति रक्षति स पायुः—रक्षकः, गुदेन्द्रियं वा।

प्रथम और तृतीय पाठ में **'कर्ता'** और **'रक्षक'** यौगिक अर्थ है तथा **शिल्पी** और गुदेन्द्रिय रूढ़ अर्थ है।

('सर्वेगत्यर्था ज्ञानार्था:' से अनुसार)
द्वितीय पाठ में भी वाति का परमेश्वर का भी वायु पद से ग्रहण 'जानाति' अर्थ के अनुसार सर्वज्ञ भगवान् होता है, यह दर्शाया है।

इस वृत्ति की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्थान-स्थान पर निरुक्त, निघण्टु, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में निर्दिष्ट वैदिक अर्थों का उल्लेख किया गया है। यथा—

वर्तते सदैवासौ वृत्रः—मेघः, शत्रुः, तमः, पर्वतः, चक्रं वा।

इसी लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी व्याख्या के लिए '**वैदिक-लौकिकको**ष' पद का उल्लेख किया है, जब कि उनसे पूर्ववर्ती कतिपय वृत्तिकारों ने केवल '**उणादिकोश**' शब्द का व्यवहार किया है—

'इति उणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे…।'

अन्य

इनके अतिरिक्त आर्यासप्तशतीकार के रूप में प्रसिद्ध गोवर्धन (१२०० वि० से पूर्व), कामोदर, (१२०० वि० से पूर्व), पुरुषोत्तमदेव (१२०० वि० से पूर्व) मूतीवृत्तिकार (१२०० वि०), दिद्याशील (१२५० वि० के लगभग), रामभद्र दीक्षित (सं० १७१०—१७६० वि०), वेङ्कटेश्वर (१७६० वि० के समीप), पेरुसूरि (१७६०—१८०० वि०), नारायण-सुधी शिवराम (१८५० वि० के समीप) और रामशर्मा (१९४० वि० से पूर्व) ने भी पंचपादी उणादिसूत्रों पर ही अपनी वृत्तियाँ लिखी हैं। इनमें से सबका सम्पादन और प्रकाशन नहीं हो पाया है।

किसी अज्ञात नाम वैयाकरण का पञ्चपादी पर भाष्य नामक व्याख्या ग्रन्थ उज्ज्वलदत्त द्वारा निर्दिष्ट है। इसी प्रकार पंचपादी पर चार वृत्तियों के हस्तलेख अथवा सूची पत्रों में निर्देश मिलते हैं जिनके रचयिताओं के नाम ज्ञात नहीं हैं।

दशपादी उणादिपाठ

पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा आश्रित उणादिसूत्रों का पाठ 'दशपादी उणादिपाठ' के नाम से प्रसिद्ध है।

दशपादी उणादिपाठ का संकलन उणादिसिद्ध शब्दों के अन्त्यवर्णक्रम के अनुसार किया गया है। यह संकलन भी पञ्चपादी पाठ पर आश्रित है अर्थात् तत्तद् अन्त्यवर्णवाले शब्दों के साधक सूत्रों का संकलन करते समय पहले

पञ्चपादी के प्रथमपाद के सूत्रों का संकलन किया गया है। तत्पश्चात् क्रमशः द्वितीय, चतुर्थ और पञ्चम पाद के सूत्रों का।

यद्यपि दशपादी पाठ के प्रवक्ता ने अपना मुख्य आधार पञ्चपादी पाठ को बनाया है तथापि इसमें उस प्रवक्ता का स्वोपज्ञात अंश भी अनेकत्र उपलब्ध होता है। यथा—

(१) दशपादी के संकलन में जहाँ-जहाँ अनुवृत्ति-दोष उपस्थित हो सकता था, वहाँ-वहाँ तत्तद् विशिष्ट अंशों को जोड़ कर अनुवृत्ति दोष को दूर किया है।

(२) दशपादी पाठ में कई ऐसे सूत्र हैं, जो पञ्चपादी में उपलब्ध नहीं होते। इन सूत्रों का संकलन या तो किन्हीं अन्य प्राचीन उणादि पाठों से किया है अथवा ये सूत्र उसके मौलिक वचन रूप।

दशपादी के वृत्तिकार

दशपादी पाठ पर पंचपादी पाठ के समान अनेक वैयाकरणों ने वृत्तिग्रन्थ लिखे होंगे किन्तु सम्प्रति तीन ही वृत्तिग्रन्थ उपलब्ध हैं और उनमें से भी अति महत्त्वपूर्ण प्राचीनतर वृत्ति तथा उसके आधार पर लिखी गयी एक अन्य वृत्ति के लेखक ना नाम अन्धकारावृत्त है।

इन वृत्तियों में एक जो अत्यन्त महत्त्व पूर्ण प्राचीनतर वृत्ति है, उसका सम्पादन वैयाकरणवरेण्य श्री युधिष्ठिर मीमांसक ('संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के प्रसिद्ध लेखक) ने किया है। यह संस्करण राजकीय संस्कृत-कालेज (आधुनिक वारणसेय संस्कृस्त विश्वविद्यालय) वाराणसी की सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में सन् १९४२ ई० में प्रकाशित हो चुका है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। इस वृत्ति की रचना सं० ७०० वि० से पूर्व हुई है, ऐसा उन प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है, जिनमें इस वृत्ति के पाठ उद्धृत हैं।

दशपादी पर दूसरी उपलब्ध वृत्ति भी खण्डित अवस्था में है और अपूर्ण है। इसके भी लेखक का परिज्ञान नहीं है।

तीसरी वृत्ति 'प्रक्रियाकौमुदी' के प्रसिद्ध टीकाकार **विट्ठलाचार्य** की है। इन्होंने 'प्रक्रियकौमुदी' की टीका में उणादिप्रकरण में दशपादी उणादिपाठ पर एक अति संक्षिप्त व्याख्या लिखी है।

सरस्वतीकण्ठाभरण के वृत्तिकारों को ही इसी उणादिपाठ के वृत्तिकार समझिए।

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण से संबद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया था। उस पर स्वयं **विवृति** लिखी थी जिसका 'विवरण' शब्द से भी निर्देश मिलता है।

यह उणादिपाठ सबसे अधिक विस्तृत है। इसमें १००६ सूत्र हैं। इसकी व्याख्या भी विस्तृत है। इसका परिमाण २८०० श्लोक है।

हेमचन्द्र की 'बृहद्वृत्ति' के संक्षेप के रूप में एक 'उणादिगणसूत्रावचूरि' नाम्नी व्याख्या मिलती है। लेखक का नाम अज्ञात है।

शुभशील नामक वैयाकरण ने हैमउणादिपाठ पर **'उणादिनाममाला'** वृत्ति लिखी है। इसका काल वि० की १५ वीं शती का उत्तरार्द्ध है।

पच्चीसवाँ अध्याय

लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता और व्याख्याता

स्त्रीत्व, पुंस्त्व आदि लिङ्ग जैसे प्राणिजगत् के प्रत्येक व्यक्ति के संस्थान के साथ सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार स्त्रीत्व, पुंस्त्व आदि लिङ्ग प्रत्येक नाम शब्द से अविभाज्य अङ्ग हैं। इसलिए लिङ्गानुशासन, शब्दानुशासन का एक अवयव है। उसके अनुशासन के बिना शब्द का अनुशासन अधूरा रहता है। इतना होने पर भी लिङ्गानुशासन, विशिष्ट सूत्र अथवा सूत्रों के साथ सम्बद्ध नहीं है। उसे तो शब्दानुशासन का साक्षात् अवयव ही मानना होगा। इसी लिए प्राय. प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता ने अपने शब्दानुशासन से सम्बद्ध लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया। कतिपय ऐसे भी ग्रन्थकार हैं, जिन्होंने शब्दशास्त्र का प्रवचन न करते हुए, लिङ्गज्ञान की कठिनाई दूर करने के लिए केवल लिङ्गानुशासन का ही प्रवचन किया। यथा हर्षवर्धन तथा वामन आदि ने।

यहाँ कतिपय प्रसिद्ध लिङ्गानुशासन ग्रन्थकारों के विषय में संक्षेप में लिखेंगे।

व्याडि

आचार्य व्याडिविरचित लिङ्गानुशासन का उल्लेख हेमचन्द्र के लिङ्गानुशासनविवरण, वामन के लिङ्गानुशासन तथा हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन में मिलता है। वामन के अनुसार व्याडि का लिङ्गानुशासन सूत्रबद्ध और विस्तृत था—

'पूर्वाचार्यैर्व्याडिप्रमुखैर्लिङ्गानुशासनं सूत्रैरुक्तं, ग्रन्थविस्तरेण च।'

(वामनीय लिङ्गानुशासनवृत्ति, पृष्ठ २)

पाणिनि

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन से सम्बद्ध लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया था। यह लिङ्गानुशासन सम्प्रति उपलब्ध है और एतद्विषयक आर्षग्रन्थों में यही अवशिष्ट है। यह सूत्रात्मक है।

कीथ को इसकी प्राचीनता पर सन्देह है। उनका कहना है कि पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध लिङ्गानुशासन इतना प्राचीन नहीं हो सकता। किन्तु इस विषय में वे कोई युक्ति अथवा प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते।

महाभाष्यकार ने (७।१।३३) में कात्यायन के **'न वा लिङ्गाभावात्'** वार्तिक की व्याख्या करते हुए लिखा है—**अलिंगे युष्मदस्मदी।**

कात्यायन के उक्त वार्तिक और महाभाष्यकार के व्याख्यान की, पाणिनीय लिङ्गानुशासन के **'अविशिष्टं लिङ्गम्, अव्ययं कतियुष्मदस्मदः'** सूत्रों के साथ तुलना करने से स्पष्ट है कि कात्यायन और पतञ्जलि इस पाणिनीय लिङ्गानुशासन से परिचित थे।

सभी उत्तरवर्ती पाणिनीय वैयाकरण, वर्तमान इस लिङ्गानुशासन को एकस्वर से पाणिनीय मानते हैं।

अतः कीथ का निर्युक्तिक और प्रमाण रहित लेख सर्वथा हेय है। इसी लिङ्गानुशासन को प्रमाणिक मानकर प्रक्रियाकौमुदीकार रामचन्द्र, सिद्धान्त-कौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित, प्रक्रिया सर्वस्वकार नारायणभट्ट, भैरवमिश्र तथा तारानाथ तर्कवाचस्पति आदि ने इसकी व्याख्या की है। भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी के अतिरिक्त शब्दकौस्तुभ में भी लिङ्गानुशासन की टीका की है जो अपेक्षाकृत विस्तृत है।

चन्द्राचार्य (चन्द्रगोमी)

चन्द्राचार्य-प्रोक्त लिङ्गानुशासन के पाठ हैमलिङ्गानुशासन विवरण तथा सर्वानन्द के अमरटीकासर्वस्व आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं; अमरटीकासर्वस्व में उद्धृत पाठों से विदित होता है कि यह लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था। यह इस समय अप्राप्य है।

चन्द्राचार्य ने अपने लिङ्गानुशासन पर भी वृत्ति लिखी थी।

वररुचि (विक्रम समकालीन)

वररुचि नामक वैयाकरण ने आर्याछन्द में लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया है। यह लिङ्गानुशासन मूल और किसी संक्षिप्त वृत्ति के साथ, हर्ष-वर्धन के लिङ्गानुशासन के अन्त में छपा है।

इस लिङ्गानुशासन के अन्त में जो पाठ उपलब्ध होता है, उससे विदित होता है कि ग्रन्थ का नाम 'लिङ्गविशेषविधि' है और ग्रन्थकार आचार्य वररुचि विक्रमादित्य के सम्मानित सभापण्डित थे।

जिनेन्द्रविरचित काशिकाविवरणपञ्जिका में इस ग्रन्थ का उद्धरण 'लिङ्गकारिका' नाम से मिलता है।

हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन की व्याख्या में इसका ८वाँ श्लोक उद्धृत किया गया है।

विश्वेश्वरानन्द संस्थान होशियारपुर के संग्रह में विद्यमान 'लिङ्गविशेष-विधि' की टीका के हस्तलेख की अन्तिम पुष्पिका के पाठ से ध्वनित है कि यह टीका वररुचि की स्वोपज्ञा है।

अमरसिंह (विक्रमकालीन)

अमरसिंह ने अपने कोश के तृतीय काण्ड के पाँचवें वर्ग में 'लिङ्गादि-संग्रह' किया है। भारतीय परम्परा के अनुसार अमरसिंह महाराज विक्रम का सभ्य है। पाश्चात्य और उनके मतानुयायी विद्वान् अमरसिंह को वि० सं० ३००–४०० के लगभग मानते हैं।

अमरकोश के सभी व्याख्याकारों ने उसके इस भाग पर भी व्याख्या लिखी है।

देवनन्दी

आचार्य देवनन्दी अपरनाम पूज्यपाद ने अपने व्याकरण से संबद्ध लिङ्गानु-शासन का भी प्रवचन किया था, इसका साक्षात् उल्लेख वामन ने अपने **'लिङ्गानुशासन'** के अन्त में इस प्रकार किया है—

> व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रम्,
>
> जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथान्यत्। (श्लोक ३१)

नन्दी के नाम से जैनेन्द्रलिङ्गानुशासन के अनेक उद्धरण हैमलिङ्गानु-शासन विवरण में मिलते हैं।

देवनन्दी का लिङ्गानुशासन इस समय अप्राप्य है।

शंकर

शंकरप्रोक्त लिङ्गानुशासन का उल्लेख हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन में तथा वररुचि के 'लिङ्गविशेषविधि' की टीका के आरम्भ में मिलता है। लिङ्गशास्त्रप्रवक्ता शंकर, रूपावतार के टीकाकार शंकर से भिन्न और अति प्राचीन ग्रन्थकार हैं।

हर्षवर्धन

हर्षवर्धन प्रोक्त लिङ्गानुशासन जर्मनी से प्रकाशित हुआ है। उसके पश्चात् मद्रास विश्वविद्यालय से पं० वे० वेङ्कटराम शर्मा द्वारा सम्पादित संस्करण प्रकाशित हुआ है।

हर्षवर्धन, बाण आदि के आश्रयदाता श्री हर्ष हैं। इनका राज्यकाल वि० सं० ६५७—७०४ तक माना जाता है। ग्रन्थ में निर्दिष्ट '**श्रीवर्धनस्यात्मज:**' का 'वर्धन' पद श्रीहर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन का वीरुद् हो सकता है।

आफेक्ट इस मत को स्वीकार नहीं करता। लिङ्गानुशासन के सम्पादक का मत भी भिन्न है। उनका कथन है कि 'ग्रन्थकार द्वारा पादग्रहणपूर्वक व्याख्या लिखने का आग्रह किया' ऐसा लिखा है। हर्षवर्धन जैसे सम्राट् का टीकाकार से पादग्रहणपूर्वक निवेदन करना असम्भव है। अत: इसका लेखक कोई अन्य हर्षवर्धन है।

सम्पादक के इस कथन में कोई वजन नहीं है। भारतीय इतिहास में बड़े-बड़े सम्राट्, विद्वानों के चरणों में नतमस्तक होते रहे हैं। वररुचि के लिङ्गानुशासन के अन्त में भी पाठ मिलता है—'**विक्रमादित्यकिरीटकोटिनिघृष्टचरणारविन्दाचार्यवररुचिविरचितो०**'। अत: 'पादग्रहणपूर्वकम्' निर्देश मात्र से अन्य हर्ष की कल्पना अन्याय्य है।

इसमें वामन के लिङ्गानुशासन का निर्देश न होने से उससे यह प्राचीन है, इतना स्पष्ट है।

इस लिङ्गानुशासन की एक टीका उपलब्ध होती है। उसके हस्तलेखों में भिन्न-भिन्न दो टीकाकारों के नाम मिलते हैं। नामद्वैध के कारण टीकाकार के नाम का निश्चय करना कठिन है।

दुर्गसिंह

दुर्गसिंह विरचित लिङ्गानुशासन पूना से प्रकाशित हुआ है। इसकी व्याख्या भी दुर्गसिंह कृत ही है। व्याख्याप्रसंग में कातन्त्रसूत्रों के उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि इसका सम्बन्ध कातन्त्रव्याकरण के साथ है। यह दुर्गसिंह कातन्त्रव्याकरण का वृत्तिकार दुर्गसिंह है।

वामन

वामन ने एक आर्याछन्दोबद्ध संक्षिप्त लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया है। इसमें कुल ३३ कारिकाएँ हैं। इस पर वामन की स्वोपज्ञ वृत्ति भी है।

वामन ने अपना कोई परिचय नहीं दिया। वामनीय लिङ्गानुशासन के प्रथम सम्पादक चिम्मनलाल डी० दलाल, अलंकारशास्त्रप्रणेता वामन को इस वामन से अभिन्न मानते हैं। इतना तो स्पस्ट है कि लिङ्गानुशासनकार वामन वि० सं० ६०० से उत्तरवर्ती किसी भी प्रकार नहीं है क्योंकि वामन ने अपनी वृत्ति में ८ वीं शती से उत्तरकालीन किसी ग्रन्थ का उद्धरण नहीं दिया है। हाँ, पृष्ठ ८ पर ८ वीं कारिका की वृत्ति में हर्ष के लिङ्गानुशासन की एक पंक्ति उद्धृत मिलने से स्पष्ट है कि वामन, हर्ष से उत्तरवर्ती है। ऐसा भी हो सकता है कि हर्ष ने ही वामन की पंक्ति का आधार लिया हो, ऐसी स्थिति में वामन का काल वि० सं० ७०० से पूर्व होगा।

पाल्यकीर्ति (शाकटायन)

पाल्यकिर्ति ने अपने व्याकरण से संबद्ध लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया था। यह पद्यबद्ध है। हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के मद्रास संस्करण के अन्त में शाकटायन लिङ्गानुशासन किसी वृत्ति संक्षेप के साथ मुद्रित है।

शाकटायन के लिङ्गानुशासन में कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों की संज्ञाओं का भी निर्देश है।

इस लिङ्गानुशासन पर एक व्याख्या मिलती है जो या तो मूलग्रन्थकार की हो सकती है या यक्षवर्मा की। शाकटायन लिङ्गानुशासन पर यक्षवर्मा की टीका का उल्लेख हर्षवर्धनीय लिङ्गानुसाशन के सम्पादक ने किया है।

इनके अतिरिक्त भोजदेव, बुद्धिसागर सूरि एवम् अरुणदत्त ने भी अपने-अपने लिंगानुशासन लिखे थे। उनका अनेकत्र उल्लेख मिलता है।

हेमचन्द्र का लिङ्गानुशासन इनसब से अधिक प्रसिद्ध एवं व्यापक रहा है। इसमें १३८ कारिकाएँ विविध छन्दों में हैं। इसपर हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञ **'विवरण'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इनके अतिरिक्त **कनकप्रभ, जयानन्दसूरी** और **केसरविजय** एवं वल्लभगणि इसके प्रमुख व्याख्याकार हैं।

लिङ्गानुशासन के परवर्ती प्रवक्ताओं में रामसूरी, वेंकटरंग, हेलाराज, नवकिशोरशास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्रीसरयूप्रसाद व्याकरणाचार्य

ये संस्कृत कालेज बलिया के अध्यापक हैं। इन्होंने लिङ्गानुशासन पर एक पुस्तक लिखी है, जो अभी अप्रकाशित है। इस पर दीक्षित जी की स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। इसकी विशेषता यह है कि १८–२० श्लोकों में पूरा पाणिनीय लिङ्गानुशासन आ गया है।

छब्बीसवाँ अध्याय

परिभाषापाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता

पाणिनीय और उसके उत्तरवर्ती शब्दानुशासनों से संबद्ध परिभाषा-पाठ नामक एक संग्रह मिलता है। इन परिभाषापाठों में तत्तद् व्याकरण शास्त्रों के अनुकूल कुछ पाठभेद, क्रमभेद और संख्या में न्यूनाधिक मिलता है, बाकी सब कुछ प्राय: एक जैसा है।

परिभाषा का लक्षण---वैयाकरण परिभाषा का लक्षण करते हैं---

'अनियमप्रसंगे नियमकारिणी परिभाषा'।

अनियम की प्राप्ति होने पर नियम करने वाले सूत्र या नियम 'परिभाषा' कहाते हैं। **स्वामी दयानन्द सरस्वती**---स्वामी जी ने परिभाषा का लक्षण किया है---

'परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते'।

जो सूत्र या नियम सारे शास्त्र में आगे-पीछे सर्वत्र अपने नियमों का पालन करें, वे, 'परिभाषा' कहाते हैं।

महाभाष्यकार---पतञ्जलि परिभाषा को भी एक विशिष्ट प्रकार का अधिकार मानते हैं---

'अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति, यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति।' (महाभाष्य १।१।४८)

कैयट इसे स्पष्ट करता है---'कश्चिदिति परिभाषारूप इत्यर्थः'।

वस्तुत: दोनों लक्षण तत्त्वत: एक हैं, शब्दमात्र का भेद है।

परिभाषा का द्वैविध्य---उक्त प्रकार के नियम-वचन दो प्रकार के हैं। एक पाणिनीय आदि शास्त्रों में सूत्ररूप से पठित, दूसरे सूत्र आदि से ज्ञापित अथवा न्याय सिद्ध आदि।

सूत्र रूप से पठित नियम वचनों को सुविधा के लिए 'परिभाषा सूत्र' कहना अधिक अच्छा होगा, वे व्याकरण के अभिन्न अङ्ग हैं। वैयाकरण-निकाय में **'परिभाषा-पाठ'** से दूसरे प्रकार के नियामक वचनों का ही

ग्रहण होता है। अतः इस अध्याय में उन्हीं परिभाषाओं के ही प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन किया जायगा।

द्वितीय प्रकार की परिभाषाएँ सूत्रपाठ से बहिर्भूत होने पर भी सूत्र द्वारा ज्ञापित होने से अर्थात् सूत्रकार द्वारा स्वीकृत होने से, तथा न्यायसिद्ध परिभाषाएँ लोकसिद्ध होने से वे सूत्रवत् प्रमाण मानी जाती हैं और उनमें सूत्रवत् असिद्धादि कार्य होते हैं।

इन परिभाषाओं के चार भेद--

१. ज्ञापित—किसी सूत्र से जो ज्ञापित होती हैं वे 'ज्ञापित' परिभाषाएँ कहाती हैं। यथा—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्।

२. न्यायसिद्ध—वे परिभाषाएँ हैं जो लौकिक न्यायानुकूल होती हैं। यथा—'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः।'

३- वाचनिक- वे परिभाषाएँ हैं जो न तो सूत्रद्वारा ज्ञापित हैं, और नहीं न्यायसिद्ध हैं, किन्तु आचार्य विशेष के वचन हैं। ये परिभाषाएँ, कहीं वार्तिक कार के और कहीं भाष्यकार के वचनों के रूप में होने से दो प्रकार की हैं।

४- मिश्रित—वे परिभाषाएँ हैं, जिनका एकदेश सूत्रद्वारा ज्ञापित और एक देश न्यायसिद्ध होता है अथवा एक देश सूत्रद्वार ज्ञापित और शेष अंश पूर्वाचार्यों द्वारा पठित वचन रूप होता है। यथा—

(१) 'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः'। इस परिभाषा का पूर्व भाग न्यायसिद्ध है और 'अन्यत्र विकरणेभ्यः' अंश ६।१।१८६ सूत्र द्वारा ज्ञापित है।

(२) 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः'। इस परिभाषा का 'उपपद' अंश तथा 'सुबुत्पत्ति से पूर्व समासविधान' भाग 'उपपदमतिङ्' सूत्र के अतिङ्ग्रहण से ज्ञापित होता है, शेष अंश पूर्वाचार्यों का वाचनिक था, यह स्वीकार कर लिया है।

परिभाषाओं का मूल

पाणिनीय तथा अन्य वैयाकरणों द्वारा आश्रीयमाण परिभाषाओं का मूल क्या है, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। सामान्यतः इतना ही कह सकते हैं कि इन परिभाषाओं का मूल प्राचीन वैयाकरणों के सूत्रपाठों के विशिष्ट सूत्र हैं।

परिभाषा हि नाम न साक्षात् पाणिनीयवचनानि। किं तर्हि? नानाचार्याणाम् ।; (सीरदेव, परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १८६)

सीरदेव से पूर्ववर्ती पुरुषोत्तमदेव का भी यही मत है।

इसी प्रकार कैयट (प्रदीप ६।२।४६), हरदत्त (पममञ्जरी भाग १) तथा सायण (भूधातु पर) ने परिभाषाओं को पूर्वाचार्यों का वचन कहा है।

नागेशभट्ट के शिष्य वैधनाथ पायगुण्ड ने परिभाषाओं का मूल्य ऐन्द्र आदि तन्त्रों को माना है।

ये परिभाषाएँ प्राचीन वैयाकरणों के व्याकरणशास्त्र के सूत्र अथावा उनके व्याख्यान रूप वचन हैं। सम्भवतः इसी पक्ष को स्वीकार करते हुए भोज ने परिभाषाओं को अपने शब्दानुशासन में पुनः अन्तर्निहित किया।

आश्रयण और अनाश्रयण की सीमा—इन परिभाषाओं के सम्बन्ध में सभी वैयाकरण सामान्य रूप से ऐसे मानते हैं कि जहाँ इनके आश्रयण के बिना शास्त्रीय कार्य-निर्वाह नहीं होता, वहीं इनका आश्रयण किया जाता है और जहाँ इनके आश्रयण से दोष प्राप्त होता है, वहाँ इनका आश्रयण नहीं किया जाता है।

अब परिभाषापाठ के विशिष्ट प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करते हैं—

काशकृत्स्न

काशकृत्स्नप्रोक्त धातुपाठ के व्याख्याता चन्नवीर कवि ने तुद (५।१) धातु के व्याख्यान में एकवचन पढ़ा है—**'सकृद्बाधितो विधिर्बाधित एव'**। अन्य आचार्यों के व्याकरणों में यह वचन कुछ ही भेद से परिभाषापाठ में मिलता है। काशकृत्स्न का धातुपाठ उपलब्ध ही है और उसके दशपादी उणादि का निर्देश काशकृत्स्न धातुपाठ के सम्पादक डा० ए०-एन० नरसिंहिया कर चुके हैं, अतः उपर्युक्त वचन के आधार पर यह सम्भावना अधिक युक्ति-सिद्ध प्रतीत होती है कि काशकृत्स्न ने किसी परिभाषापाठ का भी प्रवचन किया था।

व्याडि

महामहोपाध्याय काशीनाथ अभ्यंकर ने समस्त उपलभ्यमान परिभाषा पाठों तथा उनकी वृत्तियों का 'परिभाषा-संग्रह' नाम से एक संग्रह प्रकाशित किया है। उनके इस संग्रह में प्रथम ग्रन्थ है—**'व्याडिकृतं परिभाषासूचनम्'** और दूसरा है—'व्याडिपरिभाषा-पाठ।

प्रथम ग्रन्थ व्याख्या सहित और दूसरे ग्रन्थ के अन्त में पाठ है—

'इति व्याडिविरचिताः पाणिनीय परिभाषाः समाप्ताः।'

इससे स्पष्ट है कि व्याडि ने किसी परिभाषा का संग्रह अथवा प्रवचन किया था।

इन दोनों ग्रन्थों में **'अकृतव्यूहा पाणिनीयाः'** परिभाषा का निर्देश होने से स्पष्ट है कि उक्त मुद्रित पाठों का सम्बन्ध पाणिनीयतन्त्र से ही है।

उक्त दोनों ग्रन्थों का पाठ भिन्न-भिन्न है। प्रथम पाठ में केवल ६३ परिभाषाएँ हैं, दूसरे पाठ में १४० हैं।

व्याडीय परिभाषापाठ पर अज्ञातकर्तृक एक वृत्ति अभ्यंकर ने 'परिभाषासंग्रह' के आरम्भ में प्रकाशित की है।

पाणिनि

परिभाषापाठ के अनेक हस्तलेखों तथा वृत्तिग्रन्थों के अन्त में परिभाषाओं को **पाणिनीय पाणिनि-प्रोक्त**,अथवा पाणिनिविरचित कहा है अतः स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपने व्याकरण से सम्बद्ध किसी परिभाषापाठ का प्रवचन अवश्य किया था। महाभाष्य (१।४।२) में पतञ्जलि का वचन है—

'पठिष्यति ह्याचार्यः सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव इति' यह भी परिभाषापाठ के पाणिनि-प्रवचन को ही स्पष्ट कर रहा है। उक्त वचन में आचार्य पद पाणिनि के लिए प्रयुक्त है। नागेश ने इस वचन पर जो लिखा है कि आचार्य से यहाँ वार्तिककार अभिप्रेत हैं, यह ठीक नहीं क्योंकि सम्पूर्ण महाभाष्य में कहीं पर भी यह परिभाषा वार्तिक रूप में पठित नहीं है।

परिभाषापाठ के व्याख्याता

हरदत्त (सं० ११९५ वि०)

काशिका के व्याख्याता हरदत्त ने अपनी पदमञ्जरी (भाग २, पृष्ठ ४३७) में परिभाषापाठ पर स्वरचित 'परिभाषा-प्रकरण' नामक ग्रन्थ का निर्देश किया है।

पुरुषोत्तमदेव (सं० १२०० वि०)

पुरुषोत्तमदेव ने परिभाषापाठ पर एक **लघुवृत्ति** लिखी है। यह **ललितावृत्ति** के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह वृत्ति व्याडीय परिभाषापाठ पर है।

सीरदेव (सं० १२००—१४०० वि०)

सीरदेव विरचित परिभाषावृत्ति बहुत वर्ष पहले काशी से प्रकाशित हो चुकी है। इसका नवीन संस्करण पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने प्रकाशित किया है।

सीरदेव द्वारा परिभाषा वृत्ति में स्मृत ग्रन्थकारों में सब से प्राचीन सायण हैं और सब से अर्वाचीन पुरुषोत्तमदेव हैं अतः सीरदेव काल सं० १२००—१४०० वि० के मध्य है। अध्यङ्कर सीरदेव काल ईसा की १२वीं शती मानते हैं।

यह परिभाषापाठ अष्टाध्यायी के क्रम से तत्तत् सूत्रों से ज्ञापित अथवा तत्सम्बन्धी वार्तिक आदि रूप वचनों का संग्रह है। पाणिनि प्रोक्त परिभाषा-पाठ में भी यह अष्टाध्यायी क्रमानुसारी पाठ रहा होगा किन्तु उसमें, इस परिभाषापाठ में परिभाषा रूपेण सम्मिलित वार्तिक और भाष्यवचन निश्चय ही नहीं थे।

यह वृत्ति सम्पूर्ण वृत्तियों में सब से अधिक विस्तृत होने से **'बृहद्वृत्ति'** के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रौढ़ता और विचार गहनता है।

इस वृत्ति पर श्रीमान् शर्मा (सं० १५००—१५५० वि०) की विजया नाम्नी टिप्पणी, रामभद्र दीक्षित (सं० १७७४ वि०) की व्याख्या और अज्ञातकर्तृक **'परिभाषा-वृत्तिसंग्रह'** ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

विष्णुशेष (शेषविष्णु) (सं० १५००—१५५० वि०)

विष्णुशेष ने पाणिनीय सम्प्रदाय सम्बद्ध परिभाषापाठ पर 'परिभाषा-प्रकाश' नाम से एक वृत्ति लिखी है। शेषविष्णु द्वारा दिये गये परिचय के अनुसार वह शेषवंशीय कृष्णपण्डित (प्रक्रिया-कौमुदी प्रकाश के कर्ता) का पुत्र है। इसके एक भाई का नाम जगन्नाथ है। उसने चक्रपाणि (प्रौढ़मनोरमा-खण्डनकार) को भी स्मरण किया है, संभवतः वह उसका गुरु रहा हो। इस लिए शेषविष्णु का काल १५००—१५५० वि० के मध्य होना चाहिए।

नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १६००—१६७५ वि०)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने परिभाषापाठ पर एक संक्षिप्त वृत्ति लिखी है, जो 'त्रिवेन्द्रम्' से प्रकाशित हो चुकी है।

नागेश भट्ट

नागेशभट्ट का परिभाषापाठ पर वृत्तिग्रन्थ 'परिभाषेन्दुशेखर' ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है। परिभाषाज्ञानार्थ पठन-पाठन में सम्प्रति यही ग्रन्थ प्रचलित है।

परिभाषेन्दुशेखर पर अनेक वैयाकरणों ने टीकाएँ लिखी हैं।

शेषाद्रिनाथ सुधी

शेषाद्रिनाथसुधी ने 'परिभाषाभास्कर' नाम्नी परिभाषावृत्ति लिखी है। यह प्रकाशित हो चुकी है इसमें स्थान-स्थान पर परिभाषेन्दुशेखर का नाम-निर्देश के विना खण्डन किया है। अतः यह नागेश भट्ट से उत्तरवर्ती है।

रामप्रसाद द्विवेदी (सं० १९७३ वि०)

राम प्रसाद द्विवेदी की 'सार्थपरिभाषाठ' नामक परिभापापाठ की लघु-वृत्ति प्रकाशित है। इसमें १२७ परिभाषाएँ परिभाषेन्दुशेखर के अनुसार हैं। अन्त की २५ परिभाषाएँ परिभाषेन्दुशेखर में नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त परिभाषापाठ पर अनेक वृत्तियों के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं। यथा—

अज्ञातकर्तृक परिभाषावृत्ति (अमरटीकासर्वस्व में उद्धृत), अज्ञातकर्तृक परिभाषाविरण, अज्ञातकर्तृक परिभाषावृत्ति, भीमकृत परिभाषार्थमञ्जरी, वैद्यनाथशास्त्रीकृत **'परिभाषार्थसंग्रह'** (इसके भी व्याख्याकार ग्रन्थकार के गुरु स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती और अप्पादीक्षित हैं, व्याख्याओं के नाम क्रमशः 'परिभाषा-**चन्द्रिका**' और 'सारबोधिनी है), हरिभास्कर अग्निहोत्री की 'परिभाषा-भास्कर' नाम्नी वृत्ति, उसके शिष्य की 'लघुपरिभावृत्ति' अप्पासुधी विरचित **'परिभाषारत्न'**, उदयशंकरभट्ट कृत **'परिभाषाप्रदीपार्चि'**, गोविन्दाचार्यकृत परिभाषार्थप्रदीप' आदि-आदि।

कातन्त्रीय परिभाषाप्रवक्ता

सम्प्रति उपलब्ध कातन्त्रीय परिभाषापाठ के चार प्रकार के पाठ 'परि-भाषासंग्रह' में पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने प्रकाशित किये हैं—

पहला पाठ—इस पाठ में ६७ परिभाषाएँ हैं। दुर्गसिंह की वृत्ति के साथ छपा है।

दूसरा पाठ— इसमें ६२ परिभाषाएँ हैं, साथ में भावमिश्रकृत वृत्ति भी छपी है।

तीसरा पाठ—इसमें ६७ परिभाषासूत्र और २६ बलाबल सूत्र कुल ९३ सूत्र हैं। यह मूल मात्र है।

चौथा पाठ—यह कालाप परिभाषासूत्र के नाम से छपा है। कलाप कातन्त्र का ही नामान्तर है। यह भी मूलमात्र है। इसमें ११८ परिभाषाएँ हैं।

कातन्त्र परिभाषा पाठ का प्रवक्ता—कातन्त्र परिभाषापाठ का आदि प्रवक्ता अथवा संग्रहकर्ता कौन व्यक्ति है, यह कहना है, अत्यन्त कठिन है। दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

सूत्रकार शर्ववर्मा और कात्यायन ने ४५० सूत्रों में परिभाषाएँ नहीं पढ़ी परन्तु वृत्ति और टीका में तत्र-तत्र कार्यों में प्रयुक्त देखी जाती हैं। इसलिए उसकी युक्ति में संसिद्धि कहते हैं।

इस लेख से इतना स्पष्ट है कि इन का प्रवक्ता शर्ववर्मा अथवा कात्यायन नहीं है। वृत्तियों और टीकाओं में इनका यत्र-तत्र प्रयोग किया गया था। किसी कातन्त्र अनुयायी ने पूर्वतः विद्यमान परिभाषाओं को अपने तन्त्र के अनुकूल रूप देकर ग्रथित कर दिया। हैम व्याकरण संबद्ध परिभाषाएँ भी हेम हँसगणि द्वारा ग्रथित हैं। दुर्गसिंह की वृत्ति से यह भी द्योतित है कि उससे बहुत पूर्व ये परिभाषाएँ ग्रथित हो चुकी थीं और उन पर वृत्तियाँ भी लिखी जा चुकी थीं।

वृत्तिकार

दुर्गसिंह—

दुर्गसिंह की कातन्त्र-परिभाषापाठ पर वृत्ति सम्प्रति उपलब्ध है। दुर्गसिंह से पूर्व भी इस परिभाषापाठ पर वृत्तियों की सत्ता सिद्ध होती है। उन वृत्तिकारों का निर्देश **'केचित्'** 'कश्चित्' पद द्वारा दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति में किया है किन्तु उनके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

इस परिभाषापाठ का वृत्तिकार कौन दुर्गसिंह है, कातन्त्रवृत्तिकार या उस वृत्ति का टीकाकार—यह विचारणीय है।

काशीनाथ अभ्यङ्कर इस परिभाषा वृत्ति की रचना नवीं शती ई० लिखते हैं। तदनुसार इसका रचयिता कातन्त्रवृत्ति-टीकाकार दुर्गसिंह होना चाहिए।

इस परिभाषावृत्ति में भट्टिकाव्य १८। ४१ का श्लोक उद्धृत है। भट्टिकाव्य की रचना वलभी के प्रथम श्रीधर सेन के राज्य काल (सं० ५५७)

में हुई है। कातन्त्र वृत्तिकार प्रथम दुर्गसिंह का काल सं०६७३–७०० वि०
के मध्य है। यह दुर्गसिंह कान्त्र-व्याकरण से संबद्ध लिङ्गानुसान का भी
प्रवक्ता और व्याख्यता है अतः परिभाषावृत्तिकार भी, इसी कातन्त्रवृत्तिकार
दुर्गसिंह को होना चाहिए।

भावमिश्र

भावमिश्र की कातन्त्रपरिभाषावृत्ति **'परिभाषासंग्रह'** में प्रकाशित हो
चुकी है। इन्हों ने अपना कोई परिचय इस वृत्ति में नहीं दिया है अतः इनका
देश-काल आदि अज्ञात है।

चान्द्र-परिभाषापाठ

चन्द्रगोमी ही इस परिभाषापाठ का स्वयं प्रवक्ता है, अन्य कोई चान्द्र
सम्प्रदाय का वैयाकरण नहीं। यह परिभाषापाठ 'परिभाषा संग्रह' में
प्रकाशित है। इस परिभाषापाठ पर कोई वृत्ति उपलब्ध वा ज्ञात नहीं है।

जैनेन्द्रसंबद्धपरिभाषापाठ

देवनन्दी प्रोक्त शब्दानुशासन से सम्बद्ध जैनेन्द्र परिभाषा का कोई
स्वतन्त्रपाठ उपलब्ध नहीं है। अभयनन्दी की महावृत्ति में अनेक परिभाषाएँ
यत्र-तत्र उद्धृत हैं। उन्हीं जैनेन्द्र-संबद्ध परिभाषाओं को संगृहीत करके
पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने उन पर शक १८८० (२०१५ वि०) में वृत्ति
लिखी है।

शाकटायन तन्त्रसंबद्ध परिभाषापाठ

पाल्यकीर्ति (शयटायन) ने स्वयं स्वानुशासन-संबद्ध परिभाषापाठ का
पवचन किया था उसकी 'अमोधावृत्ति' में ये परिभाएँ बहुत्र उद्धृत हैं। इस
प्ररिभाषा पाठ के दो हस्तलेखों का आश्रयण कर पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने
'परिभाषा-संग्रह' में इस परिभाषापाठ का प्रकशान किया है। इस परिभाषा-
पाठ पर कोई व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। यह विशेष अवधेय है कि
पाल्यकीर्ति के व्याकरण में स्वशास्त्र का विधान नहीं है। इतना ही नहीं,
स्वर विशेष ज्ञापनार्थ विविध अनुबन्धों से युक्त पाणिनीय प्रत्ययों का एकी-
करण कर पाल्यकीर्ति ने अपनी स्वर-निरपेक्षता भी प्रकट किया है फिर भी
उनके परिभाषापाठ में ३७ वीं परिभाषा हैं—**'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमान-
वत्'**। उक्त दोनों हस्तलेखों में भी यह परिभाषा मिलती है; अतः इसे
'प्रक्षिप्त' कहने का भी साहस नहीं कर सकते।

श्रीभोजदेव

श्रीभोजदेव ने अपने व्याकरण ग्रन्थ '**सरस्वतीकण्ठाभरण**' में अपने तन्त्र से सबद्ध परिभाषापाठ को भी गणपाठ और उणादि पाठ के समान ही पढ़ दिया है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के ही व्याख्याकार इस परिभाषापाठ के भी व्याख्याकार हैं।

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयम् अपने शब्दानुशासन से संबद्ध जो परिभाषापाठ निर्धारित किया था, वह अत्यन्त संक्षिप्त था। उसमें केवल ५७ परिभाषाएँ ही पठित हैं। हैम व्याकरण में परिभाषाएँ न्यायसूत्र नाम से व्यवहृत होती हैं।

हेमपरिभाषापाठ का पूरक—हेमहंसगणि (सं० १५१५ वि०)

हेमहंसगणि ने अनेक '**न्यायसंग्रह**' (अर्थात् परिभाषासंग्रह) में उक्त ५७ हैम-परिभाषाओं का संग्रह कर, तदनन्तर '**तैरसमुच्चितास्त्वेते**' लिख कर अन्य ८४ परिभाषाओं का संग्रह किया है।

परिचय—हेमहंसगणि के दीक्षागुरु का नाम श्री सोमसुन्दरसूरि था। तथा हेमहंसगणि ने श्रीमुनिसुन्दरसूरि, श्रीजयचन्द्रसूरि, श्रीरत्नशेखरसूरि तथा श्रीचारित्ररत्नगणि से विविध विषयों का अध्ययन किया था।

काल—ग्रन्थकार ने स्वयं ग्रन्थ का लेखन काल सं० १५१५ जेष्ठसुदी ० लिखा है। अतः इनका काल सामान्यतया १४७५—१५५० स्वीकार किया जा सकता है।

व्याख्याकार

हेमहंसगणि

आचार्य हेमहंसगणि ने स्वसंकलित '**न्यायसंग्रह**' पर स्वयं कई टीकाएँ लिखी हैं। काशी से प्रकाशित न्यायसंग्रह में 'न्यायार्थमञ्जूषा' बृहद्वृत्ति और उसपर स्वोपज्ञ न्यास छपा है।

'न्यायार्थमञ्जुणा' के आरम्भ में हेमहंसगणि के वचन से ऐसा स्पष्ट होता है कि उनसे पूर्व किसी आचार्य ने हेमचन्द्राचार्य द्वारा साक्षान्निर्दिष्ट ५७ परिभाषाओं की व्याख्या की थी। किन्तु व्याख्याकार के नाम तथा ग्रन्थ का निर्देश नहीं दिया है जिससे इस विषय में कुछ और अधिक ज्ञात नहीं होता।

विजयलावण्यसूरि (२०००)

हेमहंसगणि विरचित न्यायसंग्रह पर 'न्यायार्थसिन्धु' और 'तरङ्ग' नाम्नी टीका विजयलावण्यसूरि ने लिखी है। दूसरी टीका का लेखन काल सं० २०१० निर्दिष्ट है।

मुग्धबोधसंबद्ध

बोपदेव-विरचित मुग्धबोधव्याकरण से सम्बद्ध एक परिभाषावृत्ति मिलती है। इसमें व्याख्यायमान परिभाषाओं का संग्रहकर्ता कौन है, यह अज्ञात है। इस वृत्ति का रचना काल सं० १७४५ वि० है।

पद्मनाभदत्त (सं १४०० वि०)

पद्मनाभदत्त ने अपने सुपद्मव्याकरण से सम्बद्ध परिभाषा पाठ का ग्रन्थन किया था और उसपर स्वयं वृत्ति भी लिखी थी। इसका हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के संग्रह में विद्यमान है।

पद्मनाभ विरचित 'परिभाषावृत्ति' पर रामनाथ सिद्धान्त रचित टीका है। धर्मसूरिकृत 'परिभाषार्थप्रकाशिका' टीका का एक हस्तलेख अडियार के ग्रन्थसंग्रह में विद्यमान है किन्तु यह वृत्ति सुपद्मव्याकरण से सम्बद्ध है अथवा पाणिनीय पाठ पर है, यह सन्दिग्ध है।

———

पाणिनि के शास्त्र के व्याख्याता आचार्य कात्यायन और पतञ्जलि रूढ शब्दों को अव्युत्पन्न मानते थे। इसी लिए उन्हें यत्र-तत्र अगत्या फिट्सूत्रों का साक्षात् अथवा परोक्षरूप से आश्रय लेना पड़ा। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने मत को पाणिनि-सम्मत दर्शाने का भी प्रयत्न किया। (द्रष्टव्य—७।१।२ सूत्र की व्याख्या में कात्यायन का वार्तिक और उस पर पतञ्जलि का वक्तव्य)।

अर्वाचीन पाणिनीय वैयाकरणों ने महाभाष्यकार के मतानुसार अव्युत्पन्न प्रातिपदिकों के स्वर-परिज्ञानार्थ फिट्सूत्रों का आश्रय लिया। वस्तुतः पाणिनीय मतानुसार औणादिक रुढ शब्दों के स्वरपरिज्ञान के लिए भी प्रकृति-प्रत्यय का ही आश्रयण उचित है।

फिट् सूत्रों का प्रवक्ता—पाणिनीय सम्प्रदाय में फिट्सूत्रों का प्रवक्ता आचार्य शन्तनु को माना जाता है अतएव ये शान्तनव सूत्र कहे जाते हैं। हरदत्त ने स्पष्ट लिखा है—'**स पुनः शन्तनुप्रणीतः फिष् इत्यादिकम्**……।' (पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ८०४) नागेश ने भी हरदत्त के मत को ही स्वीकार किया है।

शन्तनु आचार्य, भीष्मपितामह के पिता राजर्षि शन्तनु माने जा सकते हैं। वायुपुराण ९९।२३७ और मत्स्यपुराण ५०।४२ में शन्तनु को विद्वान् कहा गया है। प्राचीन वाङ्मय में तथा पुराणों में विद्वान् शब्द का प्रयोग मन्त्र-द्रष्टा के लिए होता है।

प्रवचन काल—वार्तिककार और महाभाष्यकार से ही नहीं पाणिनि और आपिशलि से भी पूर्व शन्तनु ने फिट् सूत्रों का प्रवचन किया था। आचार्य चन्द्रगोमी का वक्तव्य है—

यह प्रत्याहार पूर्व व्याकरणों में विद्यमान था। केवल इतना विशेष है कि पहले '**ऐ औष्**' सूत्र था, उसे **ऐ औच्** कर दिया।

इसी लिए '**लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः**' (२।४२) और '**तृणधान्यानां च द्व्यषाम्**' (२।२७) फिट् सूत्रों में अच् के स्थान में अष् का निर्देश मिलता है। आपिशल व्याकरण में भी **ऐ औच्** सूत्र और अच् प्रत्याहार का निर्देश था अतः अष् प्रत्याहार का निर्देश करने वाले फिट् सूत्र आपिशलि से पूर्ववर्ती हैं। अतः फिट् सूत्रों का प्रवचन काल विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्व निश्चित है। ऐसी अवस्था में भीष्म के पिता राजर्षि शन्तनु को फिट् सूत्र प्रवक्ता शन्तनु मानना कुछ अनुचित नहीं प्रतीत होता।

यदि फिट् सूत्रकार शन्तनु राजर्षि शन्तनु को नहीं माना जाय तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि फिट्सूत्रप्रवक्ता शन्तनु विक्रम से कम से कम २६०० वर्ष पूर्व तो अवश्य है ।

फिट्सूत्र : कीथ

कीथ अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में फिट् सूत्रों के सम्बध में लिखता है—

'वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के सम्बन्ध में स्वरों के नियमों का निरूपण शान्तनव ने, जो पतञ्जलि से परवर्ती है, फिट् सूत्र में किया है ।

यहाँ कीथ ने ग्रंथकार का नाम शान्तनव मान लिया, जब कि इसका अर्थ है शन्तनु प्रोक्त । और इस प्रकार शान्तन व पद फिट् सूत्र का विशेषण है । कीथ का फिट् सूत्रों को पतञ्जलि से परवर्ति कहना भी उसकी भूल है । पतञ्जलि ने फिट् सूत्रों को अर्थतः तथा साक्षात् पाठ रूप में उद्धृत किया है (द्रष्टव्य महाभाष्य ६।१।१५८; ६।२।१; ६।१।६१; ६।१।१२३; १।२।३) इतना ही नहीं, फिट् सूत्र पाणिनि और आपिशलि से भी पूर्ववर्ती हैं ।

यदि कीथ ने रक्त निर्देश कीलहार्न के लेख के आधार पर किया है, जैसा कि टिप्पणी में एफ, कीलहार्न का प्रमाण दिया है, तो कीलहार्न की भीं भूल है ।

नामकरण—शन्तनु के चतुःपादात्मक इन सूत्रों को फिट् सूत्र इस कारण से कहा जाता है, क्योंकि इनका प्रथम सूत्र **'फिष्'** है । पाणिनीय तन्त्र में जिन अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है, शान्तनव तन्त्र में उन्हीं की ,फिष्' संज्ञा थी । फिष् का ही प्रथमैकवचन तथा पूर्वपद में 'फिट् रूप है । इसी फिट् संज्ञा के कारण ये सूत्र फिट्सूत्र कहे जाते हैं ।

फिट्सूत्र किसी तन्त्र के एकदेश—सम्प्रति उपलभ्यमान चतुःपादात्मक फिट्सूत्र स्वतन्त्र नहीं, किसी बृहत्तन्त्र का बचा हुआ एक देश है । इस निम्न प्रमाण हैं—

१. फिट् सूत्रों में फिष् (=प्रातिपदिक), नप् (=नपुंसक), यमन्वा (=वृद्ध पाणिनीय मतानुसार), शिट् (=सर्वनाम), स्फिग् (=लुप्=प्रत्यय-अदर्शन) आदि अनेक संज्ञाएँ ऐसी प्रयुक्त हैं जिनके सांकेतिक अर्थ वताने वाले संज्ञासूत्र इन उपलब्ध सूत्रों में नहीं हैं ऐसी अप्रसिद्ध एवं कृत्रिम संज्ञाओं के प्रयोग से पूर्व तत्सम्बद्ध निर्देशक सूत्र आवश्यक होते हैं ।

२. इनमें कतिपय प्रत्याहारों का प्रयोग मिलता है किन्तु प्रत्याहार सूत्रों का निर्देश नहीं है। उनका निर्देश बृहत्तन्त्र में रहा होगा; क्योंकि प्रत्याहार-सूत्रों के विना तत्तद् प्रत्याहार से गृह्यमाण वर्णों का परिज्ञान किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।

३. फिट्सूत्रों की अनेक वृत्तियों में 'फिष्' इतना ही प्रथम सूत्र है। इससे विदित होता है कि यह सूत्र पाठ किसी बृहत्तन्त्र का अवयव है। उसमें इन सूत्रों से पूर्व **अन्त उदात्तः** का प्रकरण विद्यमान था अतः यहां भी **अन्त उदात्तः** पदों की अनुवृत्ति आती है। **'फिषोऽन्त उदात्तः'** ऐसा वर्तमान पाठ अशास्त्रीय है, अनुवृत्यंश को जोड़ कर बनाया गया है तथा फिष् का फिषः षष्ठयन्त रूप पाणिनीयशास्त्रानुसार गढ कर प्रयुक्त किया गया है।। षष्ठी विभक्ति से कार्यों का निर्देश पाणिनीय तन्त्र में होता है किन्तु पूर्वपाणिनीय तन्त्रों में कार्यों का प्रथमा से निर्देश होता था।

४. **'फिट्सूत्र'** का अनेक वृत्तियों में **'अर्थवदधातुरप्रत्ययः फिष्'**; **'कृत्तद्धितसमासाश्च'** ये **'फिष्'** संज्ञा विधायक सूत्र उद्धृत हैं।

५. आचार्य चन्द्रगोमी से अपनी वृत्ति में लिखा है—

'एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेष्वपि स्थित एव। अयं तु विशेषः— ऐ औष् इति यदासीत् तद् ऐ औच् इति कृतम्। ययाहि लघावन्ते द्वयोश्च बह्वचो गुरुः, तृणधान्यानां च द्वयषाम् (फिट्सूत्र) इति पठ्यते।

अर्थात् यह (अच्) प्रत्याहार (अप् प्रत्याहार के रूप में (शान्तनव आदि) पूर्व व्याकरणों में विद्यमान था। केवल इतना विशेष है कि पहले जो **'ऐ औष्'** सूत्र था उसे **'ऐ औच'** कर दिया। इसी लिए लघावन्ते द्वयोश्च वह्वषोगुरुः' (२।४२) और **'तृणधान्यानां च द्वयषाम्'** (२।२७) फिट् सूत्रों में (अच् के स्थान में) अप् का निर्देश मिलता है।

६. न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि काशिका (१।२।३०) के विवरण में लिखता है—

'त्वसमसिमेत्यनुच्चानि इति सर्वादिष्वेव पठ्यन्ते।' भाग१, पृष्ठ १७०।

इसमें **'त्वसमसिमेत्यनुच्चानि'** सूत्र का पाठ सर्वादिगण में माना है। पाणिनि के सर्वादि गण में यह सूत्र पठित नहीं है। उक्त सूत्र शान्तनव फिट् सूत्रों में (४।७८) मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि यह सूत्र शान्तनव सर्वादिगण में भी पठित था और फिट् स्वर प्रकरण में भी।

३. जिस (शन्तनु) आचार्य ने उणादि पाठ और लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया हो उसने व्याकरण के नाम पर इतना छोटा सा ही (फिट् सूत्र) ग्रन्थ रचा हो, यह युक्तिसंगत नहीं हो सकता।

अतः आचार्य शन्तनु ने किसी साङ्गोपाङ्ग बृहत् शब्दानुशासन का प्रवचन किया था। उसी में व्युत्पत्तिपक्षानुसार प्रातिपदिकों का स्वर निर्देश करके अव्युत्पत्ति पक्ष का आश्रय करके अखण्ड प्रातिपदिकों के स्वर परिज्ञान के लिए इन (फिट्सूत्रों) की रचना की थी।

वृत्तिकार

एक वृत्ति अडियार के हस्तलेख-संग्रह में है और एक वृत्ति बहुत पहिले जर्मनी से प्रकाशित हुई थी। दोनों के लेखकों का नाम अज्ञात है। एक फिट्सूत्र वृत्ति का हस्तलेख संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के सरस्वती भवन के संग्रह में है, उसके भी लेखक का नाम अज्ञात है।

विट्ठल ने प्रक्रिया कौमुदी की टीका के स्वर-प्रकरण में फिट् सूत्रों की भी एक संक्षिप्त व्याख्या की है।

भट्टोजि दीक्षित ने फिट् सूत्रों पर दो व्याख्याएँ लिखी हैं। एक शब्द-कौस्तुभ के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद के स्वर-प्रकरण में और दूसरी सिद्धान्तकौमुदी की स्वर-प्रक्रिया में। दोनों में साधारण ही भेद है। भट्टोजि-कृत वृत्ति के व्याख्याकार हैं—जयकृष्ण और नागेशभट्ट।

श्री निवास यज्वा (सं० १७५० के लगभग) ने अष्टाध्यायी के अन्तर्गत स्वरसूत्रों पर **स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका** नाम्नी एक विशद व्याख्या लिखी है। इसी के अन्तर्गत श्रीनिवास ने फिट्सूत्रों की भी व्याख्या की है। यह व्याख्या सब से अधिक विस्तृत और उपयोगी है।

श्रीनिवास यज्वा के पिता का नाम कृष्ण, माता का नाम अनन्ता था। गुरु का नाम रामभद्र यज्वा था। यही रामभद्र दीक्षित ने सीरदेव की परिभाषा वृत्ति पर एक व्याख्या लिखी है और उणादि सूत्रों की टीका की है। इनका काल १७४४ वि० के लगभग है, अतः यही काल श्रीनिवास यज्वा का भी होगा।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

प्रातिशाख्य आदि के प्रवक्ता और व्याख्याता

प्रातिशाख्य आदि ग्रंथों का सम्बन्ध केवल वैदिक संहिताओं के साथ है। इनमें व्याकरण शास्त्र के मुख्य उद्देश्यभूत प्रकृति-प्रत्यय रूप व्याकृति का निर्देश नहीं है अतः इन्हें वैदिक व्याकरण नहीं कह सकते। किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने भी इन्हें व्याकरण नाम से स्मरण नहीं किया है फिर भी इनमें सन्धि आदि व्याकरण के एक देश का निर्देश होने से लोक में वैदिक व्याकरण के रूप में ये प्रसिद्ध हैं; इसलिए इन ग्रन्थों का भी यहाँ संक्षेप से वर्णन कर रहे हैं।

प्राचीन काल में प्रातिशाख्य जैसे अनेक वैदिक लक्षण ग्रन्थ विद्यमान थे। सम्प्रति लगभग ५६ वैदिक लक्षण-शास्त्रों के प्रवक्ता आचार्यों के नाम उपलभ्यमान प्रातिशाख्यों में मिलते हैं। इस समय निम्न प्रातिशाख्य ग्रन्थ ही ज्ञात तथा उपलब्ध हैं—

प्रातिशाख्य—ऋक् प्रातिशाख्य, आश्वलायन प्रातिशाख्य, बाष्कलप्रातिशाख्य, शांखायनप्रातिशाख्य, वाजसनेय प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, मैत्रायणीय प्रातिशाख्य, चारायणीय प्रातिशाख्य, सामप्रातिशाख्य (पुष्प वा फुल्ल सूत्र), अथर्वप्रातिशाख्य।

अन्यलक्षण-ग्रन्थ--प्रातिशाख्यों के सदृश कुछ अन्य लक्षण ग्रन्थ मिलते हैं—

अथर्वचतुरध्यायी, प्रतिज्ञासूत्र, भाषिकसूत्र, ऋक्तन्त्र, लघुऋक्तन्त्र, सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र, छन्दोग व्याकरण।

प्रातिशाख्य के लिए प्राचीन ग्रंथों में **'पार्षद'** शब्द का व्यवहार होता है। महाभाष्य में **पारिषद** शब्द का भी प्रयोग मिलता है—

'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्'। (महाभाष्य ६।३।१४)

प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ है--**शाखां शाखां प्रति, प्रतिशाखम्, प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम्।**

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस ग्रन्थ में वेद की एक-एक शाखा के नियमों का वर्णन हो वह 'प्रातिशाख्य' कहाता है। परन्तु प्रातिशाख्यों के अध्ययन से

विदित होता है कि इनमें किसी एक शाखा के ही नियमों का वर्णन नहीं है अपितु एक-एक चरण की सभी शाखाओं के नियमों का सामान्यरूप से उल्लेख मिलता है। आचार्य यास्क ने भी कहा है --

'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।'

यहाँ यास्क ने भी पार्षदों का सम्बन्ध चरण के साथ दर्शाया है। ऐसा ही मत भट्ट कुमारिल और प्रतिज्ञा परिशिष्टकार अनन्तदेव का भी है। अतः मैक्समूलर एवं पं० विश्वबन्धु आदि का 'प्रतिशाखा प्रातिशाख्यों की प्रवृत्ति हुई है'—मत भ्रान्ति पूर्ण है।

प्रातिशाख्यों का स्वरूप

प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध तत्तद् वेद के तत्तद् चरणों के साथ है। प्रातिशाख्यों के प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से उनके स्वरूप का वर्णन यहाँ कर रहे हैं—

यास्क के **'पदप्रकृतिः संहिता, पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि'** कथन के अनुसार प्रातिशाख्य पदप्रकृतिक हैं अर्थात् पदों को प्रकृति मान कर संहिता में होने वाले विपर्ययों का वर्णन करते हैं। परन्तु इतना ही नहीं है, प्रातिशाख्यों में शिक्षा (वर्णोच्चारण शिक्षा) का भी सूक्ष्म विवेचन मिलता है। ऋक् प्रातिशाख्य में शिक्षा का विषय अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। साथ ही इस में अन्य प्रातिशाख्यों से विलक्षण वैदिक छन्दःशास्त्र का भी सविस्तर वर्णन मिलता है।

प्रातिशाख्यों में जहाँ संहिता के प्रभाव से होने वाले वर्ण का स्वर-विपर्यय का वर्णन है, वहाँ पदपाठ सम्बन्धी नियमों का भी उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में वेद के जटा पाठ का भी विवेचन उपलब्ध होता है।

साम का प्रातिशाख्य फुल्ल सूत्र अथवा पुष्प सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सामगान में होने वाले वर्ण-विकारों वा स्तोत्रों का निर्देश है।

प्रातिशाख्य और ऐन्द्र सम्प्रदाय

कतिपय विद्वानों का मत है कि प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध ऐन्द्र सम्प्रदाय से है। इसमें मुख्य सेतु यह दिया जाता है कि ऐन्द्र सम्प्रदाय के कातन्त्र में अक्षर-समाम्नाय का पाठ नहीं है। प्रातिशाख्यों में भी अक्षर समाम्नाय का पाठ उपदिष्ट नहीं हैं।

सम्प्रति ऐन्द्र तन्त्र के दो सूत्र उपलब्ध हो चुके हैं। आदि सूत्र है—**अथ वर्ण समूहः।** इस सूत्र के उपलब्ध हो जाने से यह कल्पना स्वतः समाप्त हो जाती है कि ऐन्द्रतन्त्र में अक्षर समाम्नाय पठित नहीं था।

यह भी विवेचनीय है कि ऋक् प्रातिशाख्य के आरम्भ के दो वर्गों में अक्षर-समाम्नाय पठित है। इसको मूल ग्रन्थ का अवयव न मानने पर **अष्टौ समानाक्षराण्यादितः**' (१।१) सूत्र की रचना सम्भव ही नहीं है। इतना ही नहीं, वर्गद्वयवृत्तिनिर्दिष्ट अक्षरसमाम्नाय क्रम को न मानने पर ऋक्प्रातिशाख्य में उक्त अनेक सूत्र समझ में ही नहीं आ सकते। यथा—(१३।१०) सूत्र में हकार से पूर्व यरलव विवक्षित हैं, उनका इसमें ईषत् स्पृष्ट प्रयत्न कहा है। लोक में श ष स ह इस क्रम से ह सब के अन्त में पठित है।

ऋक्प्रातिशाख्य के टीकाकार उव्वट ने ऋक्प्रातिशाख्य में आश्रित समाम्नाय की उपपत्ति के लिए (१।३) की वृत्ति में बड़ी क्लिष्ट कल्पना की है। मालूम होता है कि उव्वट को वर्गद्वयवृत्ति भाग वाली व्याख्या उपलब्ध नहीं हुई क्योंकि उसके कर्ता विष्णुमित्र का उव्वट ने अपनी टीका में कहीं उल्लेख नहीं किया।

डा० वर्मा प्रभृति ऋक्तन्त्र को प्रातिशाख्य ही मानते हैं, उसमें भी अक्षर-समाम्नाय आदि में उपदिष्ट है। अतः सामान्य रूप से यह कहना कि प्रातिशाख्यों में अक्षर-समाम्नाय का निर्देश नहीं है, चिन्त्य है।

ऐन्द्र सम्प्रदाय की कतिपय कातन्त्रीय संज्ञाओं के प्रातिशाख्यों में मिलने मात्र से प्रातिशाख्यों को ऐन्द्र सम्प्रदाय का मान बैठना समीचीन नहीं है। इस समस्या का अन्तिम रूप से तब निर्णय हो सकता है जब ऐन्द्रतन्त्र अथवा उसके दो चार सौ सूत्र या मत उद्धृत मिल जाँए।

ऋग्वेद के प्रातिशाख्य

ऋग्वेद के पाँच चरणों के पांच प्रातिशाख्यों में सम्प्रति एक प्रातिशाख्य ही उपलब्ध है। इसका सम्बन्ध शाकल चरण संहिताओं के साथ है। अन्य आश्वलायन, बाष्कल, शांखायन प्रातिशाख्य केवल नाम पात्र से विज्ञात हैं। ऋग्वेद सम्बन्धी केवल एक ही प्रातिशाख्य उपलब्ध होने से इस प्रातिशाख्य को लोक में ऋक् प्रातिशाख्य नाम से सामान्यतः अभिहित किया जाता है।

शौनक

इस ऋक्प्रातिशाख्य अथवा ऋक्पार्षद के प्रवक्ता गृहपति आचार्य शौनक हैं। यास्क ने अपनी तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी में शौनक के प्रातिशाख्य-

निर्दिष्ट छन्दोमत का नामपुरःसर निर्देश किया है और शौनक ने भी इस प्रातिशाख्य में यास्कीय मत को उद्धृत किया है। महाभारत से ज्ञात होता है कि यास्क ने निरुक्त का प्रवचन महाभारत के प्रवचन से पूर्व किया था। इस लिए शौनक के इस प्रातिशाख्यप्रवचन का काल भारतयुद्ध से १०० वर्ष से अधिक उत्तर नहीं माना जा सकता। अर्थात् विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व इस का प्रवचन हुआ होगा।

ऋक्प्रातिशाख्य का सामान्य परिचय—इस प्रातिशाख्य में १८ पटल हैं। प्रयेक पटल में छन्दोबद्ध सूत्र हैं। अन्य प्रातिशाख्यों से यह प्रातिशाख्य कुछ विशिष्टता रखता है। अन्य प्रातिशाख्यों में प्रायः सन्धि आदि के नियमों, पद-पाठ तथा क्रमपाठ के नियमों का ही उल्लेख है। यदि शिक्षा का किसी में वर्णन मिलता भी है तो बहुत शाधारण। इस प्रातिशाख्य में सन्धि आदि के नियमों, पद-पाठ तथा क्रम पाठ के पाठनियमों के उल्लेख के अतिरिक्त १३ वें १४ वें में शिक्षा का विषय विस्तार से वणित है। १६—१८ तक तीन पटलों पटल में छन्दःशास्त्र का विस्तार से विधान है।

अन्य ग्रन्थ—ऋक् प्रातिशाख्य के अतिरिक्त आचार्य शौनक ने वैदिक-वाङ्मय में अथर्व की **शौनक संहिता**, अथर्वप्रातिशाख्य, बृहद्देवता, ऋग्वेद के ऋषि-देवता-छन्द-अनुवाक आदि से सम्बद्ध दश अनुक्रमणियों और शौनकी शिक्षा का प्रवचन किया था। वैदिककेतर वाङ्मय में ज्योतिषशास्त्र का प्रवचन किया था।

व्याख्याकार

विष्णुमित्र की वृत्ति के आरम्भ में किसी भाष्यकर्ता और वृत्तिकार आत्रेय का निर्देश किया गया है। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह आत्रेय कौन है और भाष्यकार के नामदेश आदि का ज्ञान है।

विष्णुमित्र

विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य पर एक उत्तम वृत्ति लिखी है। यह अभी तक केवल दो वर्गों पर ही मुद्रित हुई है। इसके हस्तलेख अनेक स्थानों पर विद्यमान है।

विष्णुमित्र ने अपनी वृत्ति के आरम्भ में जो परिचय दिया है, उसके अनुसार विष्णुमित्र के पिता देवमित्र प्रातिशाख्य ज्ञाताओं में श्रेष्ठ था। विष्णु-मित्र का दूसरा नाम 'कुमार' था। वह वत्सकुल का था। वह कुछ पहले चम्पा में निवास करता था।

विष्णुमित्र का काल अज्ञात है।

उव्वट (सं० ११०० वि० के समीप)

उव्वट ने ऋक् प्रातिशाख्य का 'भाष्य' नाम से व्याख्यान किया है। यह भाष्य अनेक स्थानों से प्रकाशित है। डॉ० मङ्गलदेवशास्त्री का संस्करण अपेक्षा कृत अच्छा है।

उव्वट ने अपने को आनन्दपुर का निवासी और वज्रट का पुत्र कहा है।

उव्वट ने अपने यजुर्वेदभाष्य के अन्त में भोज के राज्यकाल में और अवन्ती नगरी में मन्त्रभाष्य लिखने का उल्लेख किया है। भोज का राज्य-काल सं० १०७५—१११० माना जाता है।

अव्वट ने इसके अतिरिक्त माध्यन्दिनी संहिता, शुक्कयजुःप्रातिशाख्य और ऋक्सर्वानुक्रमणी पर भी अपने भाष्य लिखे हैं।

अन्य—ऋक्प्रातिशाख्य पर अज्ञात कर्तृक वाक्यदीपिका और उदाहरण-मण्डिका नाम्नी व्याख्याओं के हस्तलेख उपलब्ध हैं। 'सत्ययशाः' और पशु-पतिनाथ शास्त्री की भी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। पशुपतिनाथ शास्त्री की व्याख्या 'सस्कृत साहित्य परिषद् ग्रन्थमाला कलाकत्ता' से सन् १९२९ ई० में प्रकाशित हुई है। सत्ययशाः की व्याख्या का हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर के संग्रह में विद्यमान है।

आश्वलायन

अनन्त की वाजसनेय प्रातिशाख्य की टीका में ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा के एक प्रातिशाख्य का निर्देश है। अनन्त का वचन इस प्रकार है—

'नाप्यश्वलायनाचार्यादिकृतप्रातिशाख्यसिद्धत्वम्' १।१॥

इस पाठ से विदित होता है कि यह प्रातिशाख्य आश्वलायन प्रोक्त है।

यह प्रातिशाख्य इस समय उपलब्ध नहीं है और कहीं अन्यत्र इसका उल्लेख भी नहीं मिलता है।

आचार्य आश्वलायन-प्रोक्त निम्नग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

संहिता-ब्राह्मण—इस संहिता और ब्राह्मण के लिए पं० भगवद्दत्त जी कृत 'वैदिकवाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग' द्रष्टव्य है।

पद-पाठ—आश्वलायन पदपाठ का हस्तलेख दयानन्द कालेज लाहौर के संग्रह में संख्या ४१२९ पर निर्दिष्ट है।

श्रौत-गृह्य—आश्वलायन श्रौत और गृह्यसूत्र प्रसिद्ध हैं।

अनुक्रमणी—आश्वलायन अनुक्रमणी का निर्देश अथर्ववेदीय बृहत् सर्वानुक्रमणी के ११ वें पटल के आरम्भ में उपलब्ध होता है।

विशेष—महात्माबुद्ध के सम्पर्क में आने वाले तत्कालीन विशिष्ट विद्वानों का गोत्रनामों से उल्लेख किया गया है। अतः त्रिपिटकों में प्रयुक्त आश्वलायन आदि नाम आद्यव्यक्ति नहीं है। इसलिए, 'बौद्धग्रन्थों में स्मृत आश्वलायन आदि ही, आश्वलायन आदि श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों के प्रवक्ता हैं'—पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है।

बाष्कल प्रातिशाख्य का प्रवक्ता

बाष्कल चरण के प्रातिशाख्य का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं मिलता है। शांखायन श्रौत (१२।१३।५) के वरदत्तसुत आनर्तीय के भाष्य के निम्नवचन से उसकी अतिशय सम्भावना होती है—

'उपद्रतो नाम सन्धिर्बाष्कलादीनां प्रसिद्धः। तस्योदाहरणम्।'

इसमें बाष्कल चरण की शाखाओं में निर्दिष्ट उपद्रुत नाम की सन्धि का उल्लेख है। निश्चय ही इस सन्धि का विधान उसके प्रातिशाख्य में रहा होगा।

इसी प्रकार शांखायन श्रौत (१।२।५) के भाष्य में निम्नवचन मिलता है—

'किन्तु बाष्कलानामप्रगृह्यः, तदर्थं वचनम्।'

शांखायन प्रातिशाख्य का प्रवक्ता

अलवर के राजकीय संग्रह में प्रातिशाख्य का एक हस्तलेख है। उसके अन्त में पाठ है—

'इति प्रातिशाख्येऽष्टादशं पटलम्। तृतीयोऽध्यायः समाप्तः। सांखायनशाखायां प्रातिशाख्यं समाप्तम्।'······

इसके आद्यन्त पाठ से तो प्रतीत होता है कि यह शाकल पार्षद है परन्तु अन्तिम श्लोक के अन्त्य चरण—'स्वर्गं जयंत्येभिरथामृतत्वम्' (।।३८।।७।।) के साथ इस (३८।।७) संख्याविशेष का निर्देश होने से सन्देह होता है कि यह पार्षद, शाकल पार्षद से कुछ भिन्नता रखता हो और इसका प्रवचन भी शौनक ने ही किया हो। वस्तुतः इस हस्तलेख का पूरा पाठ मिलाने पर ही किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है।

कात्यायन

आचार्य कात्यायन शुक्लयजुर्वेद वाजसनेय प्रातिशाख्य के प्रवक्ता हैं। ये वाजसनेय याज्ञवल्क्य के पुत्र हैं। अतः इनका काल लगभग ३०००—२६०० वि० पूर्व है।

आचार्य कात्यायन के नाम से अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। कात्यायन नाम के आचार्य भी अनेक हैं। कौन सा ग्रन्थ किस कात्यायन का है, यह कहना कठिन है। निम्न ग्रन्थ अवश्य इसी कात्यायन के हैं—

संहिता ब्राह्मण, श्रौत, गृह्य, धर्मसूत्र, प्रतिज्ञा सूत्र, भाषिक सूत्र।

कात्यायन प्रातिशाख्य पर निम्म व्याख्याएँ लिखी गयी हैं—

१. उव्वटकृत 'भाष्य'। २. अनन्तभट्ट कृत व्याख्या। ३. श्रीरामशर्मा-कृत '**ज्योत्स्ना**'। ४. राम अग्निहोत्री कृत **प्रातिशाख्य दीपिका**। ५. शिवराम कृत **शिवाख्य भाष्य**। ६. अज्ञातकर्तृक '**विवरण**'।

प्रातिशाख्यानुसारिणी शिक्षा

निम्नलिखित कतिपय विद्वानों ने वाजसनेय प्रातिशाख्य को दृष्टि में रखकर कुछ शिक्षा-ग्रन्थ रचे हैं—

बालकृष्ण शर्मा

इन्होंने '**प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा**' नाम की एक शिक्षा बनायी है। यह काशी से प्रकाशित '**शिक्षासंग्रह**' में छप चुकी है।

बालकृष्ण ने अपना उपनाम **गोडशे** बताया है इससे विदित होता है कि यह महाराष्ट्रीय है।

बालकृष्ण के पिता का नाम **सदाशिव** था। इस ग्रन्थ का लेखन काल सं० १८०२ वि० है।

इस शिक्षा में प्राधान्येन कात्यायन प्रातिशाख्य के सूत्रों की क्रमविशेष से व्याख्या की गयी है। लगभग तीन चौथाई सूत्र व्याख्यान हैं।

अमरेश

अमरेश की '**वर्णरत्नदीपिका**' नाम्नी शिक्षा, काशी से प्रकाशित 'शिक्षा-संग्रह' में छपी है। अमरेश ने अपने को भारद्वाज कुल का कहा है। इसके अतिरिक्त अपना कोई परिचय नहीं दिया है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय चरण से सम्बद्ध है। इस प्रातिशाख्य का प्रवक्ता कौन आचार्य है, यह अज्ञात है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा इसके त्रिभाष्यरत्न पर ह्विट्नि ने अनेक आक्षेप किये हैं और अनेक दोष दर्शाए हैं। उनका, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मैसूर संस्करण के सम्पादक पण्डितरत्न कस्तूरिरङ्गाचार्य ने अत्यन्त प्रौढ़, युक्तियुक्त और मुंहतोड़ विस्तृत उत्तर दिया है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर ९ व्याख्याएँ उपलब्ध वा ज्ञात हैं—

१—आत्रेयकृत भाष्य। २—वररुचि विरचित **प्रातिशाख्य-व्याख्यान**। ३—माहिषेयकृत भाष्य। ४—सोमयार्य विरचित **त्रिभाष्यरत्नव्याख्या**। ५—गार्ग्य गोपालयज्वाकृत **'वैदिकाभरण'**। ६—वीरराघवकविकृत **'शब्द-ब्रह्मविलास'**। ७—भैरवार्यकृत **वर्णक्रमदर्पण**। ८—पद्मनाभकृत **तैत्तिरीय प्रातिशाख्य विवरण**। ९—अज्ञातकर्तृक **वैदिकभूषण**। अथवा भूषणरत्न।

मैत्रायणीय प्रातिशाख्य

मैत्रायणीय चरण का एक प्रातिशाख्य इस समय भी सुरक्षित है। इस प्रातिशाख्य के प्रवक्ता का नाम अज्ञात है। इसमें १७ ऋषियों का उल्लेख मिलता है। इससे अधिक इस प्रातिशाख्य के विषय में ज्ञात नहीं है।

चारायणि

आचार्य चारायणि-प्रोक्त चारायणीय प्रातिशाख्य सम्प्रति अनुपलब्ध है। लौगाक्षिगृह्यसूत्र के व्याख्याता देवपाल ने कण्डिका ५, सूत्र १ की टीका में कृच्छ्र शब्द की व्याख्या में लिखा है—

'.........तथा च चारायणिसूत्रम्—'पुरुकृते च्छच्छ्रयोः' इति पुरुशब्दः कृतशब्दश्च लुप्यते यथासंख्य छे छ्रे परतः पुरुच्छदनं पुच्छम्, कृतस्य छदनं विनाशनं कृच्छ्रमिति'।

इससे इतना स्पष्ट है कि चारायणि आचार्य प्रोक्त कोई लक्षण ग्रन्थ अवश्य था। उसमें **'पुच्छ-कृच्छ्र'** शब्दों का साधुत्व दर्शाया गया था। किन्तु यह लक्षण ग्रन्थ प्रातिशाख्य रूप था, वा व्याकरण रूप था, यह कहना कठिन है।

चारायणीय शिक्षा काश्मीर से प्राप्त हो चुकी है।

चारायणि का नामान्तर चारायण भी है। जैसे—काशकृत्स्नि-काशकृत्स्न। पाणिनि-पाणिन। यहाँ भी अण् और इञ् दोनों प्रत्यय अपत्यार्थ में देखे जाते हैं।

सामप्रातिशाख्यप्रवक्ता

सामवेद का प्रातिशाख्य पुष्पसूत्र और फुल्लसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। सामवेदीय सर्वानुक्रमणी में हरदत्त ने लिखा है—

> 'सूत्रकारं वररुचिं वन्दे पाणिश्च वेधसम्।
> फुल्लसूत्रविधानेन खण्डप्रपाठकानि च॥'

इसी प्रकार आगे पुनः लिखा है—

> 'वन्दे वररुचिं नित्यमूहाब्धेः पारदृश्वनम्।
> पोतो विनिर्मितो येन फुल्लसूत्रशतैरलम्॥'

इससे स्पष्ट विदित होता है कि सामप्रातिशाख्य (फुल्लसूत्र) का रचयिता सूत्रकार वररुचि है। यह वररुचि कौन, यह विचारणीय है। अधिक सम्भव है कि यह याज्ञवल्क्य का पौत्र, कात्यायन का पुत्र सूत्रकार वररुचि हो।

धातुवृत्ति (मैसूर संस्करण) के सम्पादक महादेव शास्त्री ने भूमिका में सामप्रातिशाख्य को आपिशलि विरचित माना है। वह प्रमाणाभाव से चिन्त्य है।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सम्पादित पुष्पसूत्र की भूमिका में जैमिनि से पुष्पसूत्र की पूर्ववर्तिताद्योतक वचन उपलब्ध होता है।

पुष्पसूत्र के दो पाठ—उपाध्याय अजातशत्रु ने पुष्पसूत्र पर भाष्य लिखा है। उससे प्रतीत होता है कि पुष्पसूत्र के दो प्रकार के पाठ हैं। एक पाठ वह है जिस पर उपाध्याय अजातशत्रु का पाठ है और दूसरा वह जिसमें आरम्भ के वे चार प्रपाठक भी सम्मिलित हैं, जिन पर अजातशत्रु की व्याख्या नहीं है।

अन्य व्याख्याकार

उपाध्याय अजात शत्रु की व्याख्या में निम्नलिखित वचनों से पूर्व कम से कम दो-व्याख्याओं की सत्ता का निर्देश मिलता है—

(१) 'उच्यते। सत्यं न प्राप्नोति। किं तर्हि ? भाष्यकारेण अकारचोद्यनप्रापितम्'। (पृ०२३६)

(२) 'अन्ये पुनरिहापि एक इति अधिकारमनुसारयन्ति ।'
(पृष्ठ २२०)

रामकृष्ण दीक्षित सूरि ने फुल्ल सूत्र पर ''नानाभाष्य' नाम बृहद् भाष्य लिखा था ।

इदं फुल्लस्य सूत्रस्य बृहद्भाष्यं हि यत्कृतम् ।
नानाभाष्याख्यया रामकृष्णदीक्षितसूरिभिः ॥'
(ऋक्तन्त्रपरिशिष्ट पृष्ठ ७)

अथर्वप्रातिशाख्य-प्रवक्ता

अथर्ववेद से सम्बन्ध रखने वाले दो ग्रन्थ हैं–एक प्रातिशाख्य और दूसरा शौनकीय चतुरध्यायी । चतुरध्यायी को कौत्स व्याकरण भी कहते हैं ।अथर्व-प्रातिशाख्य के भी दो पाठ हैं —एक पं० विश्वबन्धु शास्त्री सम्पादित, दूसरा डा० सूर्यकान्त सम्पादित । प्रथम पाठ का व्यवहार लघुपाठ के नाम से और दूसरे का बृहत्पाठ के नाम से किया जाता है । डा० सूर्यकान्त जी का मत है कि लघुपाठ, बृहत्पाठ से उत्तर कालीन है । उनका यह मत सम्भवत: ठीक ही है । उनकी युक्तियाँ पर्याप्त बलवती हैं । उनका यह भी मत है कि अथर्वप्रातिशाख्य और शौनकीय चतुरध्यायी में अथर्वप्रातिशाख्य, शौनकीय चतुरध्यायी से उत्तरवर्ती है ।

प्रवक्ता—अथर्वप्रातिशाख्य के दोनों पाठों के नाम का उल्लेख नहीं मिलता अत: यह कहना कठिन है कि अथर्वप्रातिशाख्य का प्रवक्ता कौन आचार्य है ।

काल—डॉ० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित प्रातिशाख्य की भूमिका में सिद्ध किया गया है कि अथर्वप्रातिशाख्य का काल पाणिनि के पश्चात् और पतञ्जली से पहले है उन्होंने युक्तियाँ दी हैं—

१—पाणिनि के (६।३।८) पर कात्यायन ने **आत्मने भाषा** और **परस्मै भाषा** रूप बनाये हैं । अथर्वप्रातिशाख्य सूत्र २२३ में आत्मने भाषा और परस्मै भाषा शब्द प्रयुक्त है । कातन्त्र में **परस्मै** और **आत्मने** का प्रयोग भी मिलता है ।

२—कात्यायन ने **अद्यतनी** और **श्वस्तनी** का प्रयोग किया है । कातन्त्र में इनके अतिरिक्त लङ् के लिए ह्यस्तनी का प्रयोग भी होता है । अथर्व-प्रातिशाख्य में **अद्यतनी** (सूत्र ७८) ह्यस्तनी (सूत्र १६७) शब्दों का प्रयोग मिलता है ।

६—कातन्त्र ३।१।१४ **भूतकरणवत्यश्च** में भूतकरण का प्रयोग उपलब्ध उसी अर्थ में अथर्वप्रातिशाख्य (सूत्र ४९७) में **भूतकर** का निर्देश मिलता है।

अथर्वप्रातिशाख्य को पाणिनि से उत्तरवर्ती सिद्ध करने में सूर्यकान्तजी की उपर्युक्त युक्ति निस्सार है। पाणिनीय सूत्र पर कात्यायन के वार्तिक द्वारा **आत्मने भाषा** और **परस्मै भाषा** पदों के साधुत्व का निर्देश होने से यह कथमपि सिद्ध नहीं होता कि ये शब्द पाणिनि से पूर्व व्यहृत नहीं थे। **आत्मने भाषा परस्मै भाषा** शब्द पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं। पाणिनीय धातुपाठ में इनका प्रयोग मिलता है। यथा—'भूसत्तायाम् उदात्तः परस्मैभाष.।' इस पर धातुप्रदीपकार **मैत्रेयरक्षित** लिखता है—

'परस्मैभाषा इति परस्मैपदिनः पूर्वाचार्यसंज्ञा'।

सायण भी धातुवृत्ति में लिखता है—

परस्मैभाषा—परस्मैपदीत्यर्थः।'

कात्यायनीय वार्तिकों में निर्दिष्ट प्रयोगों को उत्तर पाणिनीय मानना महती भूल है। पाणिनीय तन्त्र में पाणिनि द्वारा अनिर्दिष्ट तथा कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट शतशः ऐसे प्रयोग हैं, जिनका साधुत्व प्राचीन व्याकरणों में उपलब्ध है, अथवा प्राचीन वाङ्मय में वे उसी रूप में व्यवहृत हैं।

अथर्वचतुरध्यायी-प्रवक्ता

अथर्व-सम्बन्धी प्रातिशाख्य सदृश एक ग्रन्थ और है, जो प्रायः शौनकीय चतुरध्यायी के नाम से सम्प्रति व्यवहृत हो रहा है। यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है।

प्रवक्ता—अथर्वचतुरध्यायी का प्रवक्ता संदिग्ध है। ह्विटनी के हस्तलेख के अन्त में शौनक का नाम निर्दिष्ट होने से वह इसे शौनकीय मानता है जब कि अन्य उपलब्ध अनेक हस्तलेखों के अन्त में **'इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां'** पाठ उपलब्ध होता है। यह संभावतः अधिक युक्त प्रतीत होती है कि शौनकीय चतुरध्यायी का प्रवक्ता कौत्स है और अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बद्ध होने से यह शौनकीय विशेषण से विशेषित होती है। भारतीय वाङ्मय में कौत्स नाम के अनेक आचार्य हो चुके हैं। उनमें से चतुरध्यायी का प्रवक्ता कौन सा कौत्स है, यह कहना अभी कठिन है।

प्रतिज्ञासूत्रकार

शुक्लयजुः सम्प्रदाय में **प्रतिज्ञासूत्र** नाम के दो ग्रन्थ हैं। एक का सम्बन्ध कात्यायन-प्रातिशाख्य के साथ है और दूसरे का कात्यान श्रौत के साथ। कात्यायन प्रातिशाख्य और श्रौत दोनों से सम्बद्ध परिशिष्टों का रचयिता भी कात्यायन ही माना जाता है। यदि परिशिष्ट, प्रातिशाख्य और श्रौतसूत्र के प्रवक्ता आचार्य के ही हों तो इनका काल विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व होगा।

व्याख्याकार अनन्तदेव के अनुसार कात्यायन-प्रातिशाख्य से सम्बद्ध प्रतिज्ञासूत्र का आरम्भ प्रातिशाख्य में अनुपदिष्ट स्वर संस्कार आदि का वर्णन करने के लिए हुआ है।

इस प्रतिज्ञा सूत्र में तीन कण्डिकाएँ हैं। प्रथम में स्वरविशेष के नियमों का वर्णन है। द्वितीय में य–ज, ष–ख और स्वरभक्ति आदि के उच्चारण का विधान है। तृतीय में अयोगवाहों के विशिष्ट उच्चारण की विधि कही है।

व्याख्याकार

अनन्तदेव याज्ञिक—प्रतिज्ञासूत्र पर 'भाष्य' नाम से एक व्याख्या लिखी है। अनन्तदेव याज्ञिक की इस व्याख्या में अनेक स्थानों पर प्राचीन व्याख्याकारों के मत उद्धृत हैं। उनसे विदित होता है कि इस ग्रन्थ पर अनन्तदेव याज्ञिक से पहिले कई व्याख्यान ग्रन्थ लिखे जा चुके थे।

भाषिकसूत्रकार

कात्यायन-प्रातिशाख्य के परिशिष्टों में एक **भाषिकसूत्र** भी है। इसमें तीन कण्डिकाएँ हैं। इसमें शतपथ ब्राह्मण के स्वरसञ्चार पर प्राधान्येन विचार किया गया है। इस पर महास्वामी और अनन्तदेव की व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं।

ऋक् तन्त्र

सामवेदीय ग्रंथों में **ऋक्तन्त्र** नाम का एक ग्रंथ प्रसिद्ध है। इसमें सामवेद की किसी शाखा-विशिष्ट के स्वरसन्धि आदि नियमों का विधान मिलता है।

ऋक्तन्त्र के प्रवक्ता के विषय में प्राचीन ग्रंथकारों में मतभेद है। कुछ ग्रन्थकार **ऋक्**तन्त्र का प्रवक्ता शाकटायन को मानते हैं और कुछ औदव्रजि को।

ऋक्तन्त्र का द्विविध पाठ---ऋक्तन्त्र के दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। प्रथम पाठ में शिक्षारूप प्रथम प्रपाठक को सम्मिलित कर पांच प्रपाठक हैं। दूसरे पाठ में शिक्षारूप प्रथम प्रपाठक नहीं है इस लिए उसमें कुल चार प्रपाठक ही हैं। वृत्ति और विवृत्ति ग्रंथ ऋक्तन्त्र के जिस पाठ पर लिखे गये, उसमें चार ही प्रपाठक थे अर्थात् उसमें शिक्षात्मक प्रपाठक सम्मिलित नहीं था।

व्याख्याता

अज्ञातनामा भाष्यकार---ऋक्तन्त्र की सूर्यकान्त द्वारा प्रकाशित व्याख्या में तीन स्थानों पर किसी प्राचीन भाष्य का उल्लेख मिलता है। इससे विदित है कि ऋक्तन्त्र पर बहुत पहिले भाष्यग्रन्थ लिखा गया था।

अज्ञातनामा वृत्तिकार---ऋक्तन्त्र की जो वृत्ति प्रकाशित हुई है, उसके कर्त्ता का नाम और देशकाल आदि कुछ भी परिज्ञात नहीं है।

विवृत्तिकार—ऋक्तन्त्र की उक्त वृत्ति पर एक विवृत्ति भी है। विवृत्तिकार के भी नाम देश काल आदि का कुछ परिचय नहीं मिलता।

अज्ञातनामा व्याख्याता—विवृत्तिकार ने विवृत्ति में लिखा है—

'ऋक्तन्त्रकार तद् व्याख्यातृभिः स्वरितस्योच्चनीचव्यतिरेकेण……'

यहाँ पर बहुवचन निर्देश से व्यक्त होता है कि विवृत्तिकार की दृष्टि में ऋक्तन्त्र की कोई अन्य वृत्ति भी थी। उसी को दृष्टि में रखकर उसने बहुवचन का प्रयोग किया है।

लघु ऋक्तन्त्र

ऋक्तन्त्र के आधार पर एक लघुऋक्तन्त्र का प्रवचन भी किसी आचार्य ने किया था। इसमें पाणिनि का नामोल्लेख पूर्वक स्मरण किया गया है। अतः इसका प्रवचन पाणिनि से उत्तरवर्ती है, यह स्पष्ट है।

सामतन्त्र-प्रवक्ता

सामवेद से सम्बद्ध एक सामतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध होता है। हरदत्त के अनुसार इसका प्रवक्ता 'औदव्रजि' है। सत्यव्रत सामश्रमी अनुश्रुति के आधार पर आचार्य गार्ग्य को प्रवक्ता मानते हैं। हरदत्त का कथन अधिक प्रामाणिक है।

हरदत्त के अनुसार किसी भट्ट उपाध्याय ने सामतन्त्र का भाष्य किया था।

अक्षरतन्त्रप्रवक्ता

सामवेद से सम्बद्ध **अक्षरतन्त्र** नामक एक लघुग्रन्थ है। इसका प्रकाशन पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने बहुत पूर्व किया था।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भूमिका में लिखा है कि अक्षरतन्त्र का प्रवचन, ऋक्तन्त्र के प्रवक्ता शाकटायन के समकालिक महामुनि आपिशलि ने किया है।

अक्षरतन्त्र में सामगानों में प्रयुज्यमान स्तोत्र आदि का निर्देश किया गया है।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अक्षरतन्त्र पर एक वृत्ति भी प्रकाशित की है। इस वृत्ति के आद्यन्त हीन होने से इसके लेखक आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

छन्दोगव्याकरण

सरस्वती भवन काशी के संग्रह में **छन्दोगव्याकरण** नाम से एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। ऋक्तन्त्र को भी छन्दोगों (सामवेदियों) का व्याकरण कहा जाता है। अतः अधिक सम्भव है कि यह हस्तलेख ऋक्तन्त्र का होगा।

उनतीसवाँ अध्याय

व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार

व्याकरणशास्त्र का मूल प्रयोजन यद्यपि भाषा में प्रयुज्यमान शब्दों के साधुत्व असाधुत्व की विवेचना करना और भाषा को अपभ्रंशमात्र से बचाना है, तथापि जब प्रयुज्यमान पदों के प्रयोग-कारणों का चिन्तन, पदार्थ और उसके सामर्थ्य का चिन्तन किया जाता है, तब व्याकरणशास्त्र दर्शनशास्त्र का रूप ग्रहण कर लेता है। इस दृष्टि से व्याकरणशास्त्र के दो विभाग हो जाते हैं। एक शब्दसाधुत्वासाधुत्वविषयक, और दूसरा पद-पदार्थ-तत्सामर्थ्यचिन्तनविषयक। अब इसी द्वितीय विभाग अर्थात् दार्शनिक ग्रन्थों अथवा ग्रन्थकारों का वर्णन करते हैं।

व्याकरणशास्त्रसंबद्ध विषयों पर दार्शनिक ग्रन्थों का प्रवचन कब से आरम्भ हुआ, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, हाँ, **अवङ्स्फोटायनस्य** (पा० ६।१।१२३) और यास्क के शब्दनित्यत्वानित्यत्वविचार (निरुक्त १।१) से यह अवश्य ध्वनित होता है कि **व्याकरणशास्त्र का दार्शनिक चिन्तन भी पाणिनि और यास्क से बहुत पूर्व आरम्भ हो गया था।**

व्याकरणशास्त्र के उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थों में प्रायः निम्न विषयों पर विचार किया गया है—

१. भाषा की उत्पत्ति, २. शब्द की अभिव्यक्ति, ३. शब्द के दो रूप—स्फोट और ध्वनि, ४. अपभ्रंश के कारण, ५. पद-मीमांसा, ६. वाक्य-मीमांसा, ७. धात्वर्थ, ८. लकारार्थ, ९. प्रातिपदिकार्थ, १०. सुबर्थ, ११. समास-शक्ति, १२. शब्द-शक्ति, १३. निपातार्थ, १४. स्फोट, १५. क्रिया, १६. काल, १७. लिङ्ग, १८. संख्या, १९. उपग्रह।

सम्प्रति उपलब्ध दार्शनिकग्रन्थों में अधिक संख्या स्फोट-विषयक ग्रन्थों की है।

स्फोटायन

स्फोटायन आचार्य का उल्लेख पाणिनि ने **'अवङ्स्फोटायनस्य'** (६।१।१२३) में साक्षात् रूप से किया है। हरदत्त ने काशिका (६।१।१२३) की टीका में स्फोटायन शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

'स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। ये त्वौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा (स्फोटशब्दस्य) पाठं मन्यन्ते।'

इस व्याख्या के अनुसार प्रथम पक्ष में स्फोटायन आचार्य वैयाकरणों के स्फोटतत्व का प्रथम उपज्ञाता प्रतीत होता है। इस पक्ष में आचार्य का नाम अज्ञात है। द्वितीय पक्ष में (सूत्र में 'स्फौटायनस्य' पाठ मानने पर) इसके पूर्वज का नाम **स्फोट** था। यह नाम भी स्फोटतत्वोपज्ञाता होने से प्रसिद्ध हुआ होगा।

इस आचार्य के काल आदि के विषय में चौथे अध्याय में लिखा जा चुका है। वहाँ दर्शायी गयी स्फोटायन और औदुम्बरायण की एकता की सम्भावना यदि प्रमाणान्तर से पुष्ट हो जाये, तो स्फोटायन का काल ३१०० वि० पू० होना चाहिए।

भरद्वाजमुनिकृत विमानशास्त्र की बौधायनवृत्ति में स्फोटायनाचार्य के उद्धृत मत से विदित होता है कि स्फोटायन आचार्य पूर्ववर्ती शौनक आदि से भी पूर्वकालीन हैं। तदनुसार स्फोटायन का काल लगभग ३२०० वि० पू० अवश्य होना चाहिए।

औदुम्बरायण (३१०० वि० पू०)

'स्फोटसिद्धि' के लेखक भरतमिश्र के अनुसार औदुम्बरायण ने शब्द के अखण्डभाव (स्फोटात्मकता) का उपदेश किया था। वाक्यपदीय २।३४३ के अनुसार औदुम्बरायण शब्द नित्यत्ववादी था। यास्क ने निरुक्त १।१ में लिखा है—**'इन्द्रिय नियतं वचनमौदुम्बरायणः।** अर्थात् वचन (शब्द) इन्द्रिय में नियत हैं। इन्द्रिय से अतिरिक्त शब्द की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं, अर्थात् शब्द अनित्य है, ऐसा आचार्य औदुम्बरायण का मत है।

भरतमिश्र और भर्तृहरि के पूर्व निर्दिष्ट वचन से शब्द के नित्यत्व का प्रतिपादक किन्तु यास्क के वचनानुसार औदुम्बरायण शब्द के अनित्यत्व पक्ष का निर्देशक विदित होता है। इसका एक समाधान यह हो सकता है कि स्फोटवादी ध्वनि रूप को भी स्वीकार करते हैं। ध्वनि रूप में शब्द इन्द्रिय-नियत होता है। सम्भवतः ध्वनिपक्ष में आने वाले दोषों के संग्रह का औदुम्बरायण का निर्देश करके यास्क ने उल्लेख किया है। यदि यह समाधान स्वीकार न किया जाए, तब भी इतना तो स्पष्ट है कि औदुम्बरायण ने शब्द नित्यत्व-अनित्यत्व पक्षों पर विचार अवश्य किया था।

औदुम्बरायण के पिता का नाम उदुम्बर था और यास्क के द्वारा उल्लिखित होने से इसका काल ३१०० वि० पू० है।

व्याडि (२९५० वि० पू०)

आचार्य व्याडि प्राचीन वाङ्मय में दाक्षायण नाम से प्रसिद्ध हैं। इसका 'संग्रह' नामक ग्रन्थ व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ था ऐसा महाभाष्य १।१।१ और विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध उद्धरणों से विदित होता है। 'वाक्यपदीय' के अनुसार इस ग्रन्थ में १४ सहस्र विषयों की परीक्षा थी और नागेश के मतानुसार इस ग्रन्थ का परिमाण एक लक्ष श्लोक था।

व्याडि के परिचय तथा देश काल आदि के विषय में सातवें अध्याय में लिखा जा चुका है।

पतञ्जलि (२००० वि० पू०)

पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी और उस पर लिखे गये कात्यायन के वार्तिकों का आश्रय करके महाभाष्य नामक एक अनुपम ग्रन्थ लिखा है। यद्यपि ग्रन्थ को आपाततः देखने पर यह अष्टाध्यायी का व्याख्यामात्र विदित होता है किन्तु इसका इतना ही स्वरूप नहीं हैं। यह केवल पाणिनीय व्याकरण का ही नहीं, अपितु प्राचीन व्याकरण-सम्प्रदायमात्र का एक आकर ग्रन्थ है। भर्तृहरि ने लिखा है—

'सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।'

(वाक्यपदीय काण्ड २, श्लोक ४८५)

इसकी व्याख्या में पुण्यराज लिखता है—

'तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत् सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमित्यत एव सर्वन्यायबीजहेतुत्वादेव महच्छब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके।'

अर्थात् भाष्य केवल व्याकरण का ग्रन्थ नहीं है, उसमें सभी न्यायबीजों का निबन्धन है। इसीलिए उसे महान् शब्द से विशेषित करके 'महाभाष्य' कहते हैं।

भर्तृहरि पुनः लिखता है—

'आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके।' (वाक्यपदीय २।४८८)

इस वचन से स्पष्ट होता है कि महाभाष्य 'संग्रह' के समान व्याकरण

का दार्शनिक ग्रन्थ है। भर्तृहरि के वाक्यपदीय ग्रन्थ का यही एकमात्र आधार ग्रन्थ है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि के देश-काल आदि के विषय में दसवें अध्याय में लिख चुके हैं।

भर्तृहरि (४०० वि० पू०)

भर्तृहरि 'वाक्यपदीय' व्याकरणशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त है। वे क्रमशः आगम, वाक्य और पद अथवा प्रकीर्ण नाम से प्रसिद्ध हैं।

वाक्यपदीय नाम—कई प्राचीन ग्रन्थकार वाक्यपदीय नाम से तीनों काण्डों का निर्देश मानते हैं। वाक्यपदीय संज्ञा से भी इसी अभिप्राय की पुष्टि होती है। वाक्य और पद को अधिकृत करके जो ग्रन्थ लिखा जाय वह 'वाक्यपदीय' कहाता है। प्रथम ब्रह्मकाण्ड में दार्शनिक दृष्टि से वाक्य विषयक विचार किया गया है और तृतीयकाण्ड पदविषयक है।

अनेक ग्रन्थकार वाक्यपदीय शब्द से केवल प्रथम और द्वितीय काण्डों का निर्देश करते हैं। यही कारण है कि तृतीय काण्ड स्वतन्त्र **'प्रकीर्ण'** नाम से व्यवहृत होता है। हेलाराजकृत तृतीयकाण्ड की व्याख्या का **'प्रकीर्णप्रकाश'** नाम भी इसी मत का पोषक है।

वस्तुतः 'वाक्यपदीय' नाम केवल द्वितीय काण्ड का है। तीनों काण्डों के तीन नाम हैं—आगम काण्ड, वाक्यपदीय काण्ड, प्रकीर्ण काण्ड। इसी मत की पुष्टि हेलाराज के निम्नश्लोक से होती है—

'त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता।'

अर्थात् त्रैलोक्य गामिनी (गंगा के समान) जिसने तीन काण्डों वाली त्रिपदी बनायी।

इस वचन में हेलाराज ने **'त्रिकाण्डी वाक्यपदीया'** न लिखकर **त्रिपदी** विशेषण दिया है अर्थात् तीन पदों से व्यवहार की जाने वाली त्रिकाण्डी। इन तीनों पदों में आद्यन्त दो काण्ड ब्रह्म और प्रकीर्ण पदों से प्रसिद्ध हैं। मध्य काण्ड की कोई साक्षात् संज्ञा प्रसिद्ध नहीं है। वह संज्ञा 'वाक्यपदीय' ही हो सकती है। इसी दृष्टि से त्रिपदी विशेषण सार्थक हो सकता है अन्यथा कथमपि सम्बद्ध नहीं होगा। इस दृष्टि से देहली-दीपक-न्याय से मध्य पठित वाक्यपदीय नामक काण्ड से आद्यन्त काण्डों का भी व्यवहार लोक में होता है।

वाक्यपदीय का एक नाम **वाक्यप्रदीप** भी था। ऐसा बूहलर ने मनुस्मृति के मेधातिथि भाष्य की भूमिका में लिखा है।

वाक्यपदीय ग्रन्थ के रचयिता आचार्य भर्तृहरि ने प्रकरणानुरोध से प्राचीन आचार्यों की भी कतिपय कारिकाएँ अपने ग्रन्थ में संग्रहीत कर दी हैं। वे भर्तृहरि विरचित नहीं है।

वाक्यपदीय का जो पाठ सम्प्रति उपलब्ध होता है, उसमें कुछ ग्रन्थ नष्ट हो गया है। भर्तृहरि के देशकाल आदि के विषय में देखिए—ग्यारहवाँ अध्याय का आरम्भ भाग।

वाक्यपदीय के व्याख्याता

भर्तृहरि

भर्तृहरि ने स्वयम् अपने ग्रन्थ पर विस्तृत स्वोपज्ञ व्याख्या लिखी है। हेलाराज के वचन से प्रतीत होता है कि उसके समय में दो काण्डों पर स्वोपज्ञ वृत्ति उपलब्ध थी। सम्प्रति प्रथम काण्ड पर यह वृत्ति पूर्ण उपलब्ध है और द्वितीय काण्ड की बीच-बीच में त्रुटित है। भर्तृहरि की स्वोपज्ञ व्याख्या तीनों काण्डों पर अवश्य रही होगी किन्तु सम्प्रति इतनी ही उपलब्ध है।

भर्तृहरि की स्वोपज्ञा वृत्ति का एक लघु पाठ काशी संस्करण में मुद्रित हुआ है जो लध्वी वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इसका रचयिता भर्तृहरि से भिन्न व्यक्ति है।

भर्तृहरि की स्वोपज्ञ वृत्ति की अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएँ लिखी थीं। ऐसा स्वोपज्ञ वृत्ति के व्याख्याता वृषभदेव के वचन से विदित होता है।

वृषभदेव

वृषभदेव ने अपनी टीका के आरम्भ में जो श्लोक लिखे हैं उनसे केवल इतना ज्ञात होता है कि वृषभदेव विमलचरितवाले विष्णुगुप्त राजा के आश्रित श्रीदेवयश का पुत्र था।

विष्णु गुप्त का काल अज्ञात होने से वृषभदेव का काल अज्ञात है।

धर्मपाल

चीनी यात्री इत्सिग के लेखानुसार भर्तहरि के तृतीय काण्ड पर धर्मपाल ने व्याख्या लिखी थी। धर्मपाल का काल इत्सिग की यात्रा से पूर्व विक्रम की आठवीं शती का प्रथम चरण अथवा उससे पूर्व रहा होगा।

पुण्यराज (११वीं शती वि०)

वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज ने एक व्याख्या लिखी है। यह काश्मीर का निवासी था। इसका दूसरा नाम राजानक शूरवर्मा था। भट्टशशाङ्कधर के शिष्य से इसने वाक्यपदीय का अध्ययन कर इस काण्ड पर वृत्ति लिखी। वासुदेव शास्त्री के मतानुसार वामनीय अलङ्कारशास्त्र पर टीका लिखने वाले शशाङ्कधर के शिष्य सहदेव पुण्यराज के गुरु थे। यह कल्पना उपपन्न हो सकती है। इस प्रकार पुण्यराज का काल वि० की ११वीं शती अथवा उससे कुछ पूर्व मानना चाहिए।

हेलाराज (११वीं शती वि०)

हेलाराज ने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर व्याख्या लिखी थी। परन्तु सम्प्रति केवल तृतीय काण्ड पर ही उपलब्ध होती है।

हेलाराज का जन्म काश्मीर के महाराज मुक्तापीड के मन्त्री लक्ष्मण के कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री भूतिराज में कितनी पीढ़ी का अन्तर था, यह अज्ञात है। अतः हेलाराज के काल के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता।

इसके अतिरिक्त फुल्लराज और गंगादास ने भी वाक्यपदीय पर टीका लिखी थी किन्तु इनकी टीका तृतीय काण्ड पर ही थी अथवा अन्यों पर थी, यह अज्ञात है।

मण्डनमिश्र (वि० सं० ६६५ से पूर्व)

मण्डनमिश्र ने 'स्फोटसिद्धि' नामक एक प्रौढ ग्रन्थ लिखा है। इसमें ३६ कारिकाएँ हैं। उन पर उसकी अपनी व्याख्या भी है।

मण्डनमिश्र अपने समय के महान् विद्वान थे। उनके गृहद्वार पर कीरांगनाएँ भी वेद के स्वतःप्रमाण पर विवाद करती थीं।

अद्वैत सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि शङ्कराचार्य से पराजित होकर अद्वैत वादी बनकर मण्डनमिश्र 'सुरेश्वराचार्य' नाम से प्रसिद्ध हुए। अनेक लेखकों ने भी सुरेश्वर को मण्डन मिश्र नाम से भी उद्धृत किया है।

काल—शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरस्वामी ने शतपथ व्याख्या में भट्टकुमारिल के शिष्य प्रभाकर के मतानुयायियों का निर्देश किया है। हरस्वामी का काल ३७४० कल्यब्द=वि० सं० ६६५ निश्चित है। हाँ, उसके

वचन की भिन्न व्याख्या करने पर ३७४० के स्थान पर ३०४७ कल्यब्द अर्थात् विक्रम संवत् के आरम्भ से २ वर्ष बाद काल बनता है। यदि इस द्वितीय कल्पना को न भी सत्य मानें तब भी इतना तो निश्चित है कि कुमारिल वि० सं० ६६५ से पूर्ववर्ती हैं। अतः उसके शिष्य मण्डन मिश्र का काल भी० सं० ६९५ से पूर्व है।

स्फोटसिद्धि का टीकाकार परमेश्वर

ऋषि के पुत्र परमेश्वर ने 'स्फोटसिद्धि' पर एक टीका लिखी है। टीकाकार ने उस टीका का नाम अपनी माता के नाम पर 'गोपालिका' रखा है। उस वंश में 'परमेश्वर' नामक अनेक व्यक्ति हो चुके हैं। टीकाकार द्वितीय 'परमेश्वर' है।

'स्फोटसिद्धि' के सम्पादक ने परमेश्वर का काल विक्रम की १६वीं शती माना है।

भरतमिश्र

भरतमिश्र ने भी एक 'स्फोटसिद्धि' ग्रन्थ लिखा है। यह त्रिवेद्रम् से सन् १६२७ ई० में प्रकाशित हो चुका है। भरतमिश्र ने अपने ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया है और न अन्य स्थान से इसके देश-काल आदि पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

भरत मिश्र की स्फोटसिद्धि में तीन परिच्छेद हैं—

१. प्रत्यक्ष परिच्छेद, २. अर्थ परिच्छेद, ३. आगम परिच्छेद।

इस ग्रन्थ में मूलकारिका भाग और उसकी व्याख्या दोनों ही भरतमिश्र प्रणीत हैं।

स्फोटसिद्धिन्यायविचार

महामहोपाध्याय गणपति शर्मा ने सन् १६१७ में त्रिवेद्रम् से स्फोटसिद्धि-न्यायविचार नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। कर्त्ता का नाम, देश-काल आदि अज्ञात है। इस ग्रन्थ में २४५ कारिकाएँ हैं। प्रथम कारिका इस प्रकार है—

'प्रणिपत्य गणाधीशं गिरां देवीं गुरूनपि।
मण्डनं भरतं चादिमुनित्रयमनुहरिम्॥'

इससे विदित होता है कि इस ग्रन्थ का रचयिता, 'स्फोटसिद्धि' के कर्त्ता भरतमिश्र से उत्तरकालिक है।

स्फोट विषयक अन्य ग्रन्थकार

उक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त स्फोटविषयक निम्न ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं—

१. केशवकविकृत स्फोटप्रतिष्ठा। २. शेषकृष्णकविकृत स्फोटतत्त्व। ३. श्रीकृष्णभट्टकृत स्फोटचन्द्रिका। ४. आपदेवकृत स्फोटनिरूपण। ५. कुन्दभट्टकृत स्फोटवाद।

वैयाकरण भूषण

मूल लेखक-भट्टोजि दीक्षित, व्याख्याकार-कौण्डभट्ट

सम्प्रति पाणिनीय वैयाकरणों में **वैयाकरण भूषणसार** नामक एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के नाम के अन्त में सार शब्द से ही स्पष्ट है कि यह किसी बृहद् ग्रन्थ का संक्षेप है, उसका नाम है—वैयाकरण भूषण।

वैयाकरण भूषण का मूल ग्रन्थ कारिकात्मक है। आरम्भ में लिखा है—

'फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेण कथ्यते ॥'

इससे स्पष्ट विदित होता है कि इस कारिका ग्रन्थ का लेखक भट्टोजि दीक्षित है और इसकी रचना शब्द कौस्तुभ के बाद हुई है।

कारिका का व्याख्याता—भट्टोजि दीक्षित की कारिकाओं पर कौण्डभट्ट ने व्याख्या लिखी है। इसका नाम है—**वैयाकरण भूषण।**

कौण्डभट्ट का परिचय—वैयाकरण भूषण के आदि में कौण्डभट्ट ने अपना जो परिचय दिया है उसके अनुसार कौण्डभट्ट के पिता का नाम रङ्गोजि भट्ट था। वह भट्टोजि दीक्षित का लघु भ्राता था। कौण्डभट्ट ने शेषकृष्ण तनय शेष रामेश्वर अपर नाम सर्वेश्वर से विद्याध्ययन किया था। भूषण सार के अन्त में लिखा है—

'अशेषफलदातारमपि सर्वेश्वरं गुरून्।
श्रीमद्भूषणसारेण भूषये शेषभूषणम्।'

कौण्डभट्ट सारस्वत कुलोत्पन्न काशी निवासी था।

काल—गुरु प्रसाद शास्त्री ने स्वसम्पादित भूषणसार के आदि में इस ग्रन्थ का लेखन काल सं० १६६० वि० लिखा है। तदनुसार कौण्डभट्ट का काल वि० सं० १६००–१६७५ के मध्य रहा होगा।

वैयाकरण भूषण सार के व्याख्याता

अनेक वैयाकरणों ने भूषण सार पर टीका ग्रन्थ लिखा है। उनमें निम्न-लिखित टीकाकार और टीकाएँ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं:—

१. हरिवल्लभ कृत 'दर्पण' व्याख्या। २. हरिभट्ट कृत 'दर्पण' व्याख्या। ३. मन्नुदेव कृत 'कान्ति' व्याख्या। ४. भैरवमिश्रकृत 'परीक्षा' व्याख्या। ५. रुद्रनाथ कृत 'विवृत्ति' टीका। ६. कृष्णमित्र कृत 'रत्नप्रभा' वृत्ति।

नागेश भट्ट : वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा

नागेश भट्ट ने वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जुषा नामक एक अत्यन्त प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ लिखा है। (नागेशभट्ट के परिचय के लिए देखिए—बारहवाँ अध्याय)

इस ग्रन्थ की रचना नागेश भट्ट ने 'महाभाष्य प्रदीपोद्योत' और 'परिभाषेन्दुशेखर' से पूर्व की थी।

मञ्जूषा के अन्य दो पाठ—मञ्जूषा के बृहत् पाठ के अनन्तर नागेश भट्ट ने 'लघुमञ्जूषा' और उसके बाद **'परमलघुमञ्जूषा'** की रचना की।

टीकाकार

'दुर्बलाचार्य—वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा पर दुर्बलाचार्य कृत 'कुंजिका' नाम्नी टीका प्रकाशित है। इस टीकाकार के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है।

वैद्यनाथ—वैद्यनाथ पायगुण्ड ने 'वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा' पर **'कला'** नाम्नी टीका लिखी है। यह टीका बालम्भट्ट के नाम प्रसिद्ध है। इस टीका के आरम्भ में—

'पायगुण्डो वैद्यनाथ भट्ट, कुर्वे स्वबुद्धये।

स्पष्ट निर्देश होने से बालभट्ट, वैद्यनाथ का ही नामान्तर प्रतीत होता है। वैद्यनाथ पायगुण्ड नागेश भट्ट के प्रमुख शिष्य थे। इनका काल सं० १७५०—१६२५ वि० है।

ब्रह्मदेव और वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा

वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा का एक हस्त लेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ३, खण्ड १ A पृष्ठ २७०४ संख्या १६४७ पर निर्दिष्ट है। उसके रचयिता का नाम ब्रह्मदेव लिखा है।

यदि सूची पत्र कार का लेख ठीक हो तो वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा नाम के दो ग्रंथ मानने होंगे। एक नागेश कृत, दूसरा ब्रह्मदेव कृत।

मूल हस्तलेख को देखने से ही शुद्ध निर्णय हो सकता है।

जगदीश तर्कालङ्कार (सं० १७१० वि०)

जगदीश तर्कालङ्कार भट्टाचार्य ने शब्द शक्ति प्रकाशिका नामक एक प्रौढ़-ग्रंथ लिखा है। यह न्याय शास्त्र का प्रधानतया ग्रंथ होने पर भी वैयाकरण सिद्धान्त के साथ विशेष सम्बन्ध रखता है।

परिचय—जगदीश तर्कालङ्कार के पितामह का नाम सनातन मिश्र और पिता का यादव चन्द्र विद्यावागीश था। सनातन मिश्र चैतन्य महाप्रभु के श्वशुर थे। जगदीश के चार भाई और थे। ये उनमें तृतीय थे।

जगदीशतर्कालङ्कार के न्यायशास्त्र के गुरु भवानन्द सिद्धान्त वागीश थे।

'शब्दशक्ति प्रकाशिका' की रचना १७१० वि० में हुई है। न्याय के अन्य ग्रंथ भी इन्होंने लिखे हैं।

व्याख्याकार

कृष्णकान्त विद्यावागीश ने शक सं० १७२३ (वि० सं० १८५८) में 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' पर एक विस्तृत टीका लिखी। कृष्णकान्त के गुरु नवद्वीपनिवासी रामनारायण तर्कपञ्चानन नामक वैदिक विद्वान थे।

रामभद्र सिद्धान्तवागीश ने 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' पर 'सुबोधिनी' नाम्नी एक लघु टीका लिखी है। इनका काल अज्ञात है। परन्तु तुलना करने पर विदित होता है कि रामभद्र की टीका, कृष्णकान्त की टीका से प्राचीन है।

तीसवाँ अध्याय

लक्ष्यप्रधान काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि

काव्यशास्त्र—जो ग्रन्थ काव्य होता हुआ किसी विशेष विषय का शासन करता है, वह **काव्यशास्त्र** कहाता है।

क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्त-तिलक' नामक ग्रन्थ के तृतीय विन्यास के आरम्भ में लिखा है—

'शास्त्रं, काव्यं, शास्त्रकाव्यं, काव्यशास्त्रं च भेदतः।
चतुष्प्रकारः प्रसरः सतां सारस्वतो मतः ॥२॥
शास्त्रं काव्यविदः प्राहुः सर्वकाव्याङ्गलक्षणम्।
काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलङ्कृतिः ॥३॥
शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायं सर्वोपदेशकृत्।
भट्टिभौमकाव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते ॥४॥

अर्थात् सारस्वतप्रसार शास्त्र, काव्य, शास्त्र काव्य और काव्यशास्त्र के भेद से चार प्रकार का होता है। काव्यविद् आचार्य सब प्रकार के काव्य-काव्याङ्गों के लक्षण बोधक ग्रन्थों को शास्त्र कहते हैं। विशिष्ट शब्द और अर्थ से युक्त उत्तम अलंकृत ग्रंथ को काव्य कहते हैं। चारों वर्गों का उपदेश देने वाला ग्रंथ शास्त्र काव्य कहाता है। और भट्टि भौमक (रावणार्जुनीय काव्य) आदि काव्य **काव्यशास्त्र** कहाते हैं।

साहित्य-ग्रन्थों में अनेक ऐसे काव्य हैं जो व्याकरणशास्त्र का बोधकराने के उद्देश्य से लिखे गये हैं। यद्यपि ऐसे ग्रन्थों के लिए **काव्यशास्त्र** पद रूढ है, फिर भी इस शब्द की उक्त अर्थ में प्रसिद्धि न होने से स्पष्टार्थ **लक्ष्य-प्रधान काव्य** का व्यवहार इस प्रकरण में किया गया है, अथवा किया जायगा।

लक्ष्यप्रधान काव्यों की रचना का प्रयोजन—व्याकरण शब्द के अर्थ-विचार के प्रसङ्ग में कात्यायन प्रोक्त वार्तिक '**लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्**' की व्याख्या में पतञ्जलि ने कहा है कि लक्ष्य और लक्षण मिलकर व्याकरण कहाता है। लक्ष्य शब्द है और लक्षण सूत्र।

वि आङ्पूर्वक कृ धातु से करण में ल्युट् होने पर--

'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्' व्युत्पत्ति के अनुसार व्याकरण-शब्द का अर्थ लक्षण=सूत्र होता है। परन्तु कर्म में ल्युट् प्रत्यय होने पर—

'व्याक्रियते यत् तत् व्याकरणम्'। व्युत्पत्ति के अनुसार व्याकरण शब्द का अर्थ लक्ष्य अर्थात् शब्द होता है।

पतञ्जलि ने स्पष्ट कहा है कि 'शब्द को व्याकरण मानने पर ल्युट् का अर्थ उपपन्न नहीं होता'-ऐसा जो कहा जाता है, यह दोष नहीं हैं। आवश्यक रूप से करण और अधिकरण में ही ल्युट् का विधान किया है, 'कृत्यल्युटो बहुलुम्' सूत्र से अन्य कारकों में भी कृत्य और ल्युट् बहु॰ करके होते हैं। जैसे—प्रस्कन्दनम्, प्रपतनम्। (यहाँ अपादान में ल्युट् देखा जाता है।)

इससे स्पस्ट है कि व्याकरण शब्द का क्षेत्र लक्ष्य और लक्षण दोनों तक अभिव्याप्त है। इसी व्यापक अर्थ को दृष्टि में रखकर अनेक व्याकरण प्रवक्ताओं ने जहाँ लक्षणग्रन्थों का प्रवचन किया, वहाँ उन लक्षणों की चरितार्थता दर्शाने के लिए उनके लक्ष्यभूत शब्दों को संगृहीत करके लक्ष्यरूप काव्यग्रन्थों की भी सृष्टि की।

लक्ष्यप्रधान काव्यों की रचना कब से प्रारम्भ हुई, इस विषय में इतिहास मौन है। फिर भी इतना हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि लक्ष्यप्रधान काव्यों की रचना महाभाष्य से पूर्व हो चुकी थी। महाभाष्य (अष्टा० १।१।५६) में किसी लक्ष्यप्रधान काव्य का एक सुन्दर श्लोक उद्धृत है—

स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततःश्वभूते शातनीं पातनीं च।
नेतारावागच्छतां धारणिं रावणिं च ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते च॥

कुछ ऐसे भी वैयाकरण हैं जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों का तो स्वतन्त्र प्रवचन नहीं किया, परन्तु पूर्व प्रसिद्ध लक्षणग्रंथों को दृष्टि में रखते हुए केवल लक्ष्य-रूप काव्यग्रन्थों की ही रचना की। यहाँ दोनों प्रकार के वैयाकरणों द्वारा सृष्ट काव्यग्रन्थों की चर्चा करेंगे।

पाणिनि (२८०० वि० पू०)

प्राचीन वैयाकरणों में पाणिनि ही ऐसे वैयाकरण हैं जो वैयाकरणनिकाय में और काव्यवाङ्मय के इतिहास में महान् काव्यस्रष्टा के रूप में भी प्रसिद्ध हैं।

पाणिनि के काव्य का नाम **जाम्बवतीविजय** अपर नाम पातालविजय है। इस महाकाव्य में श्रीकृष्ण के पाताल लोक में जाकर जाम्बवती के विजय और परिणय की कथा का वर्णन है।

पाश्चात्य मत और उसका खण्डन—डॉ० पीटर्सन आदि पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी डॉ० भण्डारकर आदि कतिपय भारतीय विद्वान् जाम्बवतीविजय के उपलब्ध उद्धरणों को लालित्यपूर्ण सरसरचना देखकर और क्वचित् व्याकरण के उत्सर्ग नियमों का उल्लङ्घन देखकर कहते हैं कि यह काव्य शुष्क वैयाकरण पाणिनि की कृति नहीं।

वस्तुतः भारतीय इतिहास के सत्य प्रकाश में उक्त कल्पना सर्वथा मिथ्या होने से हेय है। पाश्चात्य विद्वानों ने ग्रन्थ निर्माण में मन्त्रकाल, ब्राह्मण-काल, सूत्र काल आदि की मिथ्या कल्पना की हैं। वे समझते हैं कि पाणिनि सूत्रकाल का व्यक्ति है। उसके समय बहु विध छन्दो गुम्फित सरस अलङ्कृत ग्रन्थ की रचना नहीं हो सकती। उस समय सरस काव्य निर्माण का प्रारम्भ नहीं हुआ था। ऐसे ग्रंथों का समय सूत्र काल के बहुत अनन्तर है।

भारतीय वाङ्मय में पाश्चात्य रीति पर किये काल विभाग की कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती। जिन ऋषियों ने मन्त्र और ब्राह्मणों का प्रवचन किया था, उन्होंने ही धर्मसूत्र, आयुर्वेद, व्याकरण, रामायण और महाभारत जैसे सरस एवं अलङ्कृत महाकाव्यों की रचनाएँ कीं। विषय और रचना भेद होना अत्यन्त स्वाभाविक है। हर्ष ने जहाँ खण्डन खाद्य जैसे नव्य न्याय-गुम्फित कर्णकटु ग्रन्थ की रचना की, वहाँ नैषध जैसे सरस मधुर महाकाव्य भी बनाया। क्या दोनों में भाषा का अत्यन्त पार्थक्य होने से ये दोनों ग्रन्थ एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं?

पाश्चात्य विद्वान् ब्राह्मण काल को सबसे प्राचीन मानते हैं। क्या उनकी रचना छन्दो बद्ध, सरस और अलङ्कृत नहीं है? क्या ब्राह्मण ग्रन्थों में रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि जैसी भाषा और तादृश छन्दों में रची यज्ञगाथाएँ नहीं पढ़ी हैं? भारतीय इतिहास के अनुसार कृष्ण द्वैपायन व्यास वैदिक शाखाओं के प्रवक्ता, ब्रह्मसूत्रों के रचयिता और महाभारत जैसे बहुनीति गुम्फित सरस, अलङ्कृत ऐतिहासिक महाकाव्य के निर्माता हैं। इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह का अवसर नहीं। भारतीय इतिहास के अनुसार रामायण जैसे महाकाव्य का रचना काल वर्तमान शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के संकलन से बहुत प्राचीन है।

पाणिनि के काल में विविध लौकिक छन्दों का सद्भाव—महामुनि पिङ्गल पाणिनि का अनुज है, यह भारतीय इतिहास में सर्वलोक प्रसिद्ध बात है। पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्र में विविध प्रकार के लौकिक छन्दों के अनेक भेद-प्रभेदों का विस्तार से उल्लेख किया है। इस लिए पाणिनीय काव्य में अनेक प्रकार की छन्दोरचना का उपलब्ध होना स्वाभाविक हैं।

इतना ही नहीं, पाणिनि से पूर्व विविध प्रकार के चित्रकाव्य भी पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुके थे। पाणिनि के **संज्ञायाम्** (२।४।४२) सूत्र की वृत्ति में काशिकाकार ने **क्रौञ्चबन्धं बध्नाति, मयूरिकाबन्धं बध्नाति** उदाहरण देकर स्पष्ट लिखा है—'बन्ध विशेषाणां नामान्येति'। इसी प्रकार **बन्धे च विभाषा** (६।३।१३) सूत्र पर काशिका का उदाहरण है—**हस्ते बन्धः, हस्तबन्धः। चक्रे** बन्धः, चक्रबन्धः। इसी सूत्र की वृत्ति में प्रत्युदाहरण दिया है—

'हलन्तादित्येव—गुप्तिबन्धः।'

इससे स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व काल में चित्रकाव्य-रूप बन्धविशेषों का प्रचुर व्यवहार होने लग गया।

अब जाम्ववतीविजय के **गृह्य** आदि ऐसे प्रयोगों का प्रश्न रह जाता है जो पाणिनि के लक्षणों से साक्षात् उपपन्न नहीं होते। इसका उत्तर यह है कि पाणिनि प्रोक्त शब्दानुशासन अत्यन्त संक्षिप्त है। उसमें प्रायः उत्सर्ग सूत्रों के अल्प प्रयुक्त शब्दविषयक अपवाद सूत्रों का विधान नहीं किया है। यदि पाणिनि के उत्सर्ग नियमों से साक्षात् असिद्ध शब्दों के प्रयोग के आधार पर ही जाम्ववती विजय को अपाणिनीय कहा जाय तो क्या उसके अपने व्याकरण शास्त्र में सूत्रों से साक्षात् असिद्ध लगभग १०० प्रयोगों की उपलब्धि होने से अष्टाध्यायी को भी अपाणिनीय नहीं कहा जा सकता ?

वैयाकरण पाणिनि ही जाम्बवती विजय का रचयिता है, इसमें निम्नग्रंथ कारों के वचन भी प्रमाण हैं—

१—राजशेखर (सं० ९५०) ने पाणिनि की प्रशंसा में लिखा है—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनुजाम्बवती विजयम्॥'

२—श्रीधरदास कृत 'सदुक्ति कर्णामृत' (सं० १२०० वि०) में सुबन्धु आदि कवियों के साथ दाक्षी पुत्र (पाणिनि) का भी नाम लिखा है—

'सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते,
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिश्चन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ॥'

क्षेमेन्द्र (वि० १२ वीं शताब्दी) ने 'सुवृत्ततिलक' में पाणिनि के उप-जाति छन्द की अत्यन्त प्रशंसा की है—

'स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ॥'

४—महाराज समुद्र गुप्त ने 'कृष्णचरित्र' में लिखा है—

'न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्म दक्षः ॥'

५. महामुनि पतञ्जलि ने (१।४।५१) के महाभाष्य में पाणिनि को कवि कहा है।

६. पुरुषोत्तमदेव 'भाषावृत्ति' में पाणिनीयसूत्र (२।४।७४) की व्याख्या की पुष्टि में जाम्बवती विजय काव्य को पाणिनीय मानकर उद्धृत करता है—

'इति पाणिनेर्जाम्बवतीविजयकाव्यम्।'

७. शरणदेव ने 'दुर्घटवृत्ति' में बहुत्र जाम्बवतीविजय को सूत्रकार पाणिनि का काव्य मानकर प्रमाणरूप से उद्धृत किया है।

जाम्बवतीविजय का परिमाण—जाम्बवतीविजय इस समय अनुपलब्ध है। अतः उसके विषय में विशेष लिखना असम्भव है। दुर्घटवृत्तिकार शरण-देव ने दुर्घटवृत्ति (४।३।२३) में एक श्लोक उद्धृत करते हुए उमें जाम्बवती-विजय के १८ वें सर्ग का निर्दिष्ट किया है। उससे विदित होता है कि जाम्बवतीविजय में कम से कम १८ सर्ग अवश्य थे।

'जाम्बवतीविजय' के महत्त्व का पूर्ण ज्ञान इससे भी होता है कि अभी तक २८ ग्रन्थों में इसके उद्धरण उपलब्ध हो चुके हैं। प्रयत्न करने पर इसके और भी उद्धरण हस्तलिखित ग्रन्थों में ढूंढे जा सकते हैं।

व्याडि (२९०० वि० पू०)

महामुनि व्याडि अभी तक व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार के रूप में प्रसिद्ध थे। परन्तु महाराज समुद्रगुप्त के कृष्णचरित के कुछ अंश के उपलब्ध

शास्त्र रूप थे, यह कहना अत्यन्त कठिन है। महाभाष्य में विभिन्न स्थलों पर उद्धृत, लक्ष्यप्रधान काव्यशास्त्र के प्रतीयमान अंशभूत वचनों से इतना अवश्य स्पष्ट है कि कतिपय लक्ष्यप्रधान काव्यशास्त्रों की रचना महाभाष्य से पूर्व अवश्य हो चुकी थी।

भट्टभूम (सं० ६०० वि० के लगभग)

भट्टभूम अथवा भूमक अथवा भीम विरचित **रावणार्जुनीय** अथवा **अर्जुन-रावणीय** नामक एक लक्ष्यप्रधान काव्य उपलब्ध है।

परिचय—भट्टभूम ने अपना कोई परिचय ग्रन्थ में नहीं दिया है। मुद्रित **रावणार्जुनीय** के अन्त में उपलब्ध पुष्पिका से इतना ही ज्ञात होता है कि भट्टभूम काश्मीरी थे। इनका निवास स्थान वल्लभी था, जो बराहमूल (बारामूला) के समीपवर्ती उडु ग्राम है।

भट्टभूम का समय

सीताराम जयराम जोशी ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृष्ठ १४२ पर लिखा है—

"काशिकावृत्ति तथा क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक में इस काव्य का निर्देश मिलता है। यह कवि प्रवरसेन (ई० ५५०–६००) और ई० ६६० से पूर्व था।"

वी० वरदाचार्य ने भी रावणार्जुनीय काव्य का निर्देश काशिकावृत्ति में माना है। और भौमक के रावणार्जुनीय काव्य का प्रभाव भट्टिकाव्य पर स्वीकार करके इसका काल पांचवीं शती के लगभग स्वीकार किया है।

किन्तु काशिकावृत्ति में इस काव्य का निर्देश बहुत ढूंढ़ने पर भी नहीं मिला। पता नहीं, दोनों ग्रन्थकारों ने काशिका में कहीं संकेत उपलब्ध करके लिखा है या किसी अन्य ग्रन्थ का अन्धानुकरण किया है। हाँ, क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक में भट्टि के साथ ही भौमक काव्य (रावणार्जुनीय) का साक्षात् उल्लेख किया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि भट्टभूम वि० सं० १०६० से पूर्ववर्ती अवश्य है।

भट्टि और रावणार्जुनीय का पौर्वापर्य—भट्टि और रावणार्जुनीय दोनों काव्यों में कौन पूर्ववर्ती है और कौन उत्तरवर्ती, यह अन्तः परीक्षा के आधार पर सर्वथा असम्भव है। क्षेमेन्द्र के **'भट्टिभौमककाव्यादि'** निर्देश में भट्टि का पूर्वनिर्देश पूर्वकालता के कारण है अथवा समास के अल्पाच्चरूप पूर्वनिपात

के नियम के कारण, यह कहना भी अतिकठिन है। हाँ, दोनों काव्यग्रन्थों में एक मौलिक अन्तर है। भट्टिकाव्य में व्याकरण के प्रकरण-विशेषों को ध्यान में रखकर विशिष्ट पदावली का संग्रथन है किन्तु रावणार्जुनीय में अष्टाध्यायी के सूत्र-पाठ क्रम से निर्दिष्ट विशिष्ट सूत्रोदाहरणों का संकलन है। इस दृष्टि से भूमक भट्टि से पूर्ववर्ती है और वी० वरदाचार्य का मत इस विषय में अधिक ठीक है।

भट्टभूम की ऐतिहासिक भूल--भट्टभूम ने अष्टायाध्यायी २।४।३ के प्रसङ्ग में महाभाष्य में उद्धृत किसी प्राचीन काव्यशास्त्र के दो चरणों का समावेश अपने इस ग्रन्थ में भी कर दिया है—

'उदगात् कठकालापं प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।
येषां यज्ञे द्विजातीनां तद्विधातिभिरन्वितम् ॥' ७।४ ॥

परन्तु यह सन्निवेश ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण है। कठ-कलाप-कौथुम आदि चरणों का प्रवचन द्वापर के अन्त में वेदव्यास और उनके शिष्यों ने किया था। कार्तवीर्य अर्जुन का समय इससे बहुत पूर्ववर्ती है।

ग्रन्थ नाम का कारण--इस काव्य में कार्त्तवीर्य अर्जुन और रावण के युद्ध का वर्णन है। इस लिए 'रावणार्जुनौ, अर्जुनरावणौ वा अधिकृत्य कृतं काव्यम्' ऐसा विग्रह कर **रावणार्जुन** अथवा **अर्जुनरावण** द्वन्द्व समास से **'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः'** (पाणिनीय ४।३।८८) सूत्र से छ (=ईय) प्रत्यय होकर 'रावणर्जुनीयम्' वा अर्जुनरावणीयम्' पद निष्पन्न होता है।

काव्य-परिचय—भट्टभूम ने इस काव्य में पाणिनीय अष्टाध्यायी के स्वर वैदिक विषयकसूत्रों को छोड़ कर पाणिनि सूत्रनिर्दिष्ट विशिष्ट प्रयोगों के निदर्शन कराने का प्रयत्न किया है। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय का प्रथम पाद संज्ञा परिभाषात्मक है अतः ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का आरम्भ अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र से किया है।

टीकाकार वासुदेव

वासुदेव नामक विद्वान् ने रावणार्जुनीय काव्य पर एक टीका लिखी है। इस टीका का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है।

नारायण कवि के धातु काव्य पर रामपाणि पाद कृत टीका में इस वासुदेव का स्मरण किया गया है अतः वासुदेव सं० १६५० वि० से तो पूर्ववर्ती अवश्य है।

भट्टिकाव्य

भट्टिनामक महाकाव्य, साहित्य तथा व्याकरण दोनों वाङ्मय में समान महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। लक्षण ग्रन्थों के अध्ययन से घबराने वाले संस्कृत के अध्ययनार्थी चिरकाल से भट्टिकाव्य के आश्रय से संस्कृत का अध्ययन करते रहे हैं। भट्टिकाव्य पर विविध व्याकरण शास्त्रों की दृष्टि से बहुविध टीका ग्रंथ लिखे गये हैं। उनसे यह स्पष्ट है कि इस काव्य का संस्कृत शिक्षण की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत में व्यापक प्रचार रहा है। इस दृष्टि से काव्य-शास्त्रों में भट्टिकाव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भट्टिकाव्य के रचयिता का नाम

भट्टिकाव्य के रचयिता का वास्तविक नाम क्या है, इस विषय में मत भेद है। जटीश्वर जयदेव जयमंगल इन तीन नामों से व्यवहृत होने वाले जयमंगला टीका के रचयिता ने अपनी टीका के आरम्भ और अन्त में भट्टि काव्य के रचयिता का नाम भट्टि, उसके पिता का नाम श्री स्वामी लिखा है।

अन्य प्रायः सभी टीकाकार यथा—भर्तृहरि काव्यदीपिकाकर्ता जय-मंगल (उक्त जयमंगल से भिन्न), कन्दर्प शर्मा, भट्टि चन्द्रिका कर्ता विद्या विनोद, व्याख्यासारकर्ता, भट्टिबोधिनीकार हरिहर, मल्लिनाथ आदि एक स्वर से भट्टिकाव्य के रचयिता का नाम 'भर्तृहरि' मानते हैं। टीकाकारों के अतिरिक्त कतिपय अन्य ग्रंथकारों ने भी भट्टिकाव्य को भर्तृहरि के नाम से उद्धृत किया है।

नाम निर्णय—वस्तुतः दोनो नामों में कोई भेद नहीं है। भट्टि यह नाम भर्तृहरि के एक देश भर्तृ का ही प्राकृत रूप है। अन्य भर्तृहरि नाम के लेखकों से व्यावृत्ति के लिए इस भर्तृहरि के लिए भर्तृ शब्द के प्राकृत भट्टि रूप का व्यवहार किया है।

अनेक भर्तृहरि—महाकवि कालिदास के समान भर्तृहरि नाम के भी अनेक विद्वान् हो चुके हैं। एक भर्तृहरि वाक्यपदीय और महाभाष्य-दीपिका ग्रन्थ का रचयिता प्रधान वैयाकरण है। दूसरा—भट्टिकाव्य का कर्ता है। तीसरा भागवृत्ति का लेखक है। इन तीनों के नाम सादृश्य के कारण कहीं भ्रम न हो, इशके लिए अर्वाचीन वैयाकरणों ने अत्यधिक सावधानी बरती है। वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि के उद्धरण सर्वत्र हरि अथवा भर्तृहरि के नाम से दिये हैं। भट्टिकाव्य के उद्धरण प्रायः सर्वत्र भट्टि नाम से दिये

हैं। भागवृत्ति के उद्धरण सर्वत्र भागवृत्ति, भागवृत्तिकृत् अथवा भागवृत्तिकार नाम से उल्लिखित किये गये हैं। इस प्रकार उनके उद्धरणों में कहीं भी ग्रन्थकारों ने साङ्कर्य नहीं होने दिया है।

परिचय—प्रसिद्ध जयमङ्गला टीका में भट्टि के पिता का नाम श्रीस्वामी लिखा है, परन्तु भट्टिचन्द्रिका में श्रीधर स्वामी नाम मिलता है। श्रीधर स्वामी नाम अधिक युक्त प्रतीत होता है। सम्भवतः श्रीस्वामी, श्रीधर स्वामी का एक देश है।

भट्टिकाव्य के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि भट्टिकार गुजरात के बलभी नगरी का निवासी था।

काल—भट्टिकार ने अन्तिम श्लोक में लिखा है—

'काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्'।

वलभी में श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुए हैं। उनका काल वि० सं० ५५० से ७०५ तक है। इसमें किस श्रीधरसेन के काल में भट्टिकाव्य लिखा गया, यह कहना कठिन है। '**संस्कृत कविदर्शन**' के लेखक डॉ० भोलाशङ्कर व्यास भट्टिकाव्य की रचना द्वितीय श्रीधरसेन के काल में मानते हैं (पृष्ठ १४३) परन्तु अन्त में समय ६१० ई०—६१५ ई० (६६७ वि०—६७२ वि०) लिखा है। यह काल, गणना के अनुसार तृतीय श्रीधरसेन का है। द्वितीय श्रीधरसेन का काल तो ५७१ ई०—५८६ ई० (वि० ६२८—६४६) है अतः भोलाशङ्कर व्यास द्वारा प्रमादवश तृतीय श्रीधरसेन के स्थान पर द्वितीय श्रीधरसेन लिखा गया है। इसलिए भट्टिकाव्य की रचना तृतीय श्रीधर सेन (६६७ वि०—६७२ वि०) के राज्यकाल में हुई मानना चाहिए।

भट्टिकाव्य का नाम—भट्टिकाव्य का वास्तविक नाम रावण-वध काव्य है।

टीकाकार

भट्टिकाव्य पर अनेक व्याख्याकरों ने टीका ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें निम्न प्रसिद्ध हैं—

(१) जदीश्वर या जयदेव जयमङ्गल (सं० १२२९ वि० से पूर्व) की जयमङ्गला टीका।

(२) मल्लिनाथ (सं० १२६४ वि० से पूर्व) की व्याख्या।

(३) जयमङ्गल की दीपिका अथवा जयमङ्गला व्याख्या।

(४) अज्ञातकर्तृक व्याख्यासार ।

(५) रामचन्द्र शर्मा विरचित व्याख्यानन्द (सौपद्म व्याकरण के अनुसार विरचित) ।

(६) विद्याविनोद विरचित भट्टिचन्द्रिका ।

(७) कन्दर्पशर्मा की टीका (सौपद्म प्रक्रियानुसार रचित) ।

(८) पुण्डरीकाक्ष-विद्यासागर की कलाप दीपिका (कातन्त्र=कलाप व्याकरण के अनुसार विरचित) ।

(९) हरिहर कृत भट्टिबोधिनी ।

(१०) भरतसेन की मुग्धबोध-प्रक्रियानुसार विरचित टीका ।

हलायुध (सं० ९७५—१०५० वि०)

हलायुध ने **कविरहस्य** नामक एक लक्ष्यप्रधान काव्य लिखा है। इसमें धातुओं के रूपों का विशेषनिर्देश किया है।

परिचय--हलायुध, राष्ट्रकूट के तृतीय कृष्णराजा (सं० ९९७--१०१३ वि०) का सभा पण्डित था। हलायुध द्वारा विरचित पिङ्गलछन्दः-सूत्र की मृतसंजीवनी टीका में वाक्पतिराज मुञ्ज (सं० १०३१--१०५२ वि०) के प्रशंसापरक अनेक श्लोक उपलब्ध होते हैं अतः प्रतीत होता है कि हलायुध बाद में मुञ्ज के दरवार में भी बहुत समय तक रहा। अतः हलायुध का काल सामान्यतया सं० ९८५—१०५० वि० तक माना जा सकता है।

इस 'कविरहस्य' के कविगुह्य और अपशब्दाख्यकाव्य भी नामान्तर हैं। इस काव्य में २७४ श्लोक हैं। इस काव्य पर दो टीकाएँ उपलब्ध होती हैं।

हेमचन्द्राचार्य (सं० ११४५—१२२९ वि०)

हेमचन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण के संस्कृत और प्राकृत दोनों प्रकार के लक्षणों को लक्ष्यों के दर्शाने के लिए महाकाव्य लिखा है, इसका नाम है—**कुमारपालचरित।** इसके आरम्भ के २० सर्ग संस्कृत में हैं और अन्त के ८ सर्ग प्राकृत में, इस लिए इसे **द्वयाश्रय काव्य** भी कहते हैं। हेमचन्द्राचार्य के विषय में सत्रहवें अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है।

नारायण [ब्रह्मदत्त सूनु]

ब्रह्मदत्त के पुत्र नारायण कवि ने **सुभद्राहरण** नामक एक काव्यशास्त्र लिखा है। इस काव्य के दो हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में

विद्यमान हैं। द्वितीय हस्तलेल के प्रथमसर्ग के अन्त में पाठ है—'ब्रह्मदत्त (सूनु) नारायण विरचितं व्याकरणोदाहरणे सविवरणे सुभद्राहरणे प्रकीर्ण-

काण्डंप्र थम: सर्ग:·······।'

इस काव्य में १६ सर्ग हैं। अष्टाध्यायी के क्रम से सूत्रों के उदाहरणों को ध्यान में रखकर इस काव्य की रचना की गयी है अत: यह ग्रन्थ पाणिनीय सम्प्रदाय में पठन-पाठन में प्रक्रिया ग्रंथों के व्यवहार से पूर्व (१५वीं शती से पूर्व) का होगा।

पूर्व निर्दिष्ट वचन से स्पष्ट है कि ग्रंथकार स्वयम् इस पर 'विवरण' लिखा है।

वासुदेव कवि

वासुदेव नामक विद्वान् ने **वासुदेव चरित** अथवा **वासुदेव विजय** नामक एक काव्य लिखा है।

एक वासुदेव भट्टभूम विरचित रावणार्जुनीय काव्य का व्याख्याता है। दूसरा युधिष्ठिर-विजय काव्य का रचयिता है। इनके अतिरिक्त अन्य भी कतिपय वासुदेव नाम के कवि हो चुके हैं।

कीथ ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रंथ में 'वासुदेवविजय' और 'युधिष्ठिरविजय' के भिन्न भिन्न दोनों कवियों को नाम सादृश्य के कारण एक बना दिया हैं जबकि दोनों ग्रंथों की रचना शैली इतनी भिन्न भिन्न है कि दोनों कवियों को किसी प्रकार एक नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से 'संकृत्य साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के लेखक द्वय ने दोनों कवियों को काश्मीर वासी मानते हुए भी इनके पार्थक्य में जो कुछ लिखा है, वह सर्वथा ठीक है।

वासुदेव चरित—इस काव्य में छः सर्ग हैं। अन्त के तीन सर्गों को धातु काव्य भी कहा जाता है। यह निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित काव्यमाला में छप चुका है।

संस्कृत मेन्युस्क्रप्ट्स प्राइवेट लाइब्रेरी साउथ इण्डिया के सूची पत्र में नारेरी–वासुदेव विरचित धातु काव्य के दो हस्तलेख निर्दिष्ट हैं। यह नारेरी वासुदेव, उक्त वासुदेव से भिन्न है या अभिन्न, कुछ निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता।

नारायण कवि

नारायण कवि ने धातु पाठ के उदाहरणों को दृष्टि में रखकर धातुकाव्य की रचना की। अपाणिनीय प्रमाणता के सम्पादक ने नारायण भट्ट को ही धातुकाव्य का रचयिता भी माना है। यदि यह ठीक हो तो नारायण कवि का काल सं० १६१७–१७३३ वि० के मध्य होना चाहिए।

व्याख्याकार—रामपाणिपाद

इस काव्य का एक व्याख्या सहित हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। व्याख्याता का नाम रामपाणिपाद निर्दिष्ट है।

इति

संस्कृत व्याकरण का इतिहास (संक्षिप्त)

समाप्त।